उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

प्रथमखण्ड

१

लेखकः—

मोतीलालशर्म्मा-गौडः

जयपुरीयः

वैदिकविज्ञान सूर्य्य की पञ्चम-
किरण
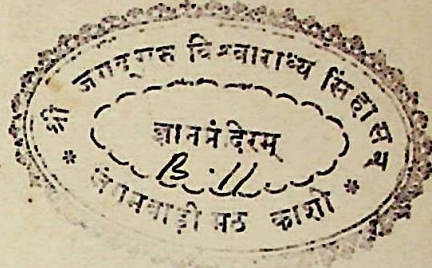
हिन्दी-उपनिषद्विज्ञानभाष्य-भूमिका

प्रथमखण्ड

१

भाष्यकार-

वद्वीथीपथिक—

मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाज (गौड़)

श्रीवैदिकविज्ञानपुस्तकप्रकाशनफण्डबम्बईद्वाराप्रकाशित

एवं

श्रीगौरीलालपाठकद्वारासम्पादित

मुद्रक—

श्रीबालचन्द्रइलेक्ट्रिकप्रेस किशनपोलबाजार जयपुर, सीटी, (राजपूताना)

प्रथमसंस्करण १०००	वि० सम्वत् १९९७	मूल्यसजिल्द ४) डाकव्यय पृथक्

प्रस्तावना

औपनिषद पुरुष के अनुग्रह से 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—प्रथमखण्ड' उपनिषत्-प्रेमियों की सेवामें उपस्थित हो रहा है। विधि, आरण्यक, उपनिषदात्मक वेद के ब्राह्मण भाग में उपनिषदों की निरुपणशैली, इन का भावगाम्भीर्य्य, शब्दसीमा, आदि के सम्बन्ध में यही कहना पर्य्याप्त होगा कि, ब्राह्मणवेद का विधिभाग जहां स्थूल कर्म्मकाण्ड' का निरूपण करता है, आरण्यकभाग सूक्ष्म उपासनाकाण्ड' का स्पष्टीकरण करता है वहां उपनिषद्-भाग सुसूक्ष्म 'ज्ञानकाण्ड' का विश्लेषण कर रहा है। कर्म्मकाण्ड का प्रधानतः गृहस्थ से सम्बन्ध है, उपासनाकाण्ड का प्रधानतः आरण्यक से सम्बन्ध है, एवं ज्ञानकाण्ड का प्रधानतः संन्यास से सम्बन्ध है। व्यवहारमार्गोपलक्षित गृहस्थाश्रम में शब्दप्रपञ्च की प्रधानता रहती है, पाञ्चभौतिक विषयों का संग्रह रहता है। अतएव तत्प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में शब्दप्रपञ्च का अतिविस्तार हुआ है। परमार्थमार्गोपलक्षित वानप्रस्थाश्रम में शब्दप्रपञ्च गौण बन जाता है, सगुणेश्वर के दिव्य भावों का (सगुणभावों का) संग्रह रहता है। अतएव तत्प्रतिपादक आरण्यक ग्रन्थों में ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा शब्दप्रपञ्च का अल्प विस्तार हुआ है। एवं निःश्रेयसमार्गोपलक्षित संन्यासाश्रम में शब्दप्रपञ्च आत्यन्तिकरूप से सीमित बन जाता है, निर्गुणब्रह्म के निर्गुणभावों की तन्मयता का अनुगमन रहता है। अतएव तत्प्रतिपादक उपनिषद् ग्रन्थों की भाषा सर्वापेक्षया अतिसंक्षिप्त है। थोड़े से शब्दों में अनन्त गुप्तभावों का जैसा स्पष्टीकरण उपनिषदों में हुआ है, उसे देखकर मानना पड़ता है कि, स्वयं उपनिषद्ग्रन्थ ही आत्मा की सजीव प्रतिमा हैं।

मन्त्र—ब्राह्मणात्मक वेद के अन्तिम भाग में प्रतिष्ठित होने से 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध यह उपनिषच्छास्त्र वेदान्तनिष्ठ महामहर्षियों की ऐसी ज्ञाननिधि है जिस के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से हमारा भूतात्मा शान्तप्रज्ञा (स्थिरप्रज्ञा) से युक्त विद्या बुद्धि के द्वारा देहस्थित परमात्मा की ओर अनुगत होता हुआ सांसारिक शोक, ताप, भय, मोह, अविद्यादि क्लेशों से विमुक्त होकर शान्त आनन्द का उपभोक्ता बन जाता है। जीवन के परमपुरुषार्थलक्षण शान्तानन्द (आत्मानन्द) की प्राप्ति का उपनिषत्–स्वाध्याय से अतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ मार्ग नहीं है।

जीवनमुक्ति का मूलसूत्र यह उपनिषच्छास्त्र जहां आत्मानन्दप्राप्ति का अन्यतम साधक बन रहा है इसके साथ साथ इसी शास्त्र से हमें समृद्धानन्द प्राप्ति के भी सुगम उपाय उपलब्ध होरहे हैं। ऐहलौकिक, आवश्यक विषयों का अनुगमन करते हुए हम इनकी आसक्ति से कैसे बचें ? इस प्रश्न का समाधान भी जैसा उपनिषच्छास्त्र ने किया है, वैसा अन्यत्र अनुपलब्ध है। और अपने इसी महत्त्व से यह शास्त्र तीनों आश्रमधर्म्मों का उपकारक बन रहा है। उपनिषच्छास्त्र को केवल आत्मशास्त्र मानते हुए इसे विशुद्ध पारलौकिक, निर्गुणभावों का उपोद्बलक मान लेना सर्वथा प्रौढिवाद है। यह ठीक है कि, समस्त उपनिषदों का तात्पर्य्य एकमात्र अद्वयब्रह्म की ओर ही है। परन्तु इसके साथ ही यह भी ठीक है कि, साधनरूप से उपनिषदों नें ब्रह्म के सगुणरूपों को ही अपना लक्ष्य बनाया है। सगुणविवर्त्तों के द्वारा जहां यह शास्त्र लोक-शान्ति का प्रवर्त्तक है, वहां निर्गुण लक्ष्य के द्वारा यह आत्मशान्ति का कारण बन रहा है। इसी हेतु से उपनिषच्छास्त्र हमारे व्यवहारकाण्ड का भी अन्यतम सहायक सिद्ध होरहा है। एवं इसी हेतु के स्पष्टीकरण के लिए उपनिषदों की व्याख्या उपनिषत्-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित की गई है।

'गतानुगतिको लोकः' न्याय का समादर करते हुए उपनिषद्व्याख्या लिखने से पहिले यह संकल्प हुआ कि, उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले समालोचनात्मक बाह्य विषयों पर कुछ लिखा जाय। इसी संकल्प की पूर्त्ति के लिए व्याख्येय उपनिषदों को लक्ष्य में रखते हुए 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' लिखी गई। इस भूमिका ग्रन्थ में उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी बाह्य विषयों के स्पष्टीकरण की चेष्टा की गई है। विषय-स्पष्टीकरण की दृष्टि से यह ग्रन्थ ८०० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ, अतएव इसे दो खण्डों में विभक्त करना सामयिक समझा गया। जिनमें से प्रथमखण्ड पाठकों के सम्मुख उपस्थित है, एवं द्वितीयखण्ड भी यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित होजायगा। इस प्रथमखण्ड में प्रधानरूप से निम्नलिखित विषयों का समावेश हुआ है—

१—आत्मनिवेदन

२—उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?

३—उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है ?

४—क्या उपनिषत् वेद है ?

उक्त चारों प्रतिपाद्य विषयों में चौथे— क्या उपनिषत् वेद है ?' इस विषय की पूर्त्ति भूमिका-द्वितीयखण्ड में हुई है। इस विषय के सम्बन्ध में प्रस्तुत खण्ड में दार्शनिक दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले मतवादों का, एवं आंशिकरूप से वैज्ञानिक दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले वेद के तात्त्विक स्वरूप का ही प्रतिपादन हुआ है। वेद के वैज्ञानिक स्वरूप के प्रतिपादन के साथ साथ भूमिका—द्वितीयखण्ड में निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ है—

४—वेदस्वरूपमीमांसा (प्रक्रान्त)।

५—उपनिषदों में क्या है ?

६—उपनिषद् हमें क्या सिखाती है ?

७—अधिकारी स्वरूप निरूपण।

८—ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों का पारस्परिक सम्बन्ध।

९—औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे ?

१०—श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि।

*—भूमिकोपसंहार

यद्यपि न्यायतः 'उपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रकाशन से पहिले भूमिका—प्रकाशन ही उचित था। परन्तु कई एक विशेष कारणों से ऐसा सम्भव न होसका। उपनिषद्विज्ञानभाष्यों में से खण्डद्वयात्मक, एवं सहस्रपृष्ठात्मक 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' "वैदिकविज्ञानपुस्तकप्रकाशन फण्ड—बम्बई' के द्वारा गतवर्ष प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत भूमिकाखण्ड की कृतज्ञता का पात्र भी बम्बई—फण्ड ही है। सम्भवतः भूमिका—द्वितीखण्ड भी बम्बई के शेष फण्ड से प्रकाशित हो जायगा, जिसका कि पूरा विवरण स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित किया जा चुका है।

इस के अतिरिक्त गतवर्ष में 'वैदिकविज्ञानप्रकाशनसमिति कलकत्ता' की ओर से गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के दो खण्ड और प्रकाशित हुए हैं। पहिला खण्ड 'बहिरङ्ग परीक्षात्मक' है, एवं इस में गीताकाल, नाम, संख्या, ऐतिहासिकसन्दर्भ, आदि बाह्यविषयों की मीमांसा हुई है। दूसरा खण्ड 'अन्तरङ्गपरीक्षात्मक' है, एवं इस में दार्शनिक, तथा

वैज्ञानिकदृष्टि से 'आत्मपरीक्षा' हुई है। तीसरा खण्ड कलकत्ते में ही एक सम्पन्न श्रेष्ठि-महोदय के सहयोग से प्रकाशित हो रहा है। इस तृतीय खण्ड में 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा'--'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक दो विषयों का समावेश हुआ है। यह ग्रन्थ सम्भवतः ८०० पृष्ठों में पूर्ण होगा। और जैसा हमारा अपना विश्वास है, अब तक जितने भी प्रकाशन हुए हैं, उन सब की अपेक्षा प्रकाशन की दृष्टि से भी, एवं उपयोगिता की दृष्टि से भी यह गीताभूमिका-खण्ड अपना एक विशेष स्थान रक्खेगा, जो कि सम्भवतः फाल्गुनमास तक गीताप्रेमियों की सेवामें उपस्थित हो जायगा। अबतक के प्रकाशन कार्य्य का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है जिस की कि प्रवृत्ति अबतक 'मधुकरवृत्ति' से ही हुई है।

जिस प्रभूत मात्रा में वैदिकसाहित्य राष्ट्रभाषा में सम्पन्न हुआ है, उस की विशालता देखते हुए अबतक होने वाला कार्य्य 'शकाय वा स्यात्, लवणाय वा स्यात्' को ही चरितार्थ कर रहा है। जब तक इस महारम्भ कार्य्य को कोई महासहयोग नहीं मिल जाता, तबतक इस के सुव्यवस्थित प्रचार-प्रसार का कोई आयोजन नहीं हो सकता। यद्यपि गत ३-५ वर्षों से अपने आवश्यकतम स्वाध्याय कर्म्म में बाधा डालते हुए इस आयोजन की स्थिरता के लिए हम यत्र तत्र अनुधावन कर रहे हैं, परन्तु क्षणिक-पिपासा-शान्ति के अतिरिक्त अब तक इस कार्य्य के लिए कोई स्थायी आयोजन नहीं हो सका है। गतवर्ष की कलकत्ता यात्रा में अवश्य ही एक सम्मान्य महानुभाव का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। जैसा कि हमें विश्वास है, यदि स्वाध्याय कर्म्म में वह आकर्षण बाधक सिद्ध न हुआ, तो कलकत्ता ही हमारे कार्य्य का केन्द्र बन जायगा, एवं भविष्य में सब असुविधाएं दूर हो जायंगीं।

प्रकाशन के सम्बन्ध में इसलिए विशेष कुछ नहीं कहा जासकता कि, प्रस्तुत भूमिका खण्ड का प्रकाशन हमारे प्रवास-काल में हुआ है अन्यान्य कार्य्यों में व्यग्र रहने के कारण, साथ ही कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले गीताखण्ड की व्यस्तता से इस ओर अणुमात्र भी ध्यान न दिया जासका। यही कारण है कि, प्रस्तुतखण्ड के क्रमाङ्कों में बड़ी अव्यवस्था होगई है। आरम्भ से अन्त तक यद्यपि समानाङ्कव्यवस्था रहनी चाहिए थी परन्तु कुछ तो प्रेसकापी से सम्बन्ध रखने वाली हमारी असावधानी से, एवं कुछ सम्पादक की अनवधानता से प्रतिपाद्य

प्रकरणों के आरम्भ से पृथक् पृथक् क्रमाङ्क लग गए हैं। क्रमाङ्कों के अतिरिक्त प्रमाण वचनों की, प्रमाणाङ्कों की, विषयसन्निवेशक्रम की त्रुटियां भी यत्र यत्र होगई हैं। फिर भी हमें आशा है कि, विषयोपयोगिता की दृष्टि से सहृदय पाठक इन विवशतानुगामिनी त्रुटियों के लिए हमें, तथा सम्पादक को क्षमा प्रदान कर देंगे।

सर्वान्त में विदित-वेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य, विद्यावाचस्पति, समीक्षाचक्रवर्त्ती, प्रज्ञावदातश्रममूर्त्ति, श्रीश्रीगुरुचरणों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पण करना भी आवश्यक कर्तव्य हो जाता है, जिनके कि अव्यर्थ अनुग्रह से यह वैज्ञानिक साहित्य बाह्यजगत् की सम्पत्ति बन रहा है। यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, अबतक जो कुछ प्रकाशित हुआ है, एवं आगे जो कुछ भी प्रकाशित होगा, वह गुरुचरणों का पवित्र प्रसाद है। उनके पावन चरणों में बैठ कर अध्ययनकाल में जो कुछ सुना गया, सामान्य सेवा में उस अनन्तश्रुति के जो कण स्थिर रह सके, उन्हीं के आधार पर उस श्रुति को इस स्मृतिरूप में लिपिबद्ध किया गया। "त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! (मधुसूदन!) तुभ्यमेव समर्पये" के अतिरिक्त इस अकिञ्चन के पास और ऐसी कौनसी वस्तु है, जिसे वह श्रद्धाञ्जलि में भेंट करे। इसी आत्मसमर्पण द्वारा उस महापुरुष के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए प्रस्तावना उपरत होती है।

विजयदशमी
आश्विनशुक्लपक्ष
सं० १९९७

विद्वद्भिर्विधेयः-
मोतीलालशर्म्मा-गौड़ः
जयपुरीयः

* श्रीः *

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका प्रथमखण्ड की संक्षिप्त विषयसूची

घ—वैज्ञानिकविचार—१—१०४

इति—उ० वि० भूमिकायाः

संक्षिप्तविषयसूचीसमाप्ता

* श्रीः *

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका प्रथमखण्ड की

विस्तृत–विषयसूची

(१.–प्रारम्भिकनिवेदन)–*७६ ।

क-वैदिकसाहित्य और हमारी मनोवृत्ति-१*२१

—:०:—

ख—वैदिक साहित्य, और पश्चिमी विद्वान् २१-४१

———:o:———

ग—वैदिकसाहित्य, और वैज्ञानिक निदर्शन ४२-७६

प्रारम्भिक निवेदन समाप्त ।

१

—:o:—

विषय	पृष्ठसंख्या

इत्युपनिषच्छब्दार्थमीमांसा

३

—:०:—

(४-क्या उपनिषत् वेद है ?

१.१२७*१०४)

इति-प्रस्तावना

——:०:——

ख—विषयप्रवेश—२७—३३

इति-विषयप्रवेशः

—:०:—

इति-नव्यन्यायमतप्रदर्शनम्

इति-प्राचीनन्यायमतप्रदर्शनम्

———

इति-सांख्यमतप्रदर्शनम्

———:०:———

इति-वैशेषिकमतप्रदर्शनम्

(६)-नास्तिकदर्शनसम्मतमतवाद-१२२-१२७

इति-नास्तिकमतप्रदर्शनम्

समाप्ताचेयं दार्शनिकमतमीमांसा

(ग)

विषय	पृष्ठसंख्या

विषय	पृष्ठसंख्या

समाप्तेयं—

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकाप्रथमखण्डस्य विस्तृतविषयसूची

प्रारम्भिक-निवेदन

॥ ॐतत् सद् ब्रह्मणे नमः ॥

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धएकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥

१—हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में एवं स्तोतृगणों में) विराजिए । क्यों कि (विद्वान्-लोग) आप ही को कवियों के मध्य में श्रेष्ठ मेधावी समझते हैं। आपिच आपके विना दूर का अथवा समपि का कोई भी कार्य नहीं किया जासकता । (इसलिए सभी कार्यों के आरम्भ में आपका प्रथम स्मरण नितान्त अपेक्षित है)। हे महनीय गणपते ! त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३) आदि विविध स्तोमों से युक्त महामहिमशाली, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो यह हमारा स्तोम (कार्यराशि) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें ।

"ऋक् सं० १०।११२।९"

२—एक ही अग्नितत्व (गायत्री-त्रिष्टुप् जगती आदि छन्दों के भेद से) गार्हपत्य, आहवनीय दक्षिणाग्नि, आवसथ्याग्नि, सभ्याग्नि, धिष्ण्याग्नि, आहुताग्नि, प्रहुताग्नि, आमादाग्नि, क्रव्यादाग्नि, कव्यवाडग्नि, वैश्वानरअग्नि, सान्तपनाग्नि, वेदाग्नि, संवत्सराग्नि आदि अनेक रूपों से यत्र तत्र प्रज्वलित हो रहा है। एक ही सूर्य विश्वोपलक्षित चराचरजगत् में विभूति एवं योग सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उन सब स्थावर जंगम पदार्थों का आत्मा बनता हुआ नानाभावों में परिणत हो रहा है। ३० योजन पर्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाली, सूर्य से ३० योजन पश्चिम की ओर अपनी स्थिति रखने वाली उषाकाल की अधिष्ठात्री उषादेवी उदयबिन्दु के भेद से नानारूप धारण कर सर्वत्र प्रकाशित हो रही है। नानाभेदभिन्न उक्त सारा प्रपञ्च एक ही ब्रह्म का वैभव है। एक ही ब्रह्मतत्व उपाधि भेद से अनेक रूप धारण कर विभूति सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। "ऋक् सं० ८।४।२९ "।

३—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

३—*वसु-रुद्र-आदित्य भेदभिन्न ३३ आग्नेय देवता, सम्पूर्ण सौम्यदेवता, कर्म्मदेवता, आत्मदेवता, अभिमानिदेवता, पुरुषविध नित्य अष्टविध चेतन चान्द्र देवता, पुरुषविध चेतन अनित्य प्राणी देवता आदि सभी देवता एकमात्र वाक्तत्व को आधार बनाकर ही जीवित हैं। २७ गन्धर्व, सब प्रकार के पशु, मनुष्य आदि सब प्रजाएं वाक् को प्रतिष्ठा बना कर ही स्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं यह सातों भुवन वाक्धरातल में ही समर्पित हैं। (इस प्रकार जो वाक्तत्व चराचर में व्याप्त हो रहा है) इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस शब्दराशिरूप वाङ्मय यज्ञ में इसे सफल बनाने के लिए) हमारी पुकार सुनें। "तै० ब्रा० २।८।८।५।"।

४—"अक्षरमिति (अ[1]-क्ष[2]-रम्[3]-इति) त्र्यक्षरं, वागित्येकमक्षरम्" "एकाक्षरा वै वाक्" (ताण्ड्यब्रा० ४।४।३।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाक्रूप एकाक्षर ब्रह्म, किंवा अक्षरस्वरूप वाग्ब्रह्म ही (विश्व में) सब से पहिले प्रकट हुआ है। अतएव यह वाग्देवी ऋततत्व की 'प्रथमजा' कहलाती है। यह वाक् (अनन्त) वेदों की माता है, अमृत की नाभि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई हमारे इस वाग्यज्ञ में पधारे। अपिच हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी (हमारे इस वाग्यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करने के लिए हमारी प्रार्थना सुनें। "तै० ब्रा० २।८।८।"।

५—जो औपनिषद पुरुष (सृष्टिनिर्म्माण के लिए) प्रतिष्ठालक्षण चतुर्मुख ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न करता है, जो वेदान्त पुरुष उस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिसाधनरूप) वेदों को अर्पित करता है, प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रियलक्षण मन, एवं विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाश स्वरूप उसी (चिद्घन ब्रह्म) देव की शरण में मैं मुमुक्षु जारहा हूं। "श्वेता० उ० ६।१८।"।

*देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वत्समाज में आज अनेक प्रकार की भ्रांतिएं फैली हुई हैं। इस के निराकरण के लिए शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य (१ वर्ष) के १०-११-१२ अंक देखने चाहिएं।

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥

अध्यात्मजगत् के अन्तस्तल पर पहुंचे हुए विचारकक्षा के परपारगामी महामहिमशाली उन महामहर्षियों के अनन्तकाल के तपोयोग से प्रादुर्भूत औपनिषद ज्ञान के सम्बन्ध में बहिरङ्गभाव से सम्बन्ध रखने वाली समालोचना का, दूसरे शब्दों में बहिरंग परीक्षा का समावेश करना अनुचित नहीं तो उचित भी नहीं कहा जासकता। साथ ही में गभीरतम रहस्यार्थों का प्रतिपादन करनें वाले छन्दोभाषामय (वेदभाषामय) उपनिषद्ग्रन्थों का नागरी जैसी लौकिक भाषा में प्रतिपादन करना, इस व्यावहारिकी भाषा द्वारा अनेक तात्पर्यार्थों को अपने उदर में रखने वाले छन्दोभाषा के शब्दों के भावों को प्रकट करनें का साहस करना भूपृष्ठ पर बैठे हुए सूर्य्य का स्पर्श करना है। इस लौकिकी भाषा द्वारा वेद के गभीरतम तत्वों को यथावत् प्रकट कर देना नितान्त असम्भव है। लौकिकी भाषा की कौन कहे, हमारा तो यह भी विश्वास है कि भारती नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मी-(संस्कृत)-भाषा के द्वारा भी वेदों के रहस्य को यथावत् प्रकट नहीं किया जासकता। जिस अर्थ के लिए वैदिक ऋषियों के अन्तःकरण में जो शब्द प्रकट हुआ है, उस शब्द की समता करने वाला, उसी अर्थ को यथावत् रूप से व्यक्त करने वाला शब्द दूसरी भाषाओं की कौन कहे, वैदिकभाषा के अतिसन्निकट संस्कृत साहित्य में भी उपलब्ध नहीं हो सकता। उक्थ-बृहती-धामच्छद-श्यैत-नौधस-जर्फरी-तुर्फरी-रथन्तर-बृहत्-रैवत-शक्वर-वषट्कार-परिप्लव-पृष्ठ-अभिप्लव-स्तोम-अहर्गण-मनोता-वैश्वरूप्य-निवित्-कुम्ब्या-गाथा-अर्क-अशिति-ऊर्क्-स्वरसाम-स्कम्भ-मन्थी-शुक्र-उपांशु-अन्तर्याम-बहिर्याम-अप्तोर्याम-अभिगर-प्रतिगर-काणुका-इरा-आभूति-आभीक-आप्त्या-अयुत-आद्रदानु-असित आदि सहस्रों शब्द वैदिक साहित्य में ऐसे प्रयुक्त हैं, जिन का अर्थ अन्यभाषा के शब्दों द्वारा कदापि गतार्थ नहीं हो सकता। जिस अर्थ के लिए ऋषि के द्वारा जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह अर्थ उसी शब्द से प्रकट हो सकता है। पर्य्याय शब्दों द्वारा

उस अर्थ की सङ्गति लगा लेना एक प्रकार से असम्भव ही है। इसलिए वेदार्थ जिज्ञासुओं से आरम्भ में ही हम यह निवेदन कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि यदि वे वेद का वास्तविक रहस्य जानना चाहते हैं तो उन्हें अनन्यभाव से मूलग्रन्थों की ही शरण में जाना चाहिए। तभी उन की जिज्ञासा सर्वात्मना शान्त हो सकती है।

सर्वज्ञाननिधिस्वरूप जिस वेदराशि को सर्वप्रथम संसार के सामने रखने का गौरव एकमात्र इस देश के महर्षियों को मिला था, करालकाल की कुटिल भ्रूभङ्गी से आज वही ऋषिसन्तान अनार्षप्रणाली का अनुगमन करती हुई अपनी उस अमूल्य सम्पत्ति से सर्वथा वञ्चित हो गई है, यह जानकर किस आर्य-हृदय में अन्तर्वेदना का उदय न होगा। "वेदशास्त्र ही इतर सब शास्त्रों का मूल आधार है" इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में आर्यावर्त्त का कोई भी विद्वान् किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठा सकता। सभी विद्वान् एकस्वर से वेदमहत्ता स्वीकार करते हैं। यह सबकुछ होने पर भी आज भारतवर्ष में वैदिक अध्ययनाध्यापन के सम्बन्ध में विद्वानों की ओर से जैसी उदासीनता प्रकट की जारही है, निःसन्देह यह हमारे पतन का मूल कारण है।

"वेदोऽखिलो धर्म्ममूलम्"[१]—"वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ"[२]—"वेद एव द्विजातीनां निःश्रयकरः परः"[३]—"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमा-[४]

१—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व लक्षण मन्त्रात्मकवेद, एवं विधि, आरण्यक, उपनिषल्लक्षण ब्राह्मणात्मक-वेद ही अखिल वेद है। मन्त्रब्राह्मणात्मक यह सम्पूर्ण वेदशास्त्र ही धर्म्म में मूल है। अर्थात् मन्वादि धर्म्मशास्त्रों की प्रामाणिकता वेदशास्त्र पर ही निर्भर है। "मनुः २।६।"

२—श्रुति वेदशास्त्र है, स्मृति धर्म्मशास्त्र है। इन्हीं दोनों से धर्म्मव्यवस्था हुई है। "मनु२।१०"

३—"द्विजाति के लिए वेदशास्त्र ही निःश्रेयसभावप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। "मनुः........"।

४—"जो द्विजाति वेद न पढ़ कर (केवल) अन्य शास्त्रों में (हीं) परिश्रम करता है, वह अपने इस जन्म में ही अपने वंशसहित शूद्रकोटि में प्रविष्ट होजाता है। "मनुः २।१६८"।

शु गच्छति सान्वयः"—[५]"चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात्-प्रसिद्ध्यति"—[६]"ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः" [७]"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" इत्यादि श्रौत-स्मार्त्तवचन सर्वात्मना एकमात्र वेद का ही स्तुतिगान कर रहे हैं, वेद को ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्ति का अन्यतम कारण बतला रहे हैं। आर्यमहर्षियों का यह स्पष्ट एवं निःसदिग्ध आदेश है कि यदि द्विजातिवर्ग वेद के वास्तविक रहस्य को जान लेता है तो इस लोक एवं परलोक दोनों में उस का पूर्ण स्वातन्त्र्य होजाता है। वैदिकविज्ञान के परिज्ञान से, एवं उसके प्रयोग (Practice) से वह कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ बन जाता है। प्रकृतिदेवी किसी नियत नियम विशेष के आधार पर ही विश्वरचना करने में समर्थ होती है। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-नक्षत्र-ग्रह-उपग्रह-ऋषि-पितर असुर-गन्धर्व-देवता-मनुष्य-पशु-कृमि-कीट-पक्षि-ओषधि-वनस्पति-धातु--उपधातु-रस-उपरस-विष-उपविष-पर्वत-नद-नदी-समुद्र आदि की समष्टिरूप विश्व किसी निश्चित नियम के आधार पर सम्पन्न हुआ है, विश्वरचना का कोई नियत क्रम है। सारी रचना किसी नियत शिल्प (कारीगरी) को लिए हुए हुई है। विश्व एवं विश्वान्तर्गत सारा प्रजावर्ग नियतभावस्वरूप इस नियतिब्रह्म की चर्य्या (आचरण-शासन) से नित्य आक्रान्त है। दूसरे शब्दों में यह नियतिचर ब्रह्म ही सब का अधिष्ठाता बन रहा है।

५—"ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-सच्छूद्र भेदभिन्न चारों वर्ण, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ रूप-तीनों लोक, ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास लक्षण चारों आश्रम, एवं जो कुछ भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान इन तीनों कालों में समाया हुआ है, वह सबकुछ वेद से ही प्रवृत्त हुआ है।" "मनुः १२।९७"।

६—"(वेदविद्यात्मिका) ब्रह्मविद्या से मनुष्य सबकुछ होना संभव समझते हैं। अर्थात् वेदविद्या के आधार पर मनुष्य प्रकृतिवत् सबकुछ करने में समर्थ है।" "शतब्रा० १४।४।२।२०"।

७—"धर्म की (मौलिक) जिज्ञासा रखने वालों के लिए वेद ही सर्वश्रेष्ठ आधारभूमि है। अर्थात् धर्म्मशास्त्र में जिन कर्त्तव्य कर्म्मों का आदेश हुआ है, उन सब का यदि मौलिकरहस्य (Attempts thory) जानना है तो वेद की ही शरण में जाना चाहिए। वेद ही 'ऐसा क्यों करें?" यह जिज्ञासा शान्त करेगा"। "मनुः २।१३"।

यही नियतिचर ब्रह्म श्रौत-(ब्राह्मण-उपनिषदादि)-ग्रन्थों में "अन्तर्य्यामी" नाम से व्यवहृत हुआ है। यही अन्तर्य्यामी शास्ता नियतिचर ब्रह्म पाश्चात्यभाषा में नेचर (Nature) नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। प्रकृति-अव्यक्त-अक्षर-नियतिचर-शास्ता-नेचर कुछ भी कहिए, एक ही बात है। विश्वाधिष्ठाता, विश्वसृष्टिप्रवर्त्तक, सुसूक्ष्म, ज्ञानमूर्त्ति यह नियतिचर ब्रह्म ही मौलिक वेदतत्व है, जैसा कि आगे के प्रकरणों से स्पष्ट हो जायगा। यह सर्वज्ञ वेदतत्व चिरकाल के तपोयोग से *अतीतानागतज्ञ, ÷विदितवेदितव्य, Aअधिगतयाथातथ्य महर्षियों के पवित्र अन्तःकरण में भगवान् स्वयम्भू प्रजापति की प्रेरणा से स्वतएव आविर्भूत हुआ है, एवं युगधर्मानुसार यह विलुप्त वेदतत्व समय समय पर उन्हीं सात्विक अन्तःकरणों में प्रकट होता रहता है। इसी आधार पर आप्त पुरुष कहते हैं—

B
युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥

मन्त्रब्राह्मणात्मक उसी नित्य अपौरुषेय वेदराशि को लोककल्याण के लिए उन आप्त महर्षियों नें हमारे समक्ष उपस्थित किया, एवं हमें आदेश दिया कि यदि तुम अपना ऐहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण चाहते हो, यदि सम्पूर्ण विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हो, यदि विश्व के मानव समाज को सभ्यता का पाठ पढ़ानें का अधिकार प्राप्त करना चाहते हो तो इस वेदराशि को अपना जीवनव्रत बनाओ। वेदार्थतत्ववेत्ता राजर्षि मनु ने स्थान स्थान पर इस वेदस्वाध्याय के ही महत्व का प्रतिपादन किया है। बिना वेद के वे द्विजाति का जन्म ही निरर्थक समझते हैं। मनु के कथनानुसार वेदवित् द्विजाति साक्षात् ब्रह्म की प्रतिमा है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

---

* अतीत एवं भविष्य की स्थिति का अपनी दिव्यदृष्टि से पूर्ण ज्ञान रखने वाले।

÷ विश्व में जो कुछ जानने की वस्तु है, उसे जानने वाला ही "विदितवेदितव्य" कहलाता है।

A वस्तुतत्व के यथार्थस्वरूप पर पहुंचने वाले।

B युग युग के अन्त में विलुप्तप्राय इतिहास युक्त वेदों को महर्षिगण ने स्वयम्भू प्रजापति की अनुज्ञा (प्रेरणा) से तपोयोग पूर्वक (तपश्चर्या के बल से) पुनः प्राप्त किया।

१-वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।

तं ह्यस्याहुः परं धर्म्ममुपधर्म्मोऽन्य उच्यते ॥ (मनुः ४।१४७) ।

२-तपो विशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ (मनुः २।१६५) ।

३-वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ (मनुः २।१६६) ।

४-आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।

यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ (मनुः २।१६७) ।

१- ब्राह्मण को चाहिए कि वह नियत समय पर आलस्य रहित होकर वेद का ही अनन्यभाव से अध्ययन करे । क्योंकि वेदस्वाध्याय को ही ऋषियों ने ब्राह्मण का सर्वोत्कृष्ट धर्म्म (कर्तव्य) माना है, एवं अन्य कर्त्तव्यों को गौण कहा है ।

२-यम-नियमादि तपोरूप नियमों के अनुगमन के साथ, श्रुत्युक्त महानाम्नी आदि व्रतों के अनुपालन पूर्वक द्विजाति को सरहस्य मन्त्रब्राह्मणात्मक समग्र वेद जानना चाहिए ।

३-उस ब्राह्मणश्रेष्ठ को, जो कि तपश्चर्या करने की इच्छा रखता है, (अनन्यभाव से) सदा वेद का ही अभ्यास करना चाहिए । कारण वेदाभ्यास (वेदस्वाध्याय) ही ब्राह्मण का सर्वोत्कृष्ट तप माना गया है । अर्थात् वेदाध्ययन ही ब्राह्मण की उत्कृष्टतम तपश्चर्या है ।

४-वह ब्राह्मण अपने सर्वाङ्गशरीर से महा उग्र तप ही कर रहा है, जो कि पुष्पमाला धारण किए हुए भी प्रतिदिन स्वशक्ति के अनुसार वेद का अध्ययन करता है । यहां 'स्रग्वी' का यही तात्पर्य्य है कि आश्रम व्यवस्था के अनुसार ब्रह्मचर्य्याश्रम स्वाध्यायकाल माना गया है । इस आश्रम में ब्रह्मचारी को विशेष नियमों में चलना पड़ता है । उन्हीं नियमों में पुष्पमाला धारण करने का भी निषेध है । यह सब साधन गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखते है । मनु कहते हैं कि यदि आश्रमयुक्त नियमों का पालन किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण न होसके तब भी कोई हानि नहीं है । परन्तु वेदस्वाध्याय किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ना चाहिए ।

५—यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्म्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ मनुः २।१५७) ।

६—यथोक्तान्यपि कर्म्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ (मनुः १२।९२) ।

७—बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ (मनुः १२।९९) ।

८—सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ (मनुः १२।१००) ।

९—यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्म्मजं दोषमात्मनः ॥ (मनुः १२।१०१) ।

५—जिस प्रकार लकड़ी का हाथी, एवं चमड़े का कल्पित मृग केवल नाममात्र के हाथी-मृग हैं, एवमेव जो ब्राह्मण वेदज्ञान से शून्य है वह भी उस नाम कोटि में ही प्रविष्ट है । अर्थात् जो मूल्य, जो महत्व लकड़ी-चर्म्म के हाथी-मृग का है, वही महत्व स्वाध्यायशून्य ब्राह्मण का है ।

६—(यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण ब्राह्मण शास्त्रसिद्ध अग्निहोत्रादि आवश्यक कर्म्मों को न करसके तो आपद्धर्म्ममर्यादा के अनुसार) यथोक्त शास्त्रीय कर्म्मों को छोड़ता हुआ भी ब्राह्मण आत्मचिन्तन, इन्द्रियसंयम, एवं वेदाभ्यास में सदा सतर्क रहै । अर्थात् और सब कर्म्मों के न बनने पर भी आत्मनित्यत्व-भावना, सदाचार, एवं वेदाध्ययन इन तीन कर्म्मों को तो किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ना चाहिए ।

७—(वेदशास्त्र में प्रतिपादित) सर्वथा नित्य वेद ने ही इस भौतिक जगत् को धारण कर रक्खा है। इसी लिए वेदवित् विद्वान् वैदिक कर्म्माधिकारी इस द्विजाति के सम्बन्ध में वेदशास्त्र को ही सर्वोच्च पुरुषार्थ-साधन समझते हैं ।

८—सेना, राज्य, दण्डविधान, सब लोकों पर शासन इत्यादि सब कर्म्म यथावत् रूप से एक वेदज्ञ विद्वान् ही कर सकता है ।

९—जिस प्रकार बड़े वेग से प्रज्वलित बलवान् अग्नि गीले वृक्षों को भी जला डालता है, एवमेव एक वेदज्ञ ब्राह्मण अपने आत्मा के कर्म्मदोषों को वेदरूप ज्ञानाग्नि से जला डालता है ।

न केवल भारतवासी ही, अपितु समस्त विश्व का मानवसमाज यदि किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसे भारतवर्ष में उत्पन्न वेदराशि के अधिष्ठाता अग्रजन्मा (ब्राह्मण) का ही शिष्यत्व स्वीकार करना चाहिए। वह सब को सभ्यता, ज्ञान, विज्ञान, शिल्प आदि का पाठ पढ़ाएगा। सुनिए! कान खोलकर सुनिए!! साथ ही में अपनी वर्त्तमान दशापर दो आंसू बहाइए!!! भगवान् मनु क्या कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनुः २।२०।)

"भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले ब्राह्मण से पृथिवी में रहने वाले सम्पूर्ण मनुष्य अपने अपने कर्त्तव्य कर्म्म की, एवं चरित्र की शिक्षा प्राप्त करें" क्या आर्य-साहित्य को छोड़कर ऐसी उदात्तभावना आपको अन्य साहित्य में मिल सकती है? सर्वथा असम्भव!

हा! हतभाग्य भारत!

आज तेरा वह गौरव कहां चला गया? वेद जैसी अप्रतिम ज्ञानराशि का अधिष्ठाता बनता हुआ भी तू आज अपने उस उच्चासन से कैसे गिर गया? परलोक के महाबन्धन को तोड़ने वाला तू आज इस भूप्रदेश में भी अपने आप को सुरक्षित न रख सका! आज तू **असभ्य है! जंगली है! विज्ञानशून्य है! परमुखापेक्षी है! दासानुदास है! "मा च याचिष्म कञ्चन"** कहां गया तेरा यह आदर्श! भूल गया अपने वास्तविक स्वरूप को? खो बैठा अपनी सारी प्रभुता?

उत्तिष्ठत! जाग्रत!! प्राप्य वरान्निबोधत!!!

आप प्रश्न करेंगे-धर्म्मप्राण भारतवर्ष की उक्त दशा क्यों हुई? शास्त्रकारों ने धर्म्म का—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः" (जिसके अनुष्ठान से, आचरण से, व्यवहार

से ऐहलौकिक सुखरूप अभ्युदय, एवं पारलौकिक सुखरूप निःश्रेयसभाव की प्राप्ति हो है, वही धर्म्म है) यह लक्षण किया है। इधर भारतवर्ष के सनातनधर्मी जगत् का विश्वास है कि हम धर्म्माचरण में सर्वाग्रणी हैं। परन्तु आश्चर्य है, प्रकृति के कोप में भी महानुभाव सर्वाग्रणी हैं। आज भारतवर्ष में धर्म्मप्रचार के लिए अनेक साधन प्रस्तुत हैं सैंकड़ों-हजारों मन्दिर, शतशः धर्म्माचार्य, शतशः उपदेशक - महोपदेशक - महामहोपदेशक, तीर्थ, व्रत, दान, आदि सभी तो धर्म्म के साधन प्रस्तुत हैं। हरिकथा भी होती। पुराण भी बांचे जाते हैं, श्रद्धालु जनता हजारों की संख्या में उपस्थित भी होती है। दानवीरों की ओर से प्रतिदिन ब्राह्मणों को भोजन भी कराया जाता है। षट्तीर्थ-षट्शास्त्री-पुराणरत्न-आदि असंख्य उपाधिधारी भी विद्यमान हैं। भारतवसुन्धरा के वक्षस्थल को कम्पित करने वाली बड़ी बड़ी संस्कृतपाठशालाएं, एवं उनमें महामहाधुरीण पुरुषपुङ्गव अध्यापक महोदय भी सुशोभित हैं। इस प्रकार धर्म्मरक्षा के लिए जो कुछ होना चाहिए, वह सब आवश्यकता से अधिक तो विद्यमान है। फिर क्यों दिन दिन जनता की धर्म्म, देव, द्विज, गुरू, शास्त्र आदि पर से श्रद्धा उठती जा रही है? क्या आप इस प्रश्न का उत्तर चाहते हैं? अच्छा सुनिए!

विगत शताब्दियों के वाङ्मय इतिहास पर एवं साहित्यसृष्टि पर दृष्टि डालिए। समाधान हो जायगा। महाभारतकाल जहां वैदिक-साहित्य की चरम उन्नति का द्योतक था, वहां वही समय इस साहित्य की अवनति का भी उपक्रम बना। महाभारत के बाद वैदिक साहित्य क्रमशः अवनत ही होता जा रहा है, यह निःसंदिग्ध विषय है। व्याकरण न्याय-ज्यौतिष-साहित्य आदि इतर विषयों का विद्वानों की ओर से जितना मन्थन हुआ है उन्हीं विद्वानों की ओर से यदि वैदिकसाहित्य के लिए शतांश भी उद्योग हुआ होता तो आज इस साहित्य की यह दुर्दशा न होती। भवभूति, कालिदास, दण्डी, क्षेमेन्द्र, बाण, आदि प्रतिभाशाली विद्वानों की प्रतिभा का उपयोग हुआ है, राजाओं के इतिहास की पुनरुक्ति में। यदि यही विद्वान् वैदिकसाहित्य की ओर दृष्टिपात करते तो भारतवर्ष को यह दुर्दिन

देखने पड़ते। इस महाभीषण युग में एक दो महापुरुष ऐसे अवश्य हुए हैं, जिन्होंने वैदिक-साहित्य के उद्धार का प्रयत्न किया है। यदि सर्वश्री सायणाचार्य, एवं सर्वश्री महीधर न होते तो हमारे लिए वेदशास्त्र एक "हौआ" मात्र रह जाता। परन्तु जिस युग में उक्त वेदव्याख्याताओं नें वेद पर भाष्य लिखे थे, वह युग कर्म्मकाण्ड प्रधान युग था। शब्दशास्त्र पर पूर्ण निष्ठा थी। साथ ही में वेद के रहस्यार्थों को प्रकट करने वाले, वैज्ञानिकतत्वों का विश्लेषण करने वाले गाथा-निदान-रहस्य-आठ प्रकार के निरुक्त आदि ग्रन्थ विद्यमान थे। फलतः सायण महीधरने उस कर्म्मयुग में वेदों की कर्म्मपरक व्याख्या करना ही उचित समझा। इन भाष्यकारों का विशेष लक्ष्य कर्म्मकाण्ड की सङ्गति लगाने पर ही रहा। आगे जाकर साहित्य के अन्यतम शत्रु नरराक्षसों की भीषण लीलाने इन्हीं ग्रन्थ-पत्रों से महिनों हम्मामों को गरम रक्खा। परिणाम जो कुछ हुआ देश के सामने है। उपलब्ध वेदभाष्य कर्म्मकाण्ड प्रधान हैं, रहस्य ग्रन्थ सर्वथा विलुप्त हैं। अतएव उन गुहानिहित वैदिक तत्वों को समझने, एवं समझाने में आज बड़ी कठिनता उपस्थित हो रही है।

वर्त्तमान शताब्दी की तो कुछ बात ही न पूंछिए। सर्वज्ञाननिधि वेद का अध्ययनाध्यापन आज एकान्ततः अवरुद्ध है। यह सभी विद्वान् जानते हैं कि शिक्षा, कल्प, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष यह ६ ओं शास्त्र अङ्गमात्र हैं। वेदार्थ समझने की योग्यता प्राप्त करने के लिए ही उक्त अङ्गों का अध्ययन आवश्यक माना गया है। उधर आश्रम-व्यवस्था के अनुसार २५ वर्ष की आयु में साङ्ग वेद का अध्ययन कर ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा है। हम देश के विद्वानों से प्रश्न करते हैं कि जैसी शिक्षाप्रणाली आज वर्तमान है, उसके अनुसार क्या कोई व्यक्ति २५ वर्ष की समाप्ति तक साङ्गोपाङ्ग सरहस्य वेद का अध्ययन समाप्त कर सकता है? हम तो देखते हैं कि व्याकरणादि एक एक अङ्ग के अध्ययन में ही आज विद्वान् अपना सारा जीवन समाप्त कर देते हैं। शेष अङ्ग, एवं अङ्गी वेदशास्त्र के अध्ययन का तो अवसर ही नहीं आता। उक्त ६ओं अङ्गों में से शिक्षा-कल्प-छन्द-निरुक्त-ज्यौतिष (वेदाङ्गज्यौतिष) इन पांच अङ्गों का अध्ययन तो आज सर्वथा

विलुप्तप्राय है। केवल व्याकरण का अध्ययनाध्यापन प्रचलित है। इस शास्त्र के सम्बन्ध में भी जैसा मार्मिक बोध होना चाहिए, उसका अभाव ही है। विवार-श्वास-घोष-अघोष-अल्पप्राण-महाप्राण-सम्प्रसारण-विवृत-संवृत-उदात्त-अनुदात्त-स्वरित यह सब पदार्थतत्त्व विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। क्या कोई वैय्याकरणधुरीण इन पदार्थों का रहस्यार्थ बतला-सकता है? व्याकरण के अतिरिक्त साहित्य, न्याय, सांख्य, वेदान्तादि दर्शनों का अवसर आता है। इनमें भी विशेषतः साहित्य, न्याय, वेदान्त इन तीन हीं शास्त्रों की प्रायः थोड़ी-बहुत चर्चा सुनी जाती है। यह सब शास्त्र सामन्तगण हैं, वेदशास्त्र सम्राट् है। परन्तु आज हो क्या रहा है। भारतवर्ष के बड़े बड़े कालेजों में जाइए। अटक से कटक तक, कन्या से कुमारी तक पर्य्यटन कर आइए। अपने पण्डित्य के गर्व से भूमण्डल को कम्पित कर-ने वाले षट्शास्त्रियों, वेदान्तनिधियों, महामहोपाध्यायों, तर्कवागीशों, न्यायरत्नों का अन्वेषण कीजिए। आपको सर्वत्र सामन्तगणों की ही प्रधानता मिलेगी। सभी प्रमुख स्थान वैय्याकरणधुरीणों से, साहित्याचार्यों से, वेदान्तनिधियों से आक्रान्त मिलेंगे। सौभाग्य से यदि कहीं वेद की चर्चा मिलेगी भी तो पारायणरूप में। मन्त्र कण्ठ किए जायंगे, पद-घन-जटा-स्वर सन्निवेशपूर्वक वेदविज्ञान का श्राद्धकर्म्म पूर्णरूप से संपन्न मिलेगा। बिना अर्थ के केवल पारायण में ही वेदज्ञान की इतिश्री मान लेना किस शास्त्र का सिद्धान्त है? जो व्यक्ति वेद का अर्थ न जानकर केवल कुछ मन्त्र कण्ठ कर लेने से अपने आप को वेदज्ञ मान-ने का मिथ्या दम्भ करता है, उस के लिए स्वयं वेद ही क्या कहता है, सुनिए !

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

"जिस प्रकार एक गधा अपनी पीठ पर रक्खे हुए चन्दनकाष्ठ के भारमात्र का अनुभव करता है, उसे चन्दनगन्ध का विवेक नहीं है, एवमेव वह व्यक्ति एक बोझा ढोहने वाला लट्ठ है, जो कि वेद पढ़कर उस का अर्थ नहीं जानता। ठीक इस के विपरीत जो व्यक्ति अर्थ जानता है, वह सम्पूर्ण सम्पत्तियों का भोग करता है, एवं

इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् अर्थज्ञान से अपने सब कर्म्मदोषों का विधूनन करता हुआ नाकस्वर्ग का अधिकारी बनता है" ।

वेद सम्राट् का यह तिरस्कार ! यह अपमान !! ऐसी उपेक्षा !!! असह्य है । आज हम प्रायश्चित्त के भागी हैं । इसी पाप से आज हमारी यह हीनदशा होरही है । पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित नवयुवक, एवं शिक्षक आज भारतीय विद्वानों से धर्म्म की उपपत्ति पूंछते हैं । श्राद्ध क्यों किया जाता है ? ब्राह्मण को भोजन करा देने से परलोक गत आत्मा कैसे तृप्त हो जाता है ? यज्ञोपवीत धारण करने से क्या लाभ है ? कान पर जनेऊ क्यों चढ़ाई जाती है ? शिखाभार का क्या प्रयोजन है ? भोजन के आद्यन्त में आचमन क्यों किया जाता है ? अचेतन पाषाण प्रतिमाओं के अर्चन से ईश्वरप्राप्ति कैसे हो जाती है ? रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या के विवाह को क्यों महत्व दिया जाता है ? अन्त्यजस्पर्श में क्या हानि है ? षोडश स्मार्त्त, एवं ३२ श्रौत संस्कारों का क्या महत्व है ? व्यापक ईश्वर परिछिन्न शरीर से कैसे अवतार धारण कर लेता है ? ऐसे ऐसे असंख्य प्रश्न आज विद्वत् समाज के सामने उपस्थित हैं । परन्तु उन विद्वानों की ओर से उक्त प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल रहा है । परिणाम इसका यह हो रहा है कि पश्चिम के भौतिकविज्ञान से चमत्कृत भारतीय शिक्षितवर्ग अपने सिद्धान्तों का कोई मौलिक उत्तर न प्राप्त करने से इस के प्रति क्रमशः अश्रद्धालु बनता जा रहा है । उक्त सभी प्रश्नों के मौलिक वैज्ञानिक युक्तियुक्त समाधान हैं, और अवश्य हैं । परन्तु वेद में, जैसा कि "धर्म्मं जिज्ञासमानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" से पूर्व में निवेदन किया जा चुका है ।

पूर्व कथनानुसार धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में आज स्मृतिशास्त्र रूप धर्म्मशास्त्र को ही प्रधान माना जारहा है । अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिए कि धर्म्मव्यवस्था के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों का ज्ञान प्रायः स्मार्त्तग्रन्थों तक ही सीमित है । इधर स्मृतिशास्त्र केवल श्रुतिसिद्ध आदेशों का विधानमात्र करता है । इन आदेशों की उपपत्ति बतलाना स्मार्त्तग्रन्थों की मर्यादा से बाहर की बात है । उस का एकमात्र कर्त्तव्य धर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाना है । यदि इससे

कोई "अमुक कर्म्म का क्या रहस्य है ?" "अमुक कर्म ऐसे ही क्यों करना चाहिए ?" इत्यादि तर्कमूलक प्रश्न करता है तो वह इस हेतुवादी को नास्तिक बतला कर उस का तिरस्कार कर देता है, जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ (मनुः २।११) ।

धर्म्म जिज्ञासा रखने वाले व्यक्तियों को भारतीय विद्वानों की ओर से उक्त उत्तर ही प्राप्त होता है। वैदिक विज्ञानशून्य इन पण्डितम्मन्यों के पास उक्त प्रश्नों का कोई समाधान नहीं। यदि बहुत ही अनुग्रह हुआ तो—"अंग्रेजी पढ़कर तुम नास्तिक होगए। राम राम अब तो घोर कलियुग आगया। शास्त्र पर से विश्वास उठ गया" यह सदुत्तर देने का अनुग्रह करते हैं। हम शास्त्रनिष्ठा का विरोध नहीं करते। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि सामान्य जनता वैदिकविज्ञान की अधिकारिणी नहीं बन सकती। उस का कल्याण शब्दशास्त्र पर अनन्यभाव से श्रद्धा-विश्वास करने से ही है। परन्तु जिन्होंने शिक्षा प्राप्त की है, जो भौतिक विज्ञान का अध्ययन कर चुके हैं, जिन की बुद्धि किसी भी साधन से विकसित हो चुकी है, उन के सन्तोष के लिए केवल शब्दप्रमाण पर्याप्त नहीं हो सकता। उन्हें तर्क-युक्ति-विज्ञान का आश्रय लेकर ही समझाना पड़ेगा। तभी उन की धर्म्मविरोधिनी भावनाओं में परिवर्त्तन हो सकेगा। इस शिक्षित समाज की उपेक्षा करने से ही कभी विच्छिन्न न होने वाली धर्म्मधारा आज मन्द होती जा रही है। "धर्म्मपदार्थ" आज इन शिक्षितों को केवल गन्धर्व नगर प्रतीत हो रहा है। फलतः उन्हीं शिक्षितों के द्वारा आए दिन धर्म्मविरोधी नए नए बिल व्यवस्थापिकासभा (Legislative Council) में उपस्थित किए जा रहे हैं। विद्वत्समाज सुप्त है, धर्म्मसमाज क्षुब्ध है। आज उसे कोई आश्वासन देने वाला नहीं है। उधर राजनैतिकदल स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उन्मत्त है। उस की दृष्टि में स्वतन्त्रता प्राप्ति में यदि कोई महाप्रतिबन्धक है तो "शास्त्र"—ऋषियों के लोककल्याणकारी आदेश। इसी कुत्सितभावना से

भावितान्तःकरण नेताओं की ओर से नाममात्र के नैतिक प्रसार के साथ साथ ही शास्त्रीय-मर्य्यादाओं के विनाश का भी पुनीत कार्य किया जा रहा है। उन का कहना है कि—

"परतन्त्र राष्ट्र का कोई धर्म्म नहीं। जिस विषम समय में, गुलामी के जमाने में राष्ट्र के असंख्य प्राणी अन्न वस्त्र के लिए त्राहि त्राहि कर रहे हों, उस विपत्ति के युग में शास्त्र का डिन्डिमघोष कोई महत्व नहीं रखता। आज हमारे सामने सबसे अत्यावश्यक प्रश्न रोटी कपड़े का है। जब तक आर्थिक चिन्ता दूर नहीं होजाती, रोटी कपड़े का प्रश्न हल नहीं हो जाता, राष्ट्र स्वतन्त्र नहीं होजाता, तब तक शास्त्र, धर्म्म आदि की चर्चा को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता। अपिच ब्राह्मणों की स्वार्थ लीला को चरितार्थ करने वाले जिस शास्त्र ने राष्ट्र को परतन्त्र किया, जो धर्म्ममार्ग केवल स्वार्थियों की दम्भलीला है, ऐसे शास्त्र को तो किसी भी युग में किसी भी प्रकार का महत्व नहीं दिया जा सकता। आज युग धर्म्म बदल गया है। अतः उस पूर्वयुग की परिस्थिति के अनुकूल बने हुए उन शास्त्रों को आज के इस विकास युग में मानना सर्वथा व्यर्थ है"।

संस्कृतिमूलक भारतीय शास्त्र के सम्बन्ध में उक्त विचार प्रकट करने वाले उन राजनितिवीथीपथिकों, एवं वर्त्तमान युग के शिक्षित एवं शिक्षकों से हम यह सविनय निवेदन कर देना चाहते हैं कि विद्वत् समाज की उपेक्षा, अहम्मन्यता, व्यर्थ के आडम्बर से ही धर्म्म, एवं तत्प्रतिपादक शास्त्र के सम्बन्ध के आपके इस सम्बन्ध में उक्त विचार हो गए हैं। आप चाहते हैं समाधान, सफल एवं सुफल कारण, उस का है वर्त्तमान युग में अभाव। यहीं पर सीमा समाप्त हो जाती, तब भी कोई बात न थी। परन्तु यह पण्डित नामधारी सज्जन तो धर्म्म की ओट में सर्वथा शास्त्र विरुद्ध बहुभोज (नुकता), वृद्धविवाह, कन्याविक्रय, धर्म के नाते भोली जनता की वञ्चना आदि रूढिवादों के प्रचार से समाज एवं राष्ट्रोन्नति के भी अन्यतम शत्रु बन रहे हैं। सत्कार्य्यों का विरोध करना, दूसरे के गुणों की उपेक्षा कर उसके प्रकृतिसिद्ध मानव जन्म सुलभ दोषों का ही अन्वेषण करते रहना, अपने अन्धभक्तों को धर्म की

दुहाई देकर उन से अनुचित लाभ उठाना ही इन पुरुषार्थियों का परम पुरुषार्थ है। इन्हीं सब कारणों से यदि आप धर्म्म को अपने मार्ग में कण्टक समझने लगें तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु सोचिए, बुद्धिपूर्वक विचार कीजिए! यदि कोई अल्पज्ञ अपने दोष से किसी अमूल्यतत्व का स्वरूप और का और ही बना देता है तो क्या एक बुद्धिमान् का यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि वह उस अमूल्यतत्व का परित्याग न कर सर्वात्मना उस की रक्षा के लिए कटिबद्ध होजाय? जिस वेदराशि के लिए **पश्चिमी विद्वान्** अहोरात्र अकथ परिश्रम कर रहे हैं, अपने स्वार्थ के अतिरिक्त जो पाश्चात्य जगत् एक कपर्दिका व्यय करने में भी महापातक समझता है, वह जहां आए दिन वैदिक साहित्य के उद्धार के लिए विपुल धनराशि व्यय कर रहा है। जिस संस्कृतवाणी का उस की जन्मभूमि में उसी के सुपूतों द्वारा "**मृतभाषा**" (Dead language) कह कर सत्कार किया जाता है, वही मृतभाषा जब कि आज परराष्ट्रों में (जर्म्मन आदि में) नियतभाषा (Compulsory language) बनने का गौरव प्राप्त कर रही है, वहां इस साहित्य के प्रति हमारे उक्त उद्गार कहां तक ठीक हैं, यह आप स्वयं निर्णय करें। यदि स्थिरबुद्धि से विचार करेंगे तो उक्त परिस्थितियों से आप को यह मान लेने में कोई भी आपत्ति न होगी कि वेद अवश्य ही किसी अपूर्व ज्ञानराशि का महाकोश है। आपकी नवीन दृष्टि में धर्म नाश का कारण है, ठीक इसके विपरीत आर्यऋषियों का धर्म्म के सम्बन्ध में—"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः" यह घन्टाघोष है। आइए! देखें हमारा इतिहास इस सम्बन्ध में अपने क्या विचार प्रकट करता है।

यह निर्विवाद विषय है कि भारतवर्ष सदा से ही **राजनीति** के साथ साथ **धर्मनीति** को भी प्रधान मानता आरहा है। यहीं नहीं अपि तु जब जब राजनीति एवं धर्म्मनीति में संघर्ष उपस्थित हुआ है, तब तब ही राजनीति की उपेक्षा की गई है, एवं धर्म्मनीति का पालन किया गया है। धर्म्मनीति को सफल बनाने में दुर्भाग्य से यदि तत्कालीन मानव समाज किन्हीं विशेष परिस्थितियों से असमर्थ हो जाता है तो ऐसे अवसर पर धर्म्मरक्षा के लिए धर्म्ममूर्त्ति स्वयं ईश्वर को अंशरूप से नरदेह में अवतार धारण करना पड़ता है। निम्न लिखित **गीता** सिद्धान्त की कौन भारतीय उपेक्षा कर सकता है?

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥१॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्म्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥२॥ (गी० ४।७-८) ।

सृष्टि से आरम्भ कर आज तक के मधु-कैटभ, महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ-निशुम्भ, वृत्रासुर, नमुचि, बलासुर, तारकासुर, विद्युन्माली, अम्बुजात, शालकटंकट, वराहासुर, भस्मासुर, राक्षसेश्वर रावण, राजा वेन, कंस, शिशुपाल आदि के शासनकाल इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण हैं । मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम ने शक्तिरूपिणी गर्भिणी जगन्माता सीता का परित्याग क्यों किया ? धर्म्मनीति की रक्षा के लिए । सत्यवादी हरिश्चन्द्र ने अपने विशाल साम्राज्य का परित्याग किया, अकथनीय कष्ट सहे । धर्म्ममूर्त्ति महाराज शिवि ने अपने शरीर का मांस व्याध के अर्पण कर दिया । धर्म्मराज युधिष्ठिर ने चौदह वर्ष तक वनवास के कष्ट सहे । प्रातःस्मरणीय महादानी कर्ण ने इन्द्र के मांगने पर अपने शरीर का चर्म्मरूप कवच भी उखाड़ फेंकने में कष्ट का अनुभव न किया । यावदार्यकुलकमलदिवाकर, हिन्दूधर्म्मरक्षक, "हिन्दुआँसूर्य्य" प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप दाने दाने के मोहताज बने रहने पर भी सुख मानते रहे । आर्यसंस्कृति की प्रतिमूर्त्तिएं, आर्यजाति को सर्वोच्च आसन दिलाने वाली उन आर्यललनाओं का एकमात्र धर्म्म-रक्षा के लिए हंसते हंसते जौहरव्रत (चिता में जीवित जलजाना) पालन करना आज भी उन के चरणों में हमारे मस्तक को श्रद्धा से अवनत किए हुए है । इसी प्रकार छत्रपति शिवाजी, वीर छत्रसाल, सरदार चूंडावत, राठौर वीर दुर्गादास, गुरु गोविन्दसिंह, जीवित ही दीवारों में चुने जाते समय भी मन्दहास करने

---

*इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत राजर्षिविद्या की "बुद्धियोगलक्षण-समातनोपनिषत्" नाम की पांचवीं उपनिषत् के "श्रीकृष्ण का आधिकारिक जीवत्व लक्षण ईश्वरत्व" नाम के तृतीय उपदेश में देखना चाहिए ।

वाले वे दोनों वीर बालक आदि महात्माओं ने ऐहलौकिक सब सुखों की उपेक्षा कर धर्म्म-रक्षा में ही अपने जीवन का उत्सर्ग किया था, इस सत्य परिस्थिति का कौन ऐतिहासिक विरोध कर सकता है। यह सब क्या था ? राजनीति एवं धर्म्मनीति के संघर्ष में राजनीति का सर्वात्मना पराजय, एवं धर्म्मनीति का पूर्ण विजय।

बात वास्तव में यथार्थ है। आचार-व्यवहार-संस्कृति आदि ही धर्म्म का धर्म्मत्व है, यही राष्ट्र की मौलिक सम्पत्ति है। जिस राष्ट्र का नाश करना हो, उस की सभ्यता, संस्कृति आदि को कुचल डालिए, सब कुछ बिना प्रयास हो जायगा। अब तक हमारे ऊपर जो आक्रमण हुए थे, उन का सीधा संस्कृति से सम्बन्ध न था। परन्तु वर्त्तमान युग में हमने अपनी संस्कृति पर आक्रमण किया है। मानवता, सभ्यता, संस्कृति आदि के स्वरूपनिर्माण करने वाले शिक्षायन्त्र का स्वरूप विकृत कर लिया है। राष्ट्र के मूलप्राण वैदिकसाहित्य को एकान्ततः विस्मृत कर दिया है। परिणाम जो कुछ हुआ, एवं हो रहा है, वह हमारे सामने है। इसलिए हम उन देश-प्रेमियों को सावधान कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि आप का साहित्य-शून्य यह आन्दोलन तब तक सर्वथा व्यर्थ ही रहेगा, जब तक कि आप राष्ट्र की इस मौलिक विभूति की रक्षा का पूर्ण उपाय न कर लेंगे। जिन राष्ट्रों को आप समुन्नत समझ रहे हैं, उन की साहित्य प्रगति देखिए, समाधान हो जायगा। "एक परतन्त्र घोड़े का गधा बन कर स्वतन्त्र हो जाने की अपेक्षा हम उस का परतन्त्र रहना कहीं अधिक अच्छा समझते हैं"। अपनी सभ्यता, धर्म, संस्कृति खोकर यदि हम को स्वतन्त्रता मिले तो इस की अपेक्षा हम परतन्त्र ही अच्छे हैं। हम हम रहें, फिर स्वतन्त्र बनें, यही हमारी उत्कट अभिलाषा है, एवं इस अभिलाषा को सर्वात्मना पूर्ण करने वाला यही हमारा **वैदिक साहित्य** है। योग्य, बलवान्, शिक्षित, पूर्णसंघठित राष्ट्र के लिए सर्वत्र स्वतन्त्रता है। हमें योग्य बनना चाहिए। हमारी शिराओं में अपने पूर्वजों का वही ऊर्क्‌रस पुनः प्रवाहित हो, इस के लिए हमें अपने पूर्वसाहित्य की

उपासना करनी चाहिए। हम उन देशप्रेमियों से क्या यह नहीं कह सकते कि अभी आप का देश धर्म्म, सभ्यता, सङ्गठन आदि समुन्नतिमूलक सभी साधनों से वञ्चितप्राय है। आज भारतवर्ष का प्रत्येक गृह कलहभूमि बन रहा है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, दम्भ, मात्सर्य, स्वार्थपरायणता, स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार, निर्बलों का दलन, ज़मीदारों का एकच्छत्र शासन. कृषकवर्ग का विनाश, धर्म का तिरस्कार क्या यह बातें उन्नति प्राप्ति के उपाय हैं? सोचिए! और खूब सोचिए!! सोच समझ कर किसी निर्णय पर पहुंचिए!!! व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र का इसी में कल्याण है। आपके विचार से शास्त्र हमारे पतन के कारण है, इतिहास कहता है शास्त्र मर्यादा की अवहेलना ही हमारी अवनति का मुख्य हेतु है। किसे प्रामाणिक कहैं, समाधान कीजिए। कितने हीं महानुभावों के विचार से दैनिक जीवन में इस वैदिक साहित्य का उपयोग नहीं हैं। बुद्धि के अन्यमत शत्रु इन पुरुष पुङ्गवों से हम यही कहने की धृष्टता करेंगे कि अभी आपने जीवन-मृत्यु-का रहस्य ही नहीं समझा है। आप जीवन की कहते हैं, हमारे विचार से हमारे प्रत्येक कर्म का स्वरूप जिस विधि से इस साहित्य में निरूपित हुआ है, उस की तुलना में अन्य कोई साहित्य चणमात्र भी नहीं ठहर सकता। अस्तु इस साहित्य का उपयोग है, अथवा नहीं? इस प्रश्न का समाधान स्वयं यह साहित्य ही करेगा। अन्यथा—"मुखमस्तीति वक्तव्य दशहस्ता हरीतकी" यह न्याय तो सर्वत्र निःशुल्क उपलब्ध होता ही है।

जैसा कि आरम्भ में निवेदन किया जा चुका है, वेदतत्व, किंवा वैदिक साहित्य आज हमारे लिए एक असमाधेया पहेली बन गई है। अपने आपको शास्त्रों के मर्म्मज्ञ समझने वाले बड़े बड़े विद्वान् भी आज दिन वेदों के अर्थ करने में कुण्ठित देखे जाते हैं। इन्हीं सारी विषम समस्याओं को देख कर यथार्थ में अनुचित समझते हुए भी समयगति के अनुरोध से उचित मानते हुए हमने भाषा द्वारा वैदिकतत्वों को जनता के सामने रखने का प्रयास किया है। केवल संस्कृतज्ञ विद्वानों की वैदिक साहित्य की ओर विशेष रुचि नहीं देखी जाती। एवं

जो महानुभाव पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा से अलङ्कृत हैं, वे प्रायः अनार्ष पश्चिमी विचारों के उच्छिष्ट भोगी देखे जाते हैं। ऐसी दशा में इतर साधारण कोटि के मनुष्यों का तो कहना ही क्या है। आधुनिक विचार वाले सभ्य महानुभावों का धीरे धीरे यह निश्चय होता जारहा है कि भारतवर्ष आज की उन्नति के सामने सदा ही नत मस्तक रहा है। **विज्ञान-शिल्प-सभ्यता-संस्कृति-आदर्श** आदि भावों का इसी युग में विकास हुआ है, एवं इस का एकमात्र श्रेय पश्चिमी विद्वानों को ही है। हम भी इन विचारों से आंशिक रूप से सहमत हैं। वास्तव में पश्चिमी जगत् ने अपनी **कर्मप्रवणता, अध्यवसाय, दक्षता, समय का सदुपयोग** आदि समुन्नतिमूलक सिद्धान्तों को अपनाते हुए इस क्षेत्र में आशातीत उन्नति प्राप्त करली है। इस सम्बन्ध में भी हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि केवल **भौतिक विज्ञान** को ही उन्नति का परम साधन मानने वाले पश्चिमी राष्ट्र क्षणिक अभ्युदय के मोह में पड़ कर उस शाश्वत **शान्तानन्द** से वञ्चित रहते हुए किसी दिन विनाश के गर्त्त में गिरेंगे। क्योंकि बिना आत्मज्ञान के केवल विज्ञान वास्तविक समुन्नति का कारण नहीं बन सकता। फिरभी वे जाग्रत हैं, हम सुप्त हैं, यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए। उन सभ्यराष्ट्रों की हम नकल करते हैं, परन्तु गुणों की नहीं, व्यसनों की। यही तो हमारे सर्वनाश का मूल कारण है। आज उदासीनता, आलस्य, दीनता, परावलम्ब आदि सद्गुणों को अपनाते हुए हम वर्त्तमान युग में उन से सभी बातों में पिछड़ गए हैं। यह सब कुछ समझते हुए भी, मानते हुए भी हम यह कदापि स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं हो सकते कि उन्नति का सेहरा एकमात्र पाश्चात्यों के मस्तक की ही शोभा बढ़ा रहा है। **विज्ञान-साहित्य-राजनीति-कला** आदि सभी विषयों में **महर्षियों** ने **विदितवेदितव्य** की उपाधि प्राप्त की थी, यह मानलेने में कुछ भी आपत्ति नहीं है।

हमारे देश की मनोवृत्ति का जब हम अध्ययन करते हैं तो आत्मा कम्पित हो-जाता है। सम्पूर्ण विश्व को **कृतज्ञता** का पाठ पढ़ाने वाले इस देश ने कब से **कृतघ्नता** को अपनाया, यह जानना कठिन है। आज इसी देश में ऐसी ऐसी विभूतिएं विद्यमान हैं, जिन

का समकक्ष सम्भवतः अन्य देशों में न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु इस कृतघ्न देश की कृतघ्नता ने उन विभूतियों के लाभ से हमें वञ्चित कर रक्खा है। हमारी अविद्या की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। यदि कोई पश्चिमी विद्वान् भारतीय विद्वान् के प्रति, अथवा साहित्यांश के प्रति अपनी सम्मति प्रकट करता है, तब हमारी आंखें खुलती हैं। अमुक विषय उपादेय है, अथवा अनुपादेय? पश्चिमी विद्वानों की सम्मति मांगिए, तभी सफलता मिलेगी। कैसी अविद्या! कितनी विडम्बना! एक बार स्व० जे० एम० सेन गुप्ता ने गान्धी-जयन्ती के अवसर पर भारतीयों की उक्त मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा था कि—"जखून एई पश्चिमेरा आमादेर चोखे आंगुल दिए देखे दाय, तखून आमरा बुझि एई बड़ो लोक"। अर्थात् हमारे नेता कितने ही बड़े विद्वान्, अथवा महात्मा क्यों न हों, जब तक ये पश्चिमी लोग हमारी आंखों में अंगुली दे देकर हमें यह न बता दें, तब तक (उनका महत्व) हमारी समझ में नहीं आता। यद्यपि हमारी दृष्टि में भारतीय-साहित्य के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों की सम्मति का कोई महत्व नहीं है। तथापि लोकरुचि को सम्मुख रखते हुए हम यह आवश्यक समझते हैं कि पश्चिमी विद्वानों को ही सर्वेसर्वा मानने वाले उन भ्रान्त भारतीय पथिकों के भ्रम निवारणार्थ उन्हींके आराध्य विद्वानों की कुछ एक सम्मतिएं इस सम्बन्ध में उद्धृत की जांय।

भारतीय साहित्य के अनन्यभक्त स्वनामधन्य माननीय मि० क्रोझर (Mr. Crozor), दार्शनिकतत्ववेत्ता सर्वश्री मि० शॉपनहार (Mr Shapanhar), इतिहास लेखक कर्नल टाड साहब (Col. Todd), डाक्टर साइलस (Dr. Syles), मि० गौस (Mr Gose), मि० थार्नटन (Mr. Thornton), अध्यात्मशास्त्रवेत्ता अमेरिकन विद्वान् एमर्सन (Emerson) सुप्रसिद्ध विकासवादी माननीय हक्सले (Huxlay), माननीय जर्म्मन विद्वान् मि० शेगल (Mr. Shaigal), डा० एलेग्झेन्डर (Dr Alexander), सर विलियमजोन्स (Sir William-Jones), मि० बाल (Mr. Ball), रास्को (Mr. Rasko), प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात (Socrates), सुप्रसिद्ध रिपब्लिक (Republic) ग्रन्थनिर्म्माता दार्शनिक विद्वान्

प्लेटो (Plato), पाइथागोरस (Pythagoras), प्रो० विल्सन (Prof. Wilson), डा० सील (Dr Seal), भट्टोपाह्व मेक्समूलर (Maxmuler), एरिस्टाटल (Aristote), मि० झिनो (Mr. Jhino), सर्वश्री सिसरो (Cicero), मि० पिकाक (Mr. Peacock), सर डब्ल्यूजोन्स (Sir. W Jonos), डा० वेलेन्टिन (Dr. Walantin), प्रो० बॉप (Bopp), मिस कार्पेन्टर (Miss. Carpenter), मि० ग्रिफिथ (Mr Griflith), डा० एनेपिल (Dr Anapil), प्रो० वेलेस (Pro. Walace), आदि कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने भारतवर्ष को सभी विद्याओं में अपना परम गुरू माना है। उन महापुरुषों को यह स्वीकार करने में जरा भी आपत्ति नहीं है कि "पश्चिमी देशों में आज जो कुछ विद्या का विकास देखा जाता है, वह एकमात्र भारतवर्ष की असीम उदारता का ही फल है। भारतीय साहित्य का आंशिकरूप से मन्थन करने वाले उन सत्यनिष्ठ पुरुषपुङ्गवों ने इस देश के प्रति, एवं यहां के ऋषियों के प्रति जो स्पष्ट एवं सत्य उद्गार प्रकट किए हैं, पथभ्रष्ट भारतीयों के लिए वे सन्मार्ग प्रदर्शक आलोक हैं। सभी विद्वानों के उद्धरण प्रकृत में उद्धृत नहीं किए जा सकते, उदाहरण के लिए कुछ एक निदर्शन ही उपस्थित कर देना पर्य्याप्त होगा।

१—सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च पण्डित लुई जेकोलिअट (Louis Jacolliot) अपने बाइबिल इन इण्डिया (Bible in India) नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—"Soil of ancient India cradle of humanity, hail! hail! Venerable and efficient Nurse! Whom centuries of brutal invasions have not yet buried under the dust of oblivion. Hail, father land of faith, of love, of poetry and of science! May we hail a revival of thy past in our western future."

१—अर्थात्—"हे प्राचीन भारत भूमि! हे मनुष्यजाति की आद्यजननि! तेरा जय जयकार हो। पूजनीया एवं समर्थ धात्रि! क्रूर परचक्रों की शताब्दियां भी तुझे आज तक विस्मृति की धूल में न दबा सकीं। माता तेरी जय हो! हे धर्म्म की, प्रेम की, कविता की, एवं विज्ञान की जन्मभूमि! हम तुझे प्रणाम करते हैं, और चाहते हैं कि तेरे भूतकाल का पुनरावर्त्तन हमारे पश्चिम के भविष्यकाल में हो"।

२—एक दूसरा फ्रेञ्च विद्वान पं० क्रोझर (Crozor) लिखता है—"If there is a country on earth, which can justly claim the honour of having been the cradle of the human race or at least the scene of primitive civilization the successive developments of which is the second life of man that country assuredly is India."

३—पृथ्वी भर की प्राचीन सभ्यता, साहित्य एवं धर्म्म की छान बीन करने के पश्चात्—काउन्ट जॉन स्टजना (Count John's Ton) अपने दी ओरीजिन आफ हिन्दूइज्म (The Origin of Hinduism) ग्रन्थ में लिखते हैं—"What has been briefly stated here may be sufficient to show that no nation on earth can vie with the Hindus in respect to the antiquity of their religion and the antiquity of their civilization."

४—सुप्रसिद्ध तत्वज्ञ विक्टर कजिन (Victor Cousin) अपनी हिस्ट्री आफ माडर्न फिलॉसफी (History of Modern Philosophy) में लिखते हैं—"When

---

२—अर्थात्—"यदि पृथिवी पर ऐसा कोई देश है, जो कि न्यायपूर्वक सत्व का गौरव रखता हो तो वह मानवजाति का आद्य स्थान था। अथवा कम से कम उस प्राथमिक सुधार का आद्यस्थान था, जिस सुधार की क्रमशः उन्नति होना ही मानवजाति का परिवर्त्तन है तो वह देश निःसन्देह भारतवर्ष ही है"।

३—अर्थात्—"यहां जो कुछ संक्षेप से कहा गया, वह यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त है कि पृथिवी पर प्रतिष्ठित कोई भी राष्ट्र हिन्दुओं के धर्म्म की प्राचीनता, एवं उन की सभ्यता की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्द्धा (बराबरी) नहीं कर सकता"।

४—अर्थात्—"जब हम भारतवर्ष के काव्य एवं वेदान्त-ग्रन्थों का अवधानपूर्वक अध्ययन करते हैं तो हमें उक्त ग्रन्थों में इतने और ऐसे गम्भीर सत्य प्राप्त होते हैं कि (इनके सामने) पाश्चात्य प्रतिभाशक्ति की "मसजिद तक की दौड़" हमें अतितुच्छ प्रतीत होती है, एवं हमें पूर्व (भारत) के सामने घुटनों के बल झुकना पड़ता है, साथ ही में मनुष्यजाति के इस आद्यस्थान में उच्चातिउच्च तत्वज्ञान की जननी भूमि का परिचय मिलता है"।

we read with attention the political and philoso hical monuments ....of India we discover there so many truths, and truths so profound, and which make such a contrast with the meanness of the results at which the European genius has sometimes stopped, that we are constrained to bend the knee before that of the East and to see in this cradle of human race the native land of the highest philosophy."

५— कर्नल टाड़ साहब (Col. Todd) अपने राजस्थान (Rajasthan) में लिखते हैं—"Where can we look for sages like those whose systems of philosophy were the prototypes of those of Greece to whose works Plato, Thales and Phythagoras were disciples? Where shall we find astronomers whose knowledge of the planetary system yet excites wonder in Europe, as well as the architects and sculptors whose works claim our admiration and the musicians who could make the mind oscillate from joy to sorrow, from tears to smiles.

६—भारतवर्ष के इतिहास की खोज करने वाले एक फ्रेञ्च इतिहासज्ञ का मत है कि-"India is the world's cradle; thence it is, that the common mother

---

५—अर्थात—"हम उन ऋषियों को अन्यत्र कहां पा सकते हैं, जिनके कि दर्शनशास्त्र ग्रीस के आदर्श थे। जिनके ग्रन्थों के प्लेटो, थेलस और पायथागोरस शिष्य थे। हम उन ज्यौतिषियों को कहां पासकते हैं, जिन का ग्रहमण्डलसम्बन्धी ज्ञान आज भी योरोप में आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है। हम उन कारीगरों एवं मूर्त्तिकारों को कहां पासकते हैं, जिनके कार्य हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। हम उन गायकों को कहां देख सकते हैं, जो मन को आनन्द से दुःख में दौड़ा सकते हैं, एवं आंसुओं को मुस्कराहट में बदल सकते हैं।"

६—अर्थात्—"भारतवर्ष जगत् की उत्पत्ति का आदिस्थान है। इस सर्वसाधारण की मातृभूमि ने यहीं से पश्चिम की अन्तिम सीमा तक अपनी सन्तान को भेजा है, एवं "अपना उत्पत्ति स्थान भारतवष ही है" ऐसा कभी न मुर्झाने वाला प्रमाण देते हुए उसने अपनी भाषा, कायद, नीतितत्व, साहित्य, एवं धर्म्म का हमें हकदार बनाया है"।

in sending forth her children even to the utmost West, has in unfading testimony of our origin bequeathed us the legacy of her language, her laws, her moral, her literature and her religion."

७—यही फ्रैञ्च विद्वान् आगे जाकर फिर कहता है—"Can there be any absurdity in the suggestion that India of six thousand years ago 'brilliant' civilized, ever flowing with population, impressed upon Egypt, Persia, Judia, Greece and Rome, a stamp as ineffaceable impression as profound, as those last have impressed upon us?"

८—औपनिषद तत्वज्ञान के सम्बन्ध में अपने पक्षपात रहित सत्यविचार प्रकट करते हुए पण्डित पालड्यूसन (Polldusion) कहते हैं—"Philosophy of Gita begins where the English Philosophy ends."

९—सुप्रसिद्ध जर्म्मन विद्वान् शॉपनहार (Shopanhar) अपनी वल्ट आल्स-विली वर्स्टीलन् (Welt Als Wille Vorstellung) नामक जर्म्मन् ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखते हैं—"In the whole world there is no study, do beneficial and so elevating as that of the Upnishadas. It has been the solace of my life, it will be the solase of my death."

७—अर्थात्—"तेजस्वी (Brilliant), सुसभ्य एवं जनसमूह परिप्लुत (आज से) ६ हजार वर्ष पूर्व के भारतवर्ष ने मिश्र, ईरान, जूडिया, ग्रीस, एवं रोम देशों पर अपना उतना ही गहरा एवं अमिट प्रभाव जमाया था, जितना कि इन देशों ने हम पर जमाया था, क्या यह कहने में कोई बेहूदगी होगी ? (नहीं)"।

८—अर्थात्—"जहां अंग्रेजी तत्वज्ञान का अन्त होता है, वहां गीता के तत्वज्ञान का आरम्भ होता है"।

९—अर्थात्—"सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान और कोई अध्ययन लाभप्रद एवं उन्नतिप्रद नहीं है। वह (उपनिषदों का अध्ययन) मेरे जीवन की शान्ति रही है, एवं आगे भी मेरे जीवन की शान्ति रहेगी"।

१०—काउन्ट जॉन स्टर्जना (Count John Stiernas) कहते हैं—"But if it be true that the Hindus more than 3000 years before Christ, according to Baill's calculation, had attained so high a degree of astronomical and geometrical learning how many centuries earlier must be the commencement of their culture have been, since the human mind advances only step by step in the path of science."

११—एक अङ्गरेज इतिहासवेत्ता का मत है कि—"Hindu civilization is the earliest civilization in the world."

१२—सुप्रसिद्ध अमेरिकन अध्यात्मशास्त्रवेत्ता इमर्सन (Emerson) ने भारत के तत्वज्ञान के प्रकाश को पश्चिमी देशों में फैलने की उत्कट आकाङ्क्षा प्रकट करते हुए कहा है-"I look for the hour when that supreme beauty which ravished the souls of those Eastern men and through their lips spoke oracles to all times, shall speak in the West also."

१०—अर्थात्—"यदि यह बात सच है कि हिन्दुओं ने बेली (Baille) की गणनानुसार ईसा (Chsist) के ३००० (तीन हजार) वर्ष पहिले ज्यौतिष और भूमिति के ज्ञान में इतने ऊंचे दर्जे की पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी तो उन की सस्कृति का आरम्भ इस के (ईसा के) कितनी शताब्दियों पहिले होना चाहिए—(यह बात यह सिद्ध करने के लिए प्रर्य्याप्त है कि भारतवर्ष का साहित्यज्ञान ईसा से हजारों वर्ष पूर्व ही उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच चुका था) क्योंकि मानवीय मन विज्ञान के पथ पर धीरे धीरे ही आगे बढ़ता है"।

११—अर्थात्—"हिन्दू सभ्यता संसार में पहिली सभ्यता है"।

१२—अर्थात्—"मैं उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा हूं, जब कि परमात्मज्योति पश्चिम में भी चमकेगी, जो कि पूर्व के लोगों के आत्माओं को (सदा) परमात्मा में निमग्न रखती है, और (जिस आत्मज्योति के प्रभाव से) हर घड़ी उनके होठ देववाणी (संस्कृत-भाषा) बोलते रहते हैं"।

१३—डॉक्टर एलेग्झैंडर (Alexander) भारतोय तत्वज्ञान की व्यापकता एवं विशाज्ञता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"Hindu Philosophy was so comprehensive that counterparts of all systems of philosophy were to be found in it."

१४—जान स्टर्जन (John Stjeina) अपनी विल्डम आफ दी एन्शेन्ट इन्डिया (Wisdom of the Ancient India) में लिखते हैं—"Remarkable is the precision with which the immortality of the soul and its existence when separate from the body, is expressed in the sacred writings of the Hindus, and not merely as philosophical proposition, but as a doctrine of religion. In this respect the Hindus were far in advance of the philosophers of Greece and Rome who considered the immortality of the soul as problematical."

१५—यशोमूर्त्ति जर्म्मन पं० शेगेल (Shaigal) कहते हैं—"Even the loftiest philosophy of the Europeans, their idealism, appears in comparison with the abundant light and vigour of oriental idealism like a

---

१३—अर्थात्—"भारतीय तत्वज्ञान (हिन्दूतत्वज्ञान) इतना विशाल है कि सब प्रकार के युरोपियन तत्वज्ञान के प्रतिरूप इस में मिलते हैं"।

१४—अर्थात्—"हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों में आत्मा का अमरत्व, एवं शरीर से पृथक् होने पर उस का (नित्य) अस्तित्व विशुद्धता से केवल तत्वज्ञान (Philosophy) की रीति से ही नहीं समझाया गया है, अपितु धार्म्मिकतत्वों से भी समझाया गया है-(धर्म्माचरण द्वारा उसे व्यावहारिक रूप भी दिया गया है)। इस बात में हिन्दूलोग ग्रीस एवं रोम देशों के तत्वज्ञानियों से बहुत बढ़े चढ़े थे, जो कि आत्मा के अमरत्व को अनिश्चित मानते थे"।

१५—अर्थात्—"युरोपियनों का सर्वोच्च तत्वज्ञान, उन का भावप्राधान्यवाद पूर्वीय देशों के विद्वानों के भावप्राधान्यवाद (Idealism) के प्रखर प्रकाश एवं शक्ति के सामने उसी प्रकार तुच्छ है, जैसे दोपहर के सूर्य के स्वर्गीय प्रकाश के साम ने आग की जरा सी, और कमजोर चिनगारी"।

feeble promethean speck in the full flood of the heavenly glory of the noonday sun-faltering and feeble and ever ready to be extinguished."

१६—प्रोफेसर वेबर साहब (Bewar) ने अपनी हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर (History of Sanskrit Literature) में हिन्दूतत्व ज्ञान की, उस की विशाल गहनता की, उस की सर्वोच्चता की बड़ी प्रशंसा की है। आप हिन्दूतत्वज्ञान के सम्बन्ध में लिखते हैं—"It is in this field and that of Grammar that the Indian mind attained tne highest pitch of its marvellous featality."

१७—श्रीमती एनी बेसेन्ट (Anne Besant) कहतीं हैं—"India Psychology is a far more perfect science than European Psychology."

१८—डाक्टर एनफिल (Enfil) अपनी हिस्ट्री आफ फिलॉसफी(History of Philosophy) में लिखते हैं—"We find that it (India) was visited for the purpose of acquiring knowledge by Pythagoras, Anaxarches, Pyrrho, and others who afterwords became eminent philosophers in Greece."

१९—एक स्वेडिश काउन्ट (Count) का कथन है—"Pythagoras and Plato hold the same doctrine that of Pythagoras being probably

---

१६—अर्थात्—"इस (तत्वज्ञान) क्षेत्र में, एवं व्याकरण में हिन्दुओं ने अपनी आश्चर्यकारिणी उत्पादक बुद्धि की सर्वोचता प्राप्त की है"।

१७—अर्थात्—"हिन्दूमानसशास्त्र युरोपियन मानसशास्त्र से कई गुना अधिक पूर्ण विज्ञान है"।

१८—अर्थात्—"हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में पायथागोरस (Pythagoras) और पायरो (Pyrrho) ज्ञान प्राप्त करने के लिए आए थे। ये महानुभाव ग्रीस के नामाङ्कित तत्वज्ञानी होगए हैं"।

१९—अर्थात्—"प्लटो और पायथागोरस दोनों एक ही सिद्धान्त मानते हैं, जो कि सिद्धान्त हिन्दुस्तान से लाया गया है। पायथागोरस ने अपने तत्वज्ञान के अभ्यास को पूर्ण करने के लिए हिन्दूस्तान में यात्रा की थी"।

derived from India whither he travelled to complete his philosophical studies."

२०—प्रॉफेसर शेगेल (Shegal) कहते हैं—"The doctrine of transmigration of souls was indigenous to India and was brought into Greece by Pythagoras."

२१—मि० कालब्रुक (Callbrook) कहते हैं—"The Hindus were in this respect the teachers and not the learners."

२२—एक फ्रेञ्च पण्डित का कथन है—"The traces of Hindu philosophy which appear at each step in the doctrines professed by the illustrious men of Greece abundantly prove that it was from the East came their science, and that many of them no doubt drank deeply at the principal fountain."

२३—प्रॉफेसर बॉप (Bopp) कहते हैं—"Sanskrit is more perfect and and copious than the Greek and Latin. At one time sanskrit was the one language spoken all over the world."

२०—अर्थात्—"पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुस्तान का है, एवं वह ग्रीस में पायथागोरस के द्वारा लाया गया"।

२१—अर्थात्—"इस बात में (तत्वज्ञान के सम्बन्ध में) हिन्दू गुरू थे, न कि शिष्य"।

२२—अर्थात्—'ग्रीस के सुप्रसिद्ध महानुभावों के द्वारा प्रकट किए सिद्धान्तों में पद पद पर हिन्दूतत्वज्ञान के चिन्ह मिलते हैं। उनसे यह बात सिद्ध होती है कि उन की विद्या पूर्वीय देशों से आई थी, एवं उन (विद्वानों में से) में से बहुतों ने मूलस्रोत से तत्वज्ञान का जलामृत पान किया था"।

२३—अर्थात्—"संस्कृत (भाषा) ग्रीक एवं लेटिनभाषाओं से अधिक पूर्ण एवं विशाल है। "……………" एक समय संस्कृत-भाषा सारे संसार में बोली जाती थी"।

२४—भारतवर्ष की प्राचीन स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए मि० थानट (Tharnat) कहते हैं—"The ancient state of India must have been one of extraordinary magnificence."

२५—संस्कृत साहित्य के अनन्य उपासक सर्वश्रीमेक्समूलर (Muxmuller) जो कि अपने आपको—"शर्म्मएय-(जर्म्मन)-देशनिवासी भट्ट मोत्तमूलर शर्म्मा" इस उपाधि से सम्बोधित करने मे गौरवान्वित समझते हैं) का नाम कौन नहीं जानता। आपने संस्कृत साहित्य में बड़ा परिश्रम किया है। प्रायः सभी वेद्ग्रन्थों पर आपने अंग्रेजी में कुछ न कुछ लिखा है। संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए आप कहते हैं—" Although there is hardly any department of learning which has not received new light and new life from the ancient literature of India, yet no where is the light that comes to us from India so important, novel, and so rich as in the study of the religion and mythology.

२४—अर्थात्—"भारत की प्राचीन स्थिति असाधारण रूप से उत्कृष्ट थी"।

२५—अर्थात्—"यद्यपि विद्या का कोई विभाग ऐसा नहीं है, जिस ने भारत के प्राचीन साहित्य से नया प्रकाश और नवीन जीवन प्राप्त न किया हो, तथापि वह प्रकाश जो कि भारतवर्ष से हमारे पास आता है, वह अन्य विषयों में इतना महत्वपूर्ण, नवीन एवं विशाल नहीं है, जितना कि धर्म्म और माइथालॉजी (Methologi)—असदाख्यानविज्ञान—(मिथ्या-कथाओं द्वारा सत्यविज्ञान प्रकट करने वाला ज्ञान ही माइथालाजी है, अवश्य ही 'माइथा' शब्द "मिथ्या" शब्द का विकृतरूप है) के अध्ययन में है। (अर्थात् हमारे पास अभी भारतवर्ष का धर्म्मसम्बन्धी, एवं माइथालॉजी सम्बन्धी ज्ञान ही आपाया है। भारत की शेष ज्ञानविभूति से अभी तक हम वञ्चित हैं)"।

२६—सुप्रसिद्ध साहित्य सेवी स्वनामधन्य प्रॉफेसर मेगडानल्ड (Megdanald) (जो कि अपने आपको मुग्धानल नाम से सम्बोधित करते हैं) कहते हैं—"The intellectual debt of Europe to sanskrit literature has undeniably great. It may perhaps be come greater still in the years that one to come."

२७—काउन्ट जॉन स्टर्जना (Count John Stirjana) कहते हैं—"The litrature of India makes us acquainted with a great nature of past ager, which will always occupy a distinguished place in the history of the civilization of mankind."

२८—प्रॉफेसर हीरेन (Heeren) कहते हैं—"The literature of sanskrit language incontestally belongs to a highly cultivated people, when we may with great reason consider to have been the most in formed of all the east. It is at the same time scientific and a poetic literature. Hindu literature is one of the richest in prose and poetry."

२६—अर्थात्—"संस्कृत साहित्य का यूरोप पर जो बौद्धिक ऋण है, वह बहुत भारी है। शायद भविष्य में यह ऋण और भी और भी अधिक होजाय"।

२७—अर्थात्—"भारतवर्ष का साहित्य परिचय भूतकाल के एक महाराष्ट्र के साथ हमारा परिचय कराता है, जिस साहित्य ने कि हरएक शाखा का ज्ञान प्राप्त किया था, एवं जो मानव जाति की सभ्यता में सदा के लिए एक महत्वपूर्ण आसन (प्रतिष्ठा) पर विराजमान रहेगा"।

२८—अर्थात्—"संस्कृत साहित्य निश्चितरूप से ऊंचे दर्जे के सुसभ्य लोगों का साहित्य है। इन लोगों को हम पूर्वीयदेशों के सब लोगों से अधिक ज्ञानवान् कह सकते हैं। यह साहित्य वैज्ञानिक एवं कवितायुक्त है। हिन्दू साहित्य गद्य और पद्य में ऊंचे से ऊंचे साहित्य में से है"।

२९—डा० वेलेन्टिन (Ballantyne) कहते हैं—"Sanskrit is the original source of the Europen languages of the present day. Sanskrit is the mother of all Aryan languages."

३०—संस्कृत साहित्य की विशालता का परिचय देते हुए प्रॉफेसर मेगुडानल्ड (Magdanald) कहते हैं—"That the sanskrit literature in quantity exceeds that of Greece and Rome put together.

३१—इसी सम्बन्ध में प्रो० मेक्समूलर साहब (Maxmuler Sahib) कहते हैं—"The number of sanskrit works of whfch M.S.S. are still in existence amounts to ten thousands. This is more I believe than the whole classical literature of Greece and Italy put together."

३२—माननीय सर विलियमजोन्स (Sir William Jones) तो यहां तक स्वीकार करते हैं कि—"अमरकीर्त्ति न्यूटन (Newton) के यश को बिलकुल कम न करते हुए मुझे यह कहना पड़ता है कि न्यूटन द्वारा आविष्कृत सब तत्व हिन्दूतत्वज्ञान में मिलते हैं।"

२९—अर्थात्—"वर्त्तमान की सब युरोपीय भाषाओं का मूल संस्कृत ही है। ....संस्कृत सब आर्य्यभाषाओं की माता है"।

३०—अर्थात्—"संस्कृत साहित्य संख्या में ग्रीस एवं रोम दोनों देशों के संयुक्त साहित्य से भी ज्यादह है"।

३१—अर्थात्—"संस्कृत ग्रन्थों की संख्या, जिन की प्रतियां अब तक मिली हैं, लगभग १० हजार हैं। यदि ग्रीस एवं इटली के साहित्य को मिला लिया जावे, तब भी शायद यह इस से ज्यादह निकलेंगी"।

३३—अमेरिका येल विश्वविद्यालय के माननीय प्रेसीडेन्ट डा० साइलस (Syles) संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर इससे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्हें " आडम " की पुस्तकें भारतवर्ष में उपलब्ध होने की सम्भावना जान पड़ी। इसी सम्भावना से प्रेरित होकर उन्होंने उनकी खोज के लिए सर विलियम जोन्स से प्रार्थना की थी।

३४—फ्रेञ्च महापुरुष पायरी लॉटे (Pieree Lati) ने कॉमिटि फ्रेङ्को हिन्डो (Comiti Franco Hindow) नामक संस्था के प्रेसीडेन्ट को भारतमाता के लिए अपने निम्न लिखित परमपूज्य भाव प्रकट किए थे—

"हे प्राचीन भारत भूमि! हे सकल तत्वज्ञान एवं कलाकौशल की आद्य जननि! मैं तुझे बड़े आदर, बड़े प्रेम, एवं पूज्यभाव से घुटने टेक कर नमस्कार करता हूं"।

३५—महापुरुष ईसा के ६ हजार वर्ष पहिले एजेकिल (Ajakil ने कहा था— "And, below the glory of the God of Israel came from the way of the East'

(देखो! इस्राएल के ईश्वर का तेज पूर्व की तरफ़ से आया)। मीमांसा कीजिए यह पूर्वीय देश कौन सा था? क्या वह भारतवर्ष नहीं था, था और अवश्य था। सुप्रसिद्ध बंगाली इतिहास लेखक पण्डित सत्यचरण शास्त्री महोदय ने "हितवादी" में अपने एक गवेषणापूर्ण निबन्ध से यह सिद्ध किया है कि "आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारत वासियों ने पूर्वीय एवं पश्चिमीय कई राष्ट्रों में धर्म्मोपदेशक भेजकर अपने धर्म्म, तत्वज्ञान, एवं साहित्य का प्रचार किया था, एवं उन्हों ने कई राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था"

यह तो हुई भारतवर्ष के साहित्य की चर्चा। अब थोड़ी देर के लिए आचार-व्यवहार पर भी ध्यान दीजिए। यद्यपि यह ठीक है कि इस २० वीं शताब्दी का भारत अवश्य ही अपने

आदर्श से पिछड़ गया है, परन्तु यह किस की कृपा है ? इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत की इस हीनदशा का एकमात्र कारण उन कुटिल राजनैतिक विद्वानों की कुटिलता ही है, जिन का कि एकमात्र उद्देश्य अपनी अर्थलालसा को तृप्त करना है। हमारे उन अबोध बालकों को आज आरम्भ से ही यह सिखलाया जाता है कि—"तुम्हारे पूर्वज असभ्य थे, जंगली थे, लौह, ताम्र, अग्नि, सूर्य्य आदि जड़ पदार्थों के उपासक थे, विज्ञानशून्य थे। तुम्हें सर्वप्रथम सत्यता का पाठ हम पढ़ा रहे हैं। हमारे संसर्ग से तुम मानवजीवन के रहस्य को समझ रहे हो। तुम्हारे पास अपने घर क कोई मौलिक साहित्य नहीं है"। कहना नहीं होगा कि इस भीषण शिक्षायन्त्र से यन्त्रित, साथ ही में कुछ एक भौतिक सर्वनाशक आविष्कारों से उपलालित हमारे यह होनहार युवक अपने मौलिक साहित्य से वञ्चित रहते हुए आदर्श को भुलाते जारहे हैं। उन्हीं राजनैतिकों की कृपा से अर्थसमस्या को हल करने में अहोरात्र त्रस्त भारतवर्ष के पास आज इतना समय ही नहीं है कि वह अपनी प्राचीन संस्कृति के दर्शन कर सके। हमें अपने बचपन की उन घटनाओं का अच्छी तरह स्मरण है, जो कि भारत की वास्तविकता के बचे खुचे आलोक थे। लोग हरे वृक्ष के नीचे खड़े रह कर शपथ खाना पाप समझते थे, परसम्पत्ति का अपहरण करना आदर्श के विरुद्ध मानते थे। जो व्यक्ति अपने मुख से एक बार जो कुछ कह देता था, उसे यथाशक्ति निभाने में वह सदा सतर्क रहता था। इन २० वर्षों के भीतर भीतर इस देश के आदर्श का जो पतन हुआ है, वह अवश्य ही हमारे सर्वनाश की पूर्वसूचना है। आज लिखित स्टाम्पों का भी कोई मूल्य नहीं। असत्यमार्ग को अपनाना आज बुद्धिमानी समझी जारही है। एक दूसरे का सर्वस्व स्वाहा करना आज का आदर्श बन रहा है। क्यों ? उत्तर वही। जब तक उक्त महापुरुषों के द्वारा आविष्कृत उक्त जहरीले गेस का प्रभाव इस देश में न फैला था, तब तक यह देश अपने आदर्श में कैसा बढ़ा चढ़ा था ? इस का व्यवहार कितना सत्य था ? इन प्रश्नों का समाधान उन पश्चिमी विद्वानों से पूछिए, जिन्होंने पक्षपात रहित बन कर इस सम्बन्ध में अपने सत्य-विचार प्रकट किए हैं।

१—सुप्रसिद्ध विद्वान् स्टेबो (Stabo) कहते हैं—"They are so honest as neither to require locks to their doors not writings to bind their agreements."

२—एपिक्टेटस (Apicktatus) के सुयोग्य शिष्य एरियम (Arrian) जो दूसरी सदी में हुए हैं, लिखते हैं—"No Indian was ever known to till the untruth."

३—सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूयेनसांग लिखते हैं—"The Indians are distinguished by the straighi forwardness and honesty of their character. With regard to riches, they never take any thing unjustly with regard to justice, they make even excessive can cessions.

४—तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले मि० मार्को पोलो (Marco Polo) कहते हैं—"You must know that these Brahmins are the best merchants in the world and the most truthful, for they would not till a lie for anything on earth."

५—सरजॉन माल्कम साहब (Sir John Malcom Sahib) लिखते हैं—"Their truth is as remarkable as their courage."

१—"वे (भारतवासी) बड़े ईमानदार हैं। न तो उन्हें अपने दर्वाजों के ताले लगाने पड़ते हैं, एवं न दस्तावेजों के लिए लेख लिखना पड़ता है"।

२—"कोई हिन्दुस्तानी असत्य बोलता हुआ न जाना गया"।

३—"भारतवासी अपनी सरल प्रकृति एवं ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हैं। धन के सम्बन्ध में यह बात है कि वे अन्याय से कोई चीज नहीं लेते। न्याय के मामलों में वे बहुत रियायत करते हैं"।

४—"आप को जानना चाहिए कि ये ब्राह्मण संसार में सब से अच्छे व्यापारी, एवं सब से अधिक सच्चे हैं। वे इस पृथिवी पर की चीज के लिए झूठ नहीं बोलते"।

५—"उन का सत्यभाषण उतना ही उल्लेखनीय है, जितना कि उन का धैर्य्य"।

६—कई वर्षों तक हिन्दू समाज में रहने वाले, उन की सभ्यता से पूर्ण परिचय रखने वाले कर्नल स्लिमन (Colonel Sleeman) लिखते हैं—"I have had before me hundreds of cases in which a man's property, liberty and life has dedended upon his telling a lie and he has refused to tell it."

७—प्रॉफेसर मैक्समूलर (Muxmuller) साहब लिखते हैं—"It was love of truth that struck all the peodle who came in contact with India, as the prominent feature in the national character of its in habitants. No one ever accused them of falsehood."

८—निबूर साहब (Neibuhr) कहते हैं—"The Indians are really the most tolerent nation in the word. They are gentle, virtuous, laborious and that, perhaps of all men, they are the ones who seek to injure their fellow-being in the least.

९—मि० कॉलेमन (Coleman) कहते हैं—"The sages and poets of India have inculcated moral precepts and displayee poetic ancient or modern date need be ashamed to acknowledge."

६—"मेरे सामने ऐसे हजारों मामले उपस्थित हुए हैं, जिनमें मनुष्य की जायदाद, स्वतन्त्रता एवं जिन्दगी उन के झूठ बोलने पर ही निर्भर थी, परन्तु उन्होंने झूठ बोलने से इन्कार किया"।

७—"भारतवासियों के राष्ट्रीय चरित्र में सत्यप्रेम एक ऐसी वस्तु थी, जिसने उन सब लोगों को मोहित कर दिया, जिन से कि भारत का सम्बन्ध हुआ"।

८—"हिन्दुस्तान संसार में सब से अधिक सहनशील राष्ट्र है। वे हिन्दुस्तानी सभ्य, प्रामाणिक एवं परिश्रमी हैं। एवं समग्र संसार के मनुष्यों में वे ही एक ऐसे हैं, जो अपने जीवधारी बन्धुओं को कभी कष्ट नहीं पहुंचाते"।

९—"भारतवासियों नें जो नैतिक आज्ञाएं जारी कीं हैं, तथा जैसा काव्य का सौन्दर्य प्रकट किया है, उसे स्वीकार करने में किसी भी आधुनिक अथवा प्राचीन राष्ट्र को न शर्माना चाहिए"।

१०—स्यामदेश का चीनी राजदूत खान थाई (Khan Thai) कहता है कि स्याम के राजा का सुवी (Suwe) नामक रिश्तेदार जो ईसवी सन् १२३१ में भारत यात्रा करने आया था, उसने भारत से लौटने पर राजा से रिपोर्ट की थी कि—"The Indians are straight forward and honest.

११—फायर जोडिन्स (Fire Zodens) कहते हैं—"That is people of India are true in speech and eminent in justice."

१२—चीन सम्राट याँगटी (Yangti) के राजदूत फीकू (Feitu) जो कि ईसवी सन् ६०५ में भारतवर्ष में आये थे, लिखते हैं कि—हिन्दूलोग अपनी पवित्र सौगन्द पर विश्वास करते हैं"।

१३—इडरीसी (Idrisi) अपने भूगोल में जो कि ११वीं शताब्दी में लिखा गया है, लिखते हैं—"The Indians are naturally inclined to justice and never depart from in it their actions. Their good faith, honesty and fidelity are well-know, and the are so famous for these qualities that people flock to their country from every side."

१४—सुप्रसिद्ध ग्रीक निवासी मेगेस्थेनिस (Megasthanese) कहते हैं कि—"भारतवासियों में दासत्व का अभाव था। यहां स्त्रियों का सतीत्व अलौकिक था। लोगों में अचल धैर्य था। वीरता में सब एशियावासियों में यह बढ़े चढ़े थे। वे बड़े

१०—"भारतवासी सरलप्रकृति, एवं ईमानदार हैं"।

११—"भारतवासी जुबान के सच्चे, एवं न्याय के लिए प्रसिद्ध हैं"।

१३—"भारतवासियों का स्वाभाविक झुकाव न्याय की ओर है। वे अपने कार्यों में कभी न्याय को नहीं छोड़ते। उन की सुश्रद्धा, प्रामाणिकता, एवं कर्त्तव्यपरायणता सुप्रसिद्ध है। इन सद्गुणों के लिए वे इतने प्रख्यात हैं कि हरएक प्रान्त से झुण्ड के झुण्ड लोग (आदर्श सीखने के लिए) उन के देश (भारतवर्ष) में आते हैं"।

गम्भीर शान्त एवं बड़े परिश्रमी थे। अच्छे कारीगर थे। वे शायद ही कोई मुक़दमा दायर करते थे। अपने देशी राजाओं के नीचे वे शान्तिपूर्वक रहते थे"।

१५—सर मॉनियर विलियम्म (Sir Maniyar Williams) लिखते हैं—"हिन्दूलोग किसी प्राणी का वध करना अच्छा नहीं समझते"।

१६—सर जॉन माल्कम (Sir John Malcom) हिन्दुओं के आदर्श से प्रभावित होकर कहते हैं—"सत्यप्रियता, एवं विश्वासपात्रता में संसार की कोई जाति हिन्दुओं की बराबरी नहीं कर सकती"।

१७—भारतवर्ष के गवर्नर जनरल लॉर्ड हेस्टिंगस (Lard Hastings) कहते हैं—"The Hindus are gentle, benevalent, more susceptible of gratitude for kindness shown to them than prompted to vengeance for wrongs inflicted, and as exempt from the worst propensities of human passion as, any people upon the face os the earth. They are faithfnl, affectionate, etc." Miuutes of evidence before the comm ttee of both honses of parliament March 8th 1813.

१७—अर्थात्—"हिन्दू लोग विनम्रस्वभाव वाले, दानशील, एवं अपने उपकारक के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ होते हैं। साथ ही में इनके साथ यदि कोई अनुचित, एवं अन्यायपूर्ण व्यवहार कर लेता है तो (अपनी स्वाभाविक उदारता के कारण) यह उसे बदला लेने की भावना नहीं रखते। वे (हिन्दू) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, अभिमान आदि दुर्गणों से सर्वथा अलग रहते हैं। विश्व में उक्त गुणों में जो जाति सर्वोच्च होसकती है, उसके साथ इस हिन्दू-जाति की तुलना की जासकती है। वे भक्त (वफ़ादार कृतज्ञ), मनुष्य से प्रेम करने वाले होते हैं। (पार्लियामेंट, दोनों हाउसेज (कॉमन्स एवं लार्ड्स) की कमेटी के सामने, ता० ८ मार्च-१८१३)"।

१८—विशॉप हेबर साहब (Bishop Habour Sahib) लिखते हैं कि—"जो लोग हिन्दुओं के साथ रहे हैं, वे यह कदापि नहीं कह सकते कि सभ्य मनुष्यों में होने वाले किसी आवश्यक सद्गुण से हिन्दू विहीन हैं"। आगे जाकर फिर यही महानुभाव कहते हैं—"I have found in India a race of gentle and temperate habits, with a natural talent and acuteness beyond the ordinary level of mankind."

१६—प्रो० मॉनियर विलियम (Pro. Mahiyor William) कहते हैं—"I have found no people in Europe more religious than the Hindoos"

२०—एक पाश्चात्य विद्वान् कहता है—"We are told by Greeian writers that the Indians were the wisest of nations"

२१—अकबर के दरबार के नवरत्नों में से प्रसिद्ध इतिहास लेखक सर्वश्री अबुल-फज़ल कहते हैं—"हिन्दू धार्मिक, नम्र, दूसरों के प्रति दया दिखाने वाले, न्याय-प्रेमी, कार्यकुशल, कृतज्ञ, सत्यप्रेमी, एवं व्यवहार के सच्चे हैं"।

२२—तेरहवीं सदी में शम्सुद्दीन अब्दुल्ला महोदय ने हिन्दुओं के सम्बन्ध में एक महान् मुसलमान का मत उद्धृत किया है। उसका सारांश यह है कि—"बालूरेत के कणों की तरह हिन्दुलोग संख्या में असंख्य हैं। वे धोखेबाजी, एवं अत्याचारों से सर्वथा मुक्त हैं, वे जीवनमरण से नहीं डरते"।

१८—अर्थात्—"भारतवर्ष में मुझे सुसभ्यता, सुशीलता, सदाचारभावों की प्रधानता रखनें वाली ऐसी जातिएं मिलीं हैं, जो कि मनुष्यजाति के साधारण धरातल से कहीं अधिक चतुर एवं उन्नत हैं"।

१९—"मैंने हिन्दुओं से अधिक धर्म्मात्मा मनुष्य यूरोप में नहीं देखे"।

२०—"हमें ग्रीस के लेखक कहते हैं कि हिन्दूलोग सब राष्ट्रों के लोगों से अधिक बुद्धिमान् हैं"।

पूर्व प्रदर्शित निदर्शनों से विज्ञ पाठकों को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि जिस भारतीय साहित्य को, विशेषतः वैदिक साहित्य को हमने केवल पूजन की सामग्री समझ रक्खी है, जिस के पारायणरूप पुण्यपाठ को ही हमने सर्वात्मना महत्व दे रक्खा है, उसी वैज्ञानिक साहित्य के आधार पर पश्चिमी विद्वान् दिन दिन नए नए आविष्कार करते जा रहे हैं, एवं उन के प्रभाव से संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित करते हुए सर्वत्र अपनी विजयपताका उड़ा रहे हैं। इसी सम्बन्ध में हमें एक घटना का स्मरण होता है। प्रसङ्गोपात्त प्रकृत में उसे उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

किंवदन्ती के आधार पर यह सुना गया है कि--"भूतपूर्व महाराज ग्वालियर अपने भृत्यवर्ग के साथ एक बार पश्चिमी देशों की यात्रा करने पधारे। इन के साथ एक संस्कृतज्ञ मद्रासी विद्वान् भी थे। अन्यान्यदेशों भ्रमण करते हुए उक्त महाराज जर्म्मन पधारे। और और द्रष्टव्य वस्तुओं के साथ साथ महाराज ने वहां की सुप्रसिद्ध "केसर लायब्रेरी" भी देखी। लायब्रेरियन सुव्यस्थित तत्तत् पुस्तकों को दिखलाता जाता था। महाराज को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि वहां संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ भारत की अपेक्षा अधिक संख्या में सुरक्षित हैं। अस्तु देखते देखते इन की दृष्टि सहसा एक सुवर्णमण्डित मञ्जूषा पर पड़ी। इन्होंने इसे खुलवाकर इसमें रक्खी पुस्तक देखने की इच्छा प्रकट की। लायब्रेरियन से उत्तर मिला—"क्षमा कीजिए! हमारी पार्लियामेन्ट के एक विशेष नियम के नियन्त्रण के कारण मैं इसे नहीं खोल सकता"। महाराज की अधिक जिज्ञासा देख कर इसने इस सम्बन्ध में केवल इतना सा कह दिया कि "इसमें बड़े उद्योग से अतुलद्रव्य खर्च कर के भारतवर्ष से लाई गई किसी वेद की शाखा है"। महाराज ने आगे कुछ न कहा। वापस लौट कर सीधे प्रेसीडेण्ट के बङ्गले पर पहुंचे, एवं वहां अपनी उक्त जिज्ञासा प्रकट की। फलतः महाराज के लिए पुस्तकालयाध्यक्ष को उक्त पुस्तक दिखलाने की आज्ञा मिल गई। भारतीय पण्डित साथ थे, परन्तु ठीक हमारे जैसे। उन्होंने महाराज के आदेश से ताड़पत्र पर लिखित उक्त पुस्तक के अक्षरों को पहिचानने का प्रयास किया, कुछ अंश के फोटू भी लिए। परन्तु वेदमर्म्मानभिज्ञ इन पण्डितजी के लिए उन

पङ्क्तियों को अज्ञातदशा में ही रह जाना पड़ा । बाद में वहीं किसी व्यक्ति विशेष से विदित हुआ कि उक्त पुस्तक में फ़ौलाद ढालने की विधि है।"

हा हतभाग्य भारत! क्या तेरी इस मौलिक
सम्पति से तेरी सन्तान भी कभी लाभ उठावेगी?

पश्चिमी विद्वानों के वैदिक साहित्यप्रेम की एक और प्रामाणिक घटना का हाल सुनिए। लेखक के गुरुवर **श्रीमधुसूदन**जी ओझा विद्यावाचस्पति स्वर्गीय जयपुरेन्द्र **श्री-माधवसिंह**जी महाराज के साथ **श्रीसम्राट्**महोदय की ताजपोशी के अवसर पर इंग्लैण्ड पधारे थे। आप के वैदिकविज्ञान सम्बन्धी धारावाहिक व्याख्यानों से वहां के विद्वान् बड़े ही चमत्-कृत हुए थे। वहां की घटनाओं को सुनाते हुए गुरुवर ने एक बार कहा था कि हमें न्याय-शास्त्र के उद्‌भट विद्वान्, एवं विशुद्ध संस्कृत में धारावाहिक बोलने वाले टामस (Thomas) साहब के साथ किसी समय **वैदिकपुस्तकप्रकाशनविभाग** देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय **मानवश्रौतसूत्र** (जो कि भारतवर्ष में अप्राप्त है) का प्रकाशन हो रहा था। यह देख कर हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि अनेक भद्र महिलाएं स्थिर एवं शान्तभाव से बड़ी सतर्कता के साथ उक्त ग्रन्थ का संशोधन कर रही हैं।

इधर हमारे देश की यह दशा है कि वैदिक ग्रन्थों के नाम से भी हम परिचित नहीं हैं। बम्बई यात्रा के अवसर पर एक ब्राह्मणश्रेष्ठ ने व्याख्यानों में शतपथब्राह्मण नाम के उल्लेख से हम से यह प्रश्न किया था कि यह ब्राह्मण जाति कहां रहती है? अधिक खेद का विषय तो यह है कि इस देश के प्रसिद्ध विद्वान् भी केवल **पौरुषेय-अपौरुषेय** के झगड़े में ही वेद की इतिकर्त्तव्यता समाप्त समझ लेते हैं। कितने ही विद्वानों के श्रीमुख से तो यह भी सुना गया है कि **वेद का भी क्या कभी अर्थ होता है? कभी नहीं। इस ईश्वर की वाणी के तो पारायणमात्र से ही हमारा कल्याण है।** शिव! शिव!! कितनी अविद्या! कैसा पतन!! विचित्र विडम्बना!!!

नवीनशिक्षादीक्षित भारतीयों के सन्तोष के लिए पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरण उद्धृत किए गए। अब संस्कृतज्ञ, किन्तु वैदिक साहित्य से प्रायः सर्वथा पराङ्मुख भारतीय विद्वानों के परितोष के लिए कुछ एक वैज्ञानिक निदर्शन बतलाना भी हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं। इन निदर्शनों से उन्हें यह विदित होगा कि वेदशास्त्र केवल पारायण की ही वस्तु नहीं है, अपितु उस में सब कुछ निहित है। यदि हम उसे यथावत् जानलें तो सब कुछ कर सकते हैं।

वैज्ञानिक तत्ववाद को कई शताब्दियों से भूले हुए विद्वत्समाज के कर्णकुहरों में जब हमारा "विज्ञान" शब्द प्रविष्ट होता है तो वे सहसा चौकन्ने होजाते हैं। न केवल चौकन्ने ही होजाते, अपितु इस विज्ञानसूर्य्य के प्रखर तेज से छिन्न भिन्न होने वाले अपने कल्पित गन्धर्वनगररूप तम की रक्षा के व्यर्थ के प्रयास में व्यस्त यह संत्रस्त पण्डित महानुभाव "अशक्तास्तत्पदं गन्तु ततो निन्दां प्रकुर्वते" इस न्याय का आश्रय लेते हुए "विज्ञान वाद तो नास्तिकों का मत है। विज्ञान से श्रद्धा नष्ट होजाती है। यह विज्ञानवाद अशास्त्रीय है", अपने यह उद्गार प्रकट किया करते हैं। कहना नहीं होगा कि उन के इन व्यर्थ के उद्गारों का शास्त्रीय दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। उन्हें शायद यह भ्रम होगया है कि विज्ञान से हम नास्तिकों द्वारा अभिमत **क्षणिकविज्ञानवाद** का निरूपण करते हैं। अथवा उन के भ्रम का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि कुछ समय पूर्व वेदों के बहाने भारतवर्ष के ही एक व्यक्तिविशेष द्वारा उक्त क्षणिक विज्ञानवाद का प्रचार हुआ है। उस अनधिकारी ने वेदों में तार (Telegraph), वायरलेस टेलीग्राफी (Wireless), फोनोग्राफ (Phonograph) आदि आविष्कारों की सत्ता सिद्ध करने में ही वेद का महत्व समझते हुए नित्यसिद्ध देवतावाद, अवतारवाद, प्रतिमापूजन, श्राद्धकर्म्म आदि विषयों को अवैदिक बतलाते हुए क्रियात्मक सनातनधर्म्म के उपहास की विफल चेष्टा की है। "संम्भव है हम भी विज्ञान के बहाने सनातनधर्म्म के उक्त सिद्धान्तों को अवैदिक बतलाने के लिए ही यह प्रयास कर रहे हों" यही उन के भ्रम का दूसरा कारण है। इस सम्बन्ध में अपने व्यक्तित्व का

स्पष्टीकरण करते हुए हम उन विद्वानों की सेवा में करबद्ध यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि न तो हमारा उद्देश्य वेदों में तार-टेलीफोन ही सिद्ध करना है। न हम क्षणिकविज्ञानवादी हैं, एवं न हम सनातनधर्म्म के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए ही आगे बढ़े हैं। श्रुति-स्मृति पुराण-निबन्ध-तन्त्र आदि ग्रन्थ हमारे लिए सर्वथा प्रमाण हैं। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "विज्ञानादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" "स एष आत्मा विज्ञानघनः" "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः" इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त स्थलों में जिस अभिप्राय से विज्ञानशब्द प्रयुक्त हुआ है, हमारे विज्ञान शब्द का वही तात्पर्य्य है। "सनातनधर्म्म के प्रत्येक सिद्धान्त की शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा मौलिक उपपत्ति बतलाना" ही हमारे प्रयास का चरम लक्ष्य है। अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए यह मान लीजिए कि हमारा यह वैज्ञानिक साहित्य सर्वथा कल्पित है। यदि ऐसे कल्पित साहित्य से भारतवर्ष में सनातनधर्म्म के सिद्धान्तों पर से उखड़ी हुई श्रद्धा पुनः प्रतिष्ठित होजाती है, दूसरे शब्दों में हमारे इस कल्पित शब्दाडम्बर से प्रभावित होकर जनता आप के धार्मिक सिद्धान्तों की सत्यता पर पूर्ण विश्वास करती हुई उन के अनुष्ठान में प्रवृत्त होजाती है तो भगवान् भर्तृहरि के निम्न लिखित सिद्धान्त के अनुसार आप इस साहित्य का उपहास करने का कोई अधिकार नहीं रख सकते—

> उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
> असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ (वाक्यपदी)

"मीमांसाशास्त्र सम्मत विषय की पूर्ण सङ्गति, प्रत्येक विषय की सिद्धि के लिए शास्त्रीय प्रमाणों का आश्रय, शास्त्रसिद्ध युक्तिवाद, एवं तर्कवाद द्वारा विषय की स्थापना, फलांश में जनता की आर्यसंस्कृति की ओर प्रवृत्ति, सनातनधर्म्म के प्रत्येक सिद्धान्त की पूर्ण पुष्टि" इन सब बातों के रहते हुए भी यदि अज्ञानतावश किन्हीं आंख वालों को यह साहित्य नास्तिकता फैलाने वाला ही प्रतीत होता है तो उन की चिकित्सा

स्वयं धन्वन्तरि भी नहीं कर सकते—"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः" जिस ईश्वर प्रजापति के हम (मनुष्य) अंश हैं, उस के साथ कर्म्म-ज्ञानयोग की समष्टिरूप बुद्धियोगनिष्ठा द्वारा अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेना ही हमारा परम पुरुषार्थ है। अपनी पुरुषार्थसिद्धि के लिए जिस विश्वेश्वर का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है, पहिले उस का यथार्थस्वरूप जान लेना भी आवश्यक कोटि में ही प्रविष्ट है। "उस विश्वेश्वर का यथार्थ स्वरूप बतलाते हुए, उस की प्राप्ति का उपाय बतला कर जीवात्मा के चरम लक्ष्य को सफल बनादेना" बस भारतीय वैदिक साहित्य का यही प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। विश्वेश्वर के स्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में प्रधानरूप से विश्व एवं ईश्वर यह दो तत्व विज्ञातव्य हैं। विशुद्ध आत्मतत्व ही महामाया के सम्बन्ध से सोपाधिक बनता हुआ विश्वोत्पत्ति का कारण बनता है। विश्व में रहने वाले पुरुष का उपास्य सोपाधिक विश्वात्मा ही बन सकता है। विशुद्ध आत्मा का शास्त्रमर्य्यादा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब इस सम्बन्ध में हमारे सामने दो प्रश्न रह जाते हैं। वह व्यापक आत्मा माया बल से सीमित बनता हुआ कैसे विश्वरूप में परिणत होगया? यही पहिला प्रश्न है। संहारकाल में यह विश्व कैसे पुनः विशुद्ध आत्मस्वरूप में परिणत हो जायगा? यही दूसरा प्रश्न है। दूसरे शब्दों में आत्मा विश्व कैसे बन गया, विश्व आत्मरूप में कैसे परिणत हो गया? यही प्रश्न हमारी जिज्ञासा को बलवती बनाते हैं। इन्हीं दोनों प्रश्नों के समाधान के लिए ऋषियों नें संचर एवं प्रतिसंचर नाम के दो पक्षों का समर्थन किया है। आत्मा विश्व कैसे बनगया? इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या संचरविद्या है। इसी को सर्ग, सृष्टि, उत्पत्ति, व्यक्ति आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है। विश्व कैसे आत्मरूप में परिणत हो जायगा? इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या प्रतिसंचरविद्या है। यही प्रतिसर्ग, विनाश, अव्यक्तभाव आदि विविध-नामों से व्यवहृत हुई है। संचरविद्या एकत्त्व को उद्देश्य मान कर नानात्त्व का विधान करती है, प्रतिसंचरविद्या नानात्त्व को उद्देश्य मान कर एकत्त्व का विधान करती है। "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" यह श्रुति "ब्रह्म ही सब कुछ है" इत्यादि रूप से एक ब्रह्म को उद्देश्य बतलाती हुई सर्वरूप

(नानारूप) विश्व का विधान करती हुई संचरविद्या का स्पष्टीकरण कर रही है। एवं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति "यह सब कुछ (दृश्यमान प्रपञ्चरूप विश्व) ब्रह्म है" इत्यादि रूप से सर्वरूप विश्व को उद्देश्य कोटि में रख कर इस के स्थान में एकत्व मूलक ब्रह्म का विधान करती हुई प्रतिसंचर विद्या का स्पष्टीकरण कर रही है। इसी प्रकार [१]"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च" (शत० ब्रा० ११।२।३।),–[२]"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" (ऋक् सं० ८।४।२९)–[३]"तमेकं सन्तं विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋक् सं० १।-१६४।४६)—[४]"पुरुष एवेदं सर्वम्" (यजुःसं० ३१।२।)–[५]"आत्मैवेदं सर्वम्" (छां० उप० ७।२३।२।)—[६]"आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्" (शत० १४।४।१)–[७]"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै०उप०२।१।), [८]"त्रीणि ज्योतींषि

१—"प्रजापति ही यह सब कुछ है, जो कि (नानारूप से) प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है।

२—"एक (ब्रह्म) ही यह सब कुछ बना हुआ है"।

३—"उसे एकरूप होते हुए (भी संचरपक्षानुसार) विद्वान् लोग अग्नि–यम–मातरिश्वा आदि नानारूप से व्यवहृत करते हैं"।

४—"पुरुष (अव्यय-अक्षर-क्षर पुरुष की समष्टिरूप षोड़शी पुरुष) ही यह सब कुछ (बन रहा) है"।

५—"आत्मा ही यह सब कुछ (बन रहा) है"।

६—"आत्मा ही (आरम्भ में एकरूप रहता हुआ विश्वदशा में) नाम–रूप–कर्म भेद से तीन स्वरुपों में परिणत हो रहा है"।

७—"उस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी (मिट्टी), पृथिवी से ओषधि (अन्न), ओषधि से रेत (शुक्र), रेत की आहुति से पुरुष उत्पन्न हुआ है"।

८—"वह षोडशी पुरुष (अपने से उत्पन्न विश्व के साथ) सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि अपनी इन भूतज्योतियों से, किंवा ज्ञानमय अव्यय, क्रियामय अक्षर, अर्थमय क्षर, इन तीन आत्मज्योतियों से युक्त होरहा है"।

सचते स षोडशी" (यजु०सं० ८।३६)-[9] 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (शत० १३।-२।२।१३)-[10] "अहं सर्वस्य प्रभवो, मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" (गीता० ......)-[11] "अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च" (गीता० १०।२०)-[12] "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गीता० ९।१०)-[13] "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय (गीता०-७।७) इत्यादि श्रुति-स्मृतिएं "ब्रह्म ही, किंवा आत्मप्रजापति ही विश्वरूप में परिणत हुआ है" इस सिद्धान्त का समर्थन करतीं हुईं संचरविद्या का प्रतिपादन कर रहीं हैं।

इसी प्रकार "[1]सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः" (शत० ब्रा० १।१।४)-"[2]सर्वं ह्ययमात्मा" (शत०४।२।२।१)-"[3]इमे लोकाः प्रजापतिः" (शत०७।५।१।२७)-"[4]प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवास" (शत० २।२।४।१)-"[5]रूपं वै नाम वै प्रजापतिः" (शत०२।२।७।१)

९—"(पञ्चकलअव्यय, पञ्चकलअक्षर, पञ्चकलक्षर, एककल किंवा निष्कल परात्पर इन १६ कलाओं से युक्त षोडशी प्रजापति से उत्पन्न) यह सम्पूर्ण विश्व व्याष्टि एवं समष्टि रूप से उभयथा षोडशकल है"।

१०—"मैं (अव्यय पुरुष) सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्तिस्थान हूं। मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है"।

११—"मैं भूतों का आदि, मध्य, एवं अन्त हूं"।

१२—"मेरी अध्यक्षता में प्रकृति (अक्षर) ही चराचर विश्व का निम्माण करती है"।

१३—"हे धनंजय ! (इस विश्व में) मुझ से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, अर्थात् मैं ही सब कुछ बन रहा हूं"।

१—"यह सब कुछ (दृश्यमान विश्व अन्ततो गत्वा) प्रजापति ही है"।

२—"यह सब कुछ (प्रलयदशा में) आत्मा ही है"।

३—"यह सातों लोक (प्रतिसर्गदशा में) प्रजापति है"।

४—"जब यह नानाभावरूप विश्व नहीं था तो उस समय प्रजापति ही एकरूप से विद्यमान था"।

५—"रूप एवं नामात्मक यह प्रपञ्च (प्रतिसञ्चरदशा में) प्रजापति ही है"।

"[६]एक उ वै प्रजापतिः" (कौ० २६।७)—"[७]त्रयं सदेकमयमात्मा" (शत० १४।५।१)—"[८]अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" (गीता० २।२८)—"[९]राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके" (गीता० ८।१८।) इत्यादि श्रुति-स्मृति वचन "सम्पूर्ण विश्व अन्ततो-गत्वा ब्रह्मरूप में ही परिणत हो जाता है" इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए प्रतिसंचर-विद्या ही वतला रहे हैं।

पूर्वोक्त निदर्शनों से कहना हमें यही है कि विद्याशास्त्र १आत्मविद्या, २विश्वविद्या भेद से दो भागों में विभक्त है। दोनों की समष्टि ही सर्वविद्या है। *हमारा वेदशास्त्र ही इस सर्वविद्या की मूलप्रतिष्ठा है। वेदशास्त्र में प्रधान रूप से उक्त दो विद्याओं का ही निरूपण हुआ है। प्रजापतिविद्या, उद्गीथविद्या, प्रणवविद्या, सामविद्या, परिमरविद्या, संवर्गविद्या प्रवर्ग्यविद्या, महदुक्थविद्या, महाव्रतविद्या, देवविद्या, भूतविद्या, संवत्सरविद्या, पृष्ठ-विद्या, अभिप्लवविद्या, परिप्लवविद्या, वषट्कारविद्या, मन्त्रविद्या, तन्त्रविद्या, त्राटक, यामल, डामर, ज्यौतिष, छन्द, आयुर्वेद, व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा, कल्प, योग आदि आदि अवान्तर सब खण्डविद्याओं का मूलस्तम्भ एकमात्र वेदशास्त्र ही है। इन सब खण्ड विद्याओं का उक्त आत्मविद्या एवं विश्वविद्या इन दो विद्याओं में हीं अन्तर्भाव है। इन दोनों में आत्मविद्या मौलिकविद्या है, विश्वविद्या यौगिकविद्या है। मौलिकतत्व को विज्ञानभाषा में

६—"(विश्वाभावकाल में) प्रजापति ही एक (रूप से विद्यमान) है"।

७—"प्रतिसञ्चरदशा में नाम-रूप-कर्म्ममयी तीनों विश्वकलाएं एक आत्मस्वरूप में हीं परिणत हो जातीं हैं"।

८—"सम्पूर्ण विश्व अन्त में अव्यय में ही लीन हो जाता है"।

९—"राज्यागमरूप प्रलय काल में यह सारा प्रपञ्च उस अव्यक्त नाम की प्रकृति में ही लीन हो जाता है"।

*इस विषय का विशद विवेचन "वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्" नाम के गद्यग्रन्थ (संस्कृतभाषामय) में देखना चाहिए। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

"ब्रह्म" कहा जाता है, अतएव तत्प्रतिपादिका आत्मविद्या को हम "ब्रह्मविद्या" कह सकते हैं। यौगिकतत्व को "यज्ञ" कहा जाता है। फलतः तत्प्रतिपादिका विश्वविद्या को "यज्ञ-विद्या" कहना अन्वर्थ बन जाता है। सृष्टिदशा में ब्रह्म ही यज्ञरूप में परिणत होता है, प्रलय-दशा में वही यज्ञ ब्रह्मरूप में परिणत होजाता है। ब्रह्म के आधार पर यज्ञ प्रवृत्त होता है, यज्ञ को लक्ष्य बना कर ब्रह्मप्राप्ति होती है। ब्रह्मदशा में एकत्व प्रधान है, यज्ञदशा में नानात्व प्रधान है। यही सुप्रसिद्ध ज्ञान एवं विज्ञान तत्व हैं। ब्रह्म से यज्ञ की ओर आना, आत्मा से विश्व की ओर आना, एकत्व से अनेकत्व की ओर आना, अमृत से मृत्यु की ओर आना विज्ञान है। यज्ञ से ब्रह्म की ओर जाना, विश्व से आत्मा की ओर जाना, अनेकत्व से एकत्व की ओर जाना, मृत्यु से अमृत की ओर जाना ज्ञान है। दोनों दोनों के उपकारक हैं। केवल ज्ञान भी निरर्थक है, केवल विज्ञान भी क्षणिकविज्ञानकोटि में प्रविष्ट होता हुआ नाश का ही कारण है। ज्ञान-विज्ञान का समन्वितरूप ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस का साधक है। दोनों के सम्यक् परिज्ञान से ही ज्ञान-विज्ञानमूर्त्ति (सदसत्-अमृतमृत्यु-आत्मविश्व-ब्रह्मकर्म्म-अनिरुक्तनिरूक्तमूर्त्ति) विश्वेश्वर का सम्यक् परिज्ञान होता है। यही योगमायावच्छिन्न पुरुष का परम पुरुषार्थ है। दोनों के परिज्ञान के अनन्तर कुछ भी शेष नहीं रह जाता, जैसा कि ज्ञान-विज्ञानाचार्य भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (गीता ७।२)।

ज्ञानप्रधान आत्मविद्याशास्त्र ही **दर्शनशास्त्र** है, एवं विज्ञानप्रधान विश्वविद्याशास्त्र ही **यज्ञशास्त्र** है। दोनों का नित्य सम्बन्ध है। यही दोनों शास्त्र पश्चिमी विद्वानों में **फिलॉसफी** (Philosophy दर्शन), एवं **सायन्स** (Scinnce विज्ञान) नाम से प्रसिद्ध हैं। **ब्रह्म** नाम का मौलिकतत्वविभाग ही वहां **फिजिक्स** (Physics) नाम से, एवं **यज्ञ** नाम का यौगिकतत्व-विभाग ही **केमेस्ट्री** (Chemistry) नाम से व्यवहृत हुआ है। **हो क्या रहा है**। पश्चिमी

विद्वान् जहां केवल यज्ञविद्यात्मक विज्ञान (Material Science) का आश्रय लेते हुए क्षण-स्थायी लौकिक वैभव से युक्त होते हुए शाश्वत शान्तानन्द से वञ्चित रहते हुए प्रतिक्षण नाश की ओर जा रहे हैं, वहां भारतीय विद्वान् ब्रह्मविद्यात्मक केवल ज्ञान का डिण्डिमघोष करते हुए, "कलौ वेदान्तिनः सर्वे" इस न्याय को सर्वात्मना चरितार्थ करते हुए, ऐहलौकि वैभव मूलक विज्ञानशास्त्र (यज्ञविद्या) का सर्वथा तिरस्कार करते हुए, फलतः दरिद्रता के अनन्य उपासक बनते हुए सब ओर से पथभ्रष्ट हो रहे हैं। होना क्या चाहिए? "अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन" इत्यादि आदेशों को शिरोधार्य कर हमें उस नित्य विज्ञान का आश्रय लेना चाहिए, जिस के मूल में शाश्वत ज्ञानधारा प्रवाहित हो रही है। उस ज्ञान की उपासना करनी चाहिए, जिस के आधार पर ऐहलौकिक अभ्युदय का साधनभूत यज्ञरूप विज्ञान प्रतिष्ठित हो रहा है। यही तो वेदशास्त्र का सर्वोच्च महत्व है, यही तो भारतवर्ष का जगद्गुरुत्व है, यही तो आर्यसंस्कृति का सर्वमूर्धन्यत्व है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यज्ञविद्या ही हमारा विज्ञानशास्त्र है। इस यज्ञविज्ञान का, एवं तदन्तर्गत अनन्त खण्ड विज्ञानों का दिग्दर्शन प्रकृत में नहीं कराया जासकता। इन सब के लिए तो वेद का स्वाध्याय ही आवश्यक है। यहां दो चार ऐसे प्रमाण उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिन से हमारे भारतीय विद्वानों को यह विदित होजाय कि वेदशास्त्र ज्ञान के साथ साथ विज्ञान का भी अमूल्य, एवं पूर्ण कोश है।

१—यज्ञः

वेदि के समीप कुण्ड बना कर उस में अग्नि प्रतिष्ठित कर स्वाहापूर्वक घृत तिलादि की आहुति देदेने मात्र को ही यज्ञ समझने वाले विद्वानों को यह नहीं भुला देना चाहिए कि यज्ञ एक ऐसा श्रेष्ठतम कर्म्म है, जिस के आधार पर नवीन विश्व का निर्म्माण किया जासकता है। मौलिकतत्वों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न यौगिकभाव ही यज्ञ है। "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०" इत्यादि स्मार्त सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ से ही सारे लोक, लोकों में रहने वाली प्रजा, सब कुछ

उत्पन्न हुए हैं। सृष्टिनिर्माण करने वाले प्राकृतिक नित्य नियम का ही नाम यज्ञ है। प्राकृतिक यज्ञ के परिज्ञान से हम भी प्रकृतिवत् नवीन रचना करने में समर्थ हैं। यज्ञ हमारे लिए इष्टकामधुक् है। यज्ञकर्म्म में प्रधानरूप से दो तत्वों का समन्वय ही अभिप्रेत है। अन्तर्याम सम्बन्ध से मिलने वाली उन दो वस्तुओं में एक सदा प्रधान रहती है, दूसरी सदा गौण रहती है। प्रधान वस्तु को संकेतभाषानुसार "वृषा" नाम से, एवं गौण वस्तु को "योषा" नाम से व्यवहृत किया जाता है। वृषा अन्नाद है, योषा अन्न है। दूसरे शब्दों में वृषा पुरुष है, योषा स्त्री है। स्त्री-स्त्री का समन्वय निरर्थक है, पुरुष-पुरुष का समन्वय विस्फोटक है, स्त्री-पुरुष का समन्वय जनक है। प्रश्नोपनिषत् में यही दोनों योषा-वृषा क्रमशः रयि-प्राण नामों से व्यवहृत हुए हैं। वहां रयि-प्राण के समन्वय से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति बतलाई गई है, जैसा कि उस भाष्य में स्पष्ट होजायगा—(देखिए प्रश्नो० भा० १ प्र०)। अन्नरूप योषातत्व सोम है, यह दाह्य है। अन्नादरूप वृषातत्व अग्नि है, यह दाहक है। दाहक अग्नि ऊष्ण तत्व है, दाह्य सोम शीत तत्व है। गर्मी-सर्दी का मिथुनभाव ही ऋतु है, ऋतुओं की समष्टि ही संवत्सर है, संवत्सर ही यज्ञप्रजापति है, यही यज्ञप्रजापति त्रैलोक्य का उत्पादक है। इसी प्राजापत्य यज्ञविज्ञान का स्पष्ट शब्दों में निरूपण करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं।

१—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्"

(यजुः सं० ३१।१६)।

१—"प्रकृतियज्ञ के सञ्चालक प्राणदेवताओं नें, एवं मनुष्यविध भौमदेवताओं नें संवत्सरमूर्त्ति यज्ञ के आधार पर ही प्रजोत्पादक यज्ञ, एवं दैवात्मोत्पादक वैधयज्ञ का संचालन किया था। यह धर्म्म (यज्ञ कर्म्म) बहुत प्राचीन थे (हैं)। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में इसी यज्ञ कर्म्म का सहारा लिया गया था"।

२—"ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि । आकाशाद्योनेः सभूतो भार्यायै—
रेतः संवत्सरस्य तेजो भूतस्यात्मभूतस्य त्वमात्मासि, यस्त्व-
मसि सोऽहमस्मि" (कौ० उ० १।६।) ।

३—"स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः" (शत० १४।४।३।२२) ।

४—"यः स भूतानां पतिः सवत्सरः सः" (शत० ६।१।३) ।

५—"संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः" (शत० १।५।१।१६।) ।

६—"संवत्सरो यज्ञप्रजापतिः" (शत० १२।५।१२।) ।

७—"संवत्सरसम्मितो वै यज्ञः । पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य ।
तं पञ्चभिराप्नोति, तस्मात् पञ्च जुहोति" । (शत० ११।१।१।१।) ।

२—" मैं (पार्थिवप्रजा) ऋतु हूं, ऋतु का भाग हूं । आकाशरूप योनि से उत्पन्न, भार्या के रेतोरूप संवत्सर के तेज से अपने आत्मा का स्वरूप निष्पन्न करने वाला तू आत्मा संवत्सर (की प्रतिकृति) है, जो तू (संवत्सर) है, वही मैं (प्रजा) हूं" ।

३—"(सृष्टिसाक्षी षोडशी पुरुष से उत्पन्न होने के कारण) वह संवत्सर प्रजापति भी अवश्य ही षोडश-कल है । अर्थात् सृष्टिकर्त्ता षोडशी पुरुष ही संवत्सररूप बन कर प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है । अतः इस षोडशकल आत्मा के सम्बन्ध से हम संवत्सर को भी षोडशकल कह सकते हैं" ।

४—"जो कि (विश्व में) भूपति नाम से प्रसिद्ध है, वह यही संवत्सर है । कारण भूतों को उत्पन्न कर उन पर शासन करना संवत्सर का ही काम है" ।

५—"तीनों विश्वों में अग्नि-वायु-आदित्य रूप से व्याप्त, इन्हीं तीनों विश्वनरों से कृतस्वरूप, अतएव वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध संवत्सर ही (लोक एवं प्रजा का) पिता है" ।

६—"अग्नि-सोम के समन्वयरूप यज्ञ से अपना स्वरूप सम्पन्न करने वाला संवत्सर अवश्य ही यज्ञ-प्रजापति है" ।

७—'प्राकृतिक नित्य यज्ञ का परिमाण संवत्सर ही है । अर्थात् संवत्सर की सीमा ही इस नित्य यज्ञ की स्वरूपसम्पादिका है । संवत्सर की पांच ऋतुएं हैं । अतएव मनुष्यकृत वैध यज्ञ में पांच आहुतिएं दी जाती हैं । इन पांचों से उन पाचों ऋतुओं को अपने अधिकार में करता हुआ यज्ञकर्त्ता यजमान संवत्सर सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है" ।

८—"संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः" (तै॰ ब्रा॰ १।७।२।५।)।

९—"संवत्सरो वै सोमः पितृमान्" (तै॰ ब्रा॰ १।६।८।)।

१०—'तस्मादाहुः संवत्सरस्य सर्वे कामाः" (शत॰ १०।२।४।१।)।

११—"ऋतवः संवत्सरः" (तै॰ ब्रा॰ ३।९।८।१।)।

१२—"स वै यज्ञ एव प्रजापतिः" (शत॰ १।७।४।४।)।

१३—"यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" (शत ४।४।२।९।)।

१४—"पुरुषो यज्ञः" (शत॰ १।३।२।१।)।

१५—"पुरुषो वै सम्वत्सरः" (शत॰ १२।२।२।१।)।

आर्यमहर्षियोंनें अपने तपोयोग से इस अलौकिक यज्ञविद्या के दर्शन किए, एवं लोक-कल्याण के लिए उसी यज्ञ विद्या को वैधयज्ञ रूप से हमारे सामने रक्खा। ऐसे अमूल्य धन को खोकर सचमुच आज हम अपने हाथों हीं अपना सर्वनाश करा रहे हैं। आज इस नित्य-विद्या का अवसान हमने आग में दो चार मन घी डालने पर ही मान रक्खा हैं।

—१—

८—"संवत्सर प्रजापति अग्नि-वायु-आदित्यमूर्त्ति बनता हुआ वैश्वानर है। कारण वैश्वानर का स्वरूप इन्हीं तीनों से निष्पन्न हुआ है"।

९—"संवत्सर पितरप्राणयुक्त सोममय है"।

१०—"इसी लिए यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण काम (इच्छा) संवत्सर के ही हैं"।

११—"ऋतुओं की समष्टि ही सम्वत्सर है"।

१२—"वह (सम्वत्सर रूप) यज्ञ ही (प्रजोत्पादन के कारण, प्रजापति है"।

१३—"यज्ञ से ही सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है"।

१४—"पुरुष (मनुष्य) साक्षात् यज्ञ (की प्रतिकृति) है"।

१५—"संवत्सर से उत्पन्न पुरुष वास्तव में संवत्सर (की प्रतिमा) है"।

—१—

२—ज्योतिः

भौतिकविज्ञान में अपने आप को मूर्द्धन्य मानने वाले पश्चिमी विद्वान् भौतिक विज्ञानान्तर्गत ज्योतिर्विज्ञान के सम्बन्ध में हीट (Heat), लाइट (Light), इलेक्ट्री (Electricity) इन तीन तत्वों को प्रधानता देते हैं। इन का यह सम्पूर्ण ज्योतिर्विज्ञान पदार्थ—विज्ञानान्तर्गत हमारे अग्निविज्ञान में ही अन्तर्भूत है। उक्त तीनों पदार्थ भारतीय विज्ञानशास्त्र में क्रमशः ताप (Temperathre), प्रकाश (Light), विद्युत (Electricity) इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। तापलक्षण घनाग्नि पार्थिवज्योति है, प्रकाशलक्षण विरलाग्नि इन्द्र है, यही आदित्य है, यही दिव्यज्योति है। "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋक्सं०३।५३।८), "इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्" "इन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः" इत्यादि श्रुतिएं इस दिव्यलोकस्थ इन्द्र को ही सप्तवर्णात्मक प्रकाश का अधिष्ठाता बतला रहीं हैं। अन्तरिक्ष में रहने वाला ऋत वायु विद्युल्लक्षण है, यही आन्तरिक्ष्यज्योति है। केवल अग्नि ही घन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत होता हुआ क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। इन तीनों में प्रत्येक की अवान्तर अनेक अवस्थाएं मानीं गई हैं। तीनों में से आन्तरिक्ष्य विद्युल्लक्षण वायव्यज्योति को ही लीजिए।

जिस विद्युत्विज्ञान (Electricity) के आधार पर आज पाश्चात्य देशों कों उचित अभिमान हो रहा है, जिस विद्युच्छक्ति से आज विविध आविष्कार किए जा रहे हैं, उस का पूरा विवरण आपके वेदशास्त्र में अनादिकाल से निहित है। जहां पश्चिमी विद्वानों की दौड़ सौरविद्युत् पर ही समाप्त हो जाती है, वहां उनसे कई सहस्र वर्ष पहिले प्रकट होने वाले आर्षग्रन्थों में सौर-सौम्य-ध्रौव भेद से तीन प्रकार की विद्युच्छक्तियों का उल्लेख मिलता है। ध्रुवनक्षत्र में प्रतिष्ठित जिस विद्युत् ने अपने आकर्षणबल से गुरुत्वाकर्षण की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए पाञ्चभौतिक भूपिण्ड को कन्दुक (गेंद) की तरह निरावलम्ब आकाश में नियत क्रान्तिवृत्त पर गतिशील बना रक्खा है, एवं जिस के प्रवेश से लोहा फ़ौलाद बन जाता है,

वही हमारी "श्रौत्रविद्युत्" है। जिस के संचार से चक्षु-मुख-नासिका-मन-प्राण-वाक्-हस्त-पादादि देहेन्द्रियों का सञ्चालन होता है, जिस के आघात प्रत्याघात से अङ्ग अङ्ग का स्फुरण होता है, जिस के निकल जाने से शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, वही दूसरी "सौम्यविद्युत्" है। इस का प्रधान सम्बन्ध सोममय अन्न से बनने वाले सौम्य मन के साथ है। अतएव इसे सौम्य-विद्युत् कहना न्यायसङ्गत होता है। इसी शीघ्रगामिनी विद्युज्ज्योति के प्रभाव से मन में चाञ्चल्य का उदय होता है। इसी विद्युत् के प्रभाव से मन स्वप्नावस्था में भी अपने अन्तर्जगत् में संस्कारों पर दौड़ लगाता रहता है। मन की इसी विद्युज्ज्योति का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमञ्ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
(यजुः सं० ३४।१)।

स्वज्योतिर्घन सूर्य्यपिण्ड से, दूसरे शब्दों में आपोमय आन्तरिक्ष्य समुद्र के गर्भ से निकलने वाली विद्युत् सौरविद्युत् है।

अग्ने देवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः॥
[ऋक् सं० ३।२२।३।]

उक्त मन्त्रवर्णन के अनुसार आपोमय सरस्वान् समुद्र के गर्भ में सूर्य्य बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित है। इस सूक्ष्म अप्समुद्र से ही उक्त विद्युत् का विकास हुआ है। सूर्य्य स्वयं विद्युन्मूर्त्ति है—"वि देव सविता" (गो० ब्रा० पू० १।३३।)। यह विद्युत् पानी से उत्पन्न हुई है, अतएव इसे ब्राह्मणग्रन्थ, एवं मन्त्रसंहिता में "अपां ज्योतिः" नाम से व्यवहृत किया गया है-"विद्युद्वा अपां ज्योतिः" (शत० ७।५।२।४९—यजुःसं० १३।५।३।)। इसी समुद्र में अश्व नाम का प्राणपशु उत्पन्न होता है। ध्यान रहे, जिस भौतिक पशु में दिव्यप्राणात्मक जो पशु अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है वह भौतिक, किंवा पार्थिवपशु उस प्राणपशु के नाम से

ही प्रसिद्ध होता है*। "वीर्य्यं वा आपः" (शत० ५।३।४।१।) के अनुसार अपूतत्व ही वीर्य्य है। बलाधायक प्राण ही वीर्य्य है। इस प्राण की आवासभूमि पानी ही है—"आपोमयः प्राणः" (छां उ० ६।४।४।)। पानीदार वस्तु ही "आबदार" कहलाती है। निर्वीर्य्य, एवं निष्प्राण व्यक्ति के लिए लोक में "अमुक व्यक्ति का तो पानी उतर गया, पानी मर गया, आब जाती रही" यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है। "अद्भ्यो ह वाग्रेऽश्वः सम्बभूव" (शत०-५।१।४।५।) के अनुसार इस वीर्य्यरूप अपूतत्व से ही अश्वपशु उत्पन्न होता है। अतएव पशुओं में अश्व को "वीर्य्य" नाम से व्यवहृत किया जाता है-'अश्वः पशूनामन्नादो वीर्य्यवत्तमः' (तै० ब्रा० ३।८।७।१।)—"वीर्य्यं वा अश्वः" (शत० २।१।४।१३-२४।)।

उक्त प्रकरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि सूर्य्य, सौरीविद्युत, एवं अश्वपशु तीनों की उत्पत्ति एक ही स्थान में हुई है। अतएव तीनों को हम समानधर्मा मानने के लिए तय्यार हैं। यही कारण है कि सूर्य्य-विद्युत-अश्व तीनों को ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों नामों से व्यवहृत किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—"असौ वा आदित्यः (सूर्य्यः) अश्वः" (तै० ब्रा० ३।९।२३।२।)।

२—"विद्युदेव सविता" (गो० ब्रा० पू० १।३३।)।

३—"सौर्य्यो वा अश्वः" (गो० उ० ३।१९।)।

४—"आशुः सप्तिः, अश्व एव जवं दधाति" (तै० ब्रा० ३।८।१३।२।)।

उक्त तीनों विद्युत् इन्द्रतत्व में अन्तर्भूत हैं। "स्तनयित्नुरेवेन्द्रः" (शत० ११।३।६।) से भौतिक इन्द्रविद्युत् ही अभिप्रेत है। यही (विद्युत) सोमसम्बन्ध से सोममय प्रज्ञानात्मा (मन) पर अपना अधिकार जमा लेती है, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। सोम और इन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह सिद्ध विषय है। आकाश में जो विद्युत् चमकती है, वह भौतिक है। मन

*पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज इन पांचों प्राणात्मक एवं प्राणी पशुओं का वैज्ञानिक विवेचन शतपथ-विज्ञानभाष्यान्तर्गत "पश्वालम्भनमीमांसा" में देखना चाहिए।

में रहने वाली विद्युत् आध्यात्मिकी है। केनोपनिषत् में इन दोनों का विशद निरूपण हुआ है, जैसा कि तद्भाष्य में स्पष्ट होजायगा। त्रिधा विभक्त एकमात्र इस इन्द्रविद्युत् के यथार्थ स्वरूप को पहिचान लेने के अनन्तर मनुष्य सब कुछ कर सकता है। इसी अभिप्राय से काशिराज प्रतर्द्दन एवं इन्द्र की संवादभाषा में ऋषि ने इन्द्र के मुख से—"*मामेव विजानीहि! एत-देवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्" (कौ० उ० ३।१।) यह अक्षर कहलवाए हैं। निष्कर्ष यह है कि विद्युद्विज्ञान का हमारे शास्त्र में बड़े विस्तार से निरूपण हुआ है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को ऋक्संहिता के १।३१।१३,–१।६३।६,–१।१६४।२६,–६।३।८,–६।८६।३,–१०।६१।५, इत्यादि स्थल देखनें चाहिएं। इन में स्पष्टरूप से विद्युत्तत्व का निरूपण हुआ है।

❀ २ ❀

—:o:—

३—ग्रहविज्ञानम्

जिन गैसों के आधार पर पश्चिमी वैज्ञानिक आए दिन विश्वनाश के मार्ग निकालने में अपने आप को धन्य मान रहे हैं, उन्ही ग्रहों से भारतीय ऋषियों नें ग्रहयाग नाम की सुप्रसिद्ध यज्ञप्रक्रिया द्वारा आत्मकल्याण के पथ का निर्म्माण किया है। यह ग्रह ४० प्रकार के माने गये हैं। वायु में रहने वाला रुद्रतत्व ही ग्रह, किंवा गेस (Gas) है। रूद्रतत्व विनाशक (जहरीला) प्राण है। इसीलिए इसे पुराणों में संहारक देवता माना गया है। ४० भागों में विभक्त रुद्रात्मक इन ग्रहों का क्या उपयोग है? सृष्टि में यह क्या काम करते हैं? ऋषियों नें इन के प्रयोग से क्या लाभ उठाया है? इन प्रश्नों के समाधान के लिए शतपथब्राह्मण का ग्रह-याग (४ काण्ड) प्रकरण देखना चाहिए।

—:o:—
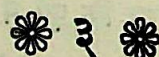
*"हे प्रतर्द्दन! तुम मुझे (इन्द्रविद्युत् को) ही पहिचानो! मैं मनुष्य का सब से बड़ा यही हित समझता हूं कि वह मुझे पहिचानले"।

४—परिशिष्टविज्ञानम्

इसी प्रकार ग्रहणविज्ञान, पृथिवीपरिभ्रमणविज्ञान, ओषधिविज्ञान, गर्भविज्ञान, वृष्टिविज्ञान, आदि अनेक विद्याओं का स्वयं वेद में मूलरूप से विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। यन्त्रविशेष की सहायता से ग्रहण का स्वरूप सब से पहिले महर्षि अत्रि ने ही संसार के सामने रक्खा था। जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रों से स्पष्ट है।

*ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् ॥
अत्रिः सूर्य्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत् ॥१॥
यं वै सूर्य्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ॥
अत्रयस्तमन्वविन्दन् न ह्यन्ये अशक्नुवन् ॥२॥ (ऋक्सं०५।४०।८-९-)।

"अपने अक्ष पर घूमता हुआ, इस स्वाक्षपरिभ्रमरण से अहोरात्र (दिन-रात) का स्वरूप बनाता हुआ भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर अपने नियत (क्रान्तिवृत्त नाम के) मार्ग से परिक्रमा लगाता हुआ संवत्सर का स्वरूप सपंन्न कर रहा है" इस का पता वैज्ञानिकों नें लगा लिया है। परन्तु भूपिण्ड क्यों घूमता है? इस प्रश्न के समाधान में प्रायः वैज्ञानिक असमर्थ ही रहे हैं। इधर आप के महर्षियों नें सूर्य्य की स्थिरता, पृथिवी का परिभ्रमण आदि के साथ साथ ही उक्त प्रश्न का भी समाधान किया है, जैसा कि निम्न लिखित प्रमाणों से सिद्ध है।

१—"कतरा पूर्वा कतरा परायो कथा जाते कवयः को विवेद।
विश्वं त्मना बिभ्रतो यद्ध नाम विवर्तेते अहनी चक्रियेव ॥" (ऋक्सं १।१८५।१)

*भूमिका आवश्यकता से अधिक विस्तृत होती जारही है। एवं साथ ही में हमें उपनिषत् सम्बन्धी कुछ एक आवश्यक प्रश्नों पर विचार और करना है। ऐसी अवस्था में इन मन्त्रों का अर्थ एवं विषय की पूर्ण सङ्गति नहीं लगाई जासकती। प्रकृत में केवल कुछ एक आवश्यक उद्धरणमात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं। मन्त्रार्थों की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को हमारे लिखे अन्य निबन्धों को ही देखना चाहिए।

२—"सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता" (सामसं०पू०३।८।१०)।

३—"यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयद् यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि" (ऋक् सं० ८।१४।५।)।

४—"अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्श अहं देवाना परमं गुहा यत् ॥"

५—"अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता, नास्तमेता,
एकल एव मध्ये स्थाता। तदेष श्लोकः—
"न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहं सत्येन या विराधिषि ब्रह्मणा" ॥ (छां० उप०)

६—"न ह वा अस्मा उदेति, न निम्लोचति, सकृद्दिवा हैवास्मै भवति । स वा एष न कदाचनास्तमेति, नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते, अह्न एव तदन्तमित्वा-अथात्मानं विपर्यस्यते, रात्रिमेवावस्तात् कुरुते, अहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते, रात्रेरेव तदन्तमित्वाऽऽथात्मानं विपर्यस्यते, अहरेवावस्तात् कुरुते, रात्रिं परस्तात्। स वा एष (सूर्य्यः) न कदाचन निम्लोचति, न ह वै कदाचन निम्लोचति"। (ऐ० ब्रा०)

७—"नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनाख्यं हि दर्शनादर्शनं रवेः ॥" (पुराण)

कुछ शताब्दियों पहिले उत्पन्न सुप्रसिद्ध विद्वान् न्यूटन (Newton) महोदय के जिस आकर्षण सिद्धान्त का आज पश्चिमी देशों में डिण्डिमघोष हो रहा है, वह सिद्धान्त न्यूटन से कई शताब्दियों पहिले उत्पन्न होने वाले स्वनामधन्य श्रीभास्कराचार्य ने कितने स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है, देखिए—

आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् खस्थं गुरुस्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पतत्वियं खे ॥

(सिद्धान्तशिरोमणि)

इसी प्रकार—

"हरिमाणः-किकिदिवि-र्व्रातध्राजि-रतिविद्धहृद्रोगाः ।
यक्ष्माऽ-मीवा-रत्तश्राव-निहाका-रपोऽहंसी-त्विमः ॥"

इत्यादि नामों से प्रसिद्ध रोगों का विश्लेषण, एवं सूर्य-ओषधि-अग्नि-मणि-मन्त्र द्वारा उन के समूल विनाश का उपाय बतलाने वाले भारतीय क्या विज्ञानशून्य कहे जासकते हैं ?

"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ॥
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥१॥
साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना ॥
साकं व्रातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥२॥
यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ॥
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥३॥
यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥
ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥४॥
मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ॥
द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥५॥
शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ॥
अधा शतक्रत्वो यूयमिदं मे अगदं कृत ॥६॥" (ऋक्सं० १० मं० ।९७सूक्त) ।

क्या उक्त प्रकार के मर्म्मस्पर्शी ओषधिविज्ञानवेत्ता इस युग में मिल सकेंगे ?

"यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम् ॥
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥१॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ॥
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥२॥

यथेषुका परा पतदवसृष्टाधिधन्वनः ॥
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥३॥
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव ॥
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥४॥" (अथर्व सं० १।१।३७।

उर्युक्त मन्त्रों में शलाका (Cotteter) प्रयोग से जिस प्रकार अवरुद्ध मूत्र को निकालने का आदेश है, उसे देखकर उन ऋषियों को शल्यचिकित्सा (Surgery) से शून्य बतलाना क्या अक्षम्य अपराध नहीं है ?

"वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ॥
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥१॥
चतस्रो दिशः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ॥
देवा गर्भं समैरयन् त व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥२॥
सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ॥
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥३॥
वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाऽवजरायु पद्यताम् ॥ ४ ॥
यथा वातो तथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतात्र जरायु पद्यताम् ॥५॥(अं० सं० १।२।११

मन्त्रों को देखकर प्रसवचिकित्साविज्ञान का गर्व करने वालों का मदोन्मत्त मस्तक उन ऋषियों की महत्ता के आगे क्या नही झुक सकता ? देखिए भारतीय शल्यशास्त्र के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों के क्या विचार हैं—

१—प्रॉफेसर विलसन (Wilson) महोदय कहते हैं—"The ancient Hindus

१—अर्थात्—"प्राचीन भारतवासियों नें औषधिविज्ञान एवं शल्यशास्त्र में वैसी ही पारदर्शिता प्राप्त की थी, जैसी कि उन (पश्चिमी) लोगों नें, जिन के कि कार्य इतिहास में लिखे गए हैं" ।

attained as thorough a proficiency in medicine and surgery, as any people whose acquisitions are recorded."

२—मि० बेबर (Mr. Baber) इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—" In surgery too, the Indians seem to have attained a special proficiency, and in this department European surgeons, might perhaps ever at the present day, still learn something from them."

३—प्रॉ० मेकडानल्ड (Macdonald) कहते हैं—"In modern days European surgery has borrowed the operation of shinoplasty, or the formation of artificial nose from India, where English men become acquainted with the art in the last country."

४—माननीय ऐलफिन्स्टसन (Elphinston) साहब लिखते हैं—" Their surgery is as remarkable as their medicine."

५—मिसेज मेनिंग (Ms. Maning) कहतीं हैं—"The surgical instrument of the Hindus were sufficiently sharp, indeed as to be capable of dividing a hair lougitudally."

२—अर्थात्–" जान पड़ता है–शल्यविज्ञान में भी भारतवासियों नें विशेष पारदर्शिता प्राप्त की थी। इस क्षेत्र में युरोपियन सर्जन इस समय भी इन से शायद कुछ सीख सकते हैं "।

३—अर्थात्–" इन दिनों योरोप के शल्यविज्ञान ने हिनोप्लास्टी (Rhinoplasty) का ऑपरेशन एवं कृत्रिम नाक बैठाना हिन्दुस्तान से सीखा है। युरोपियन लोग गत शताब्दियों में इस कला से परिचित हुए "।

४—अर्थात्–" उन (भारतीयों) का शल्यविज्ञान उन के ओषधिविज्ञान की तरह ही अपूर्व था "।

५—अर्थात्–"हिन्दुओं के शस्त्र काफी तौर से तेज होते थे। वे बाल से भी सूक्ष्म पदार्थ को विभक्त कर सकते थे।

६—माननीय डॉ० सील (Seal) महोदय का कहना है—"That the Hindus practised dissection on dead bodies for purposes of demonstration.... ... ... Post morton operations as well as wajor operations osteric surgery were availed of for embryological observations."

इसी प्रकार—

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्त्तते रजः ।
महद् तद् वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥

इत्यादि निदर्शनों को देखते हुए भी आज का युग क्या भारत को विमानविद्या से अपरिचित बतलाने का अनुचित साहस कर सकता है ? कदापि नहीं ।

१—"सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥
(ऋक्सं० १।१६४।३६।)।

२—"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
(ऋक्सं० १।१६४।४७।)।

३—समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥ (ऋक्सं० १।१६४।५१।)

४—अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टान्नयन्ति । यदा खल्वसावादित्यो न्यङ्रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति"

५—""वायुर्वै वृष्ट्या ईशे"

६—"वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुरेव प्रवर्षति" (श्रीगुरुप्रणीत कादम्बिनी)।

क्या इस से बढ़ कर वृष्टिविज्ञान संसार में अन्यत्र कहीं मिल सकता है ?

६—अर्थात्—"हिन्दू लोग प्रयोग के लिए मृतशरीर की चीर फाड़ करते थे। वे मुर्दे को चीर कर उसकी परीक्षा भी करते थे, एवं गर्भ सम्बन्धी रोगों के लिए भी चीर फाड़ करते थे"।

अपने आप को विज्ञान की चरम सीमा पर पहुंचे हुए मानने वाले उन विज्ञानाभिमानियों क्या हम निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर मांग सकते हैं ?

१—"वृक्ष की अपेक्षा मनुष्य के शरीर में जब रसादि की अधिक मात्रा रहती है तो फिर क्या कारण है कि वृक्ष कटने पर बढ़ जाता है, एवं मनुष्य कटने पर पुनः प्ररोहित नहीं होता ?"।

२—"उत्पन्न शिशु के प्रथम वय में केश भूरे क्यों होते हैं ? फिर काले क्यों होजाते हैं ? फिर श्वेत कैसे, एवं क्यों होजाते हैं ? अन्तिम वय में फिर पीतवत् क्यों हो जाते हैं ?"।

३—"उत्पन्न शिशु के दांत क्यों नहीं होते ? उत्पन्न होने पर पहिले ऊपर, फिर नीचे यह वैषम्य क्यों ? उत्पन्न होकर क्यों गिर जाते हैं ? फिर क्यों उत्पन्न होते हैं ? फिर क्यों गिर जाते हैं ? दुबारा गिरे बाद फिर उत्पन्न क्यों नहीं होते ?"।

४—"अल्पमात्रायुक्त शुक्रबिन्दु से (जो कि अनस्था-घनभावरहित-है) हस्त-पाद-उर-चक्षु-श्रोत्र-मस्तकादि विविधाकाराकारित पुरुष कैसे उत्पन्न हो जाताहै ?"।

यदि आप इन प्रश्नों के समाधान में असमर्थ हैं, यदि आप को इन प्रश्नों का युक्तियुक्त विज्ञानसिद्ध उत्तर प्राप्त करना है तो वेदपुरुष की शरण में आइए ! यह आप की सारी जिज्ञासाएं पूरी करैगा ।

इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थ विज्ञानों का हमारे शास्त्रों में इतना स्पष्ट एवं सुगम विश्लेषण उपलब्ध होता है, जिसे देख कर आज के विज्ञानवादियों के वैज्ञानिक तत्व अधूरे मानने पड़ते हैं । उदाहरण के लिए तत्वगणना का ही विचार कीजिए । पश्चिमी विद्वान् जहां उत्तरोत्तर तत्वसंख्या की वृद्धि मानते हुए अपने ज्ञान की अपूर्णता का परिचय दे रहे हैं, वहां भारतीय शास्त्र में अनादिकाल से सदा के लिए पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश यह पांच तत्व

प्रतिष्ठित हैं। न इन में कभी परिवर्त्तन हुआ, न भविष्य में होगा। यही तो वेद का नित्यत्व एवं अपौरुषेयत्व है।

हमें यह जान कर उन सभ्यताभिमानियों की सभ्यता पर तरस आता है, एवं साथ ही दुःख भी होता है, जब कि वे आधुनिक शिक्षणालयों में आज भारतीय छात्रों को भारतीय विज्ञान के निगूढ़तम रहस्यों की परीक्षा किए बिना ही भारतीय विज्ञान के सम्बन्ध में अनुचित भ्रम फैला रहे हैं। उन अबोध विद्यार्थियों को आरम्भ में ही यह सिखाया जाता है कि—" *भारतीय विद्वान् विज्ञान (Sience) स सर्वथा अपरिचित थे। वे केवल ईश्वर के उपासक थे। आत्मा की खोज में ही उन का बुद्धिबल प्रयुक्त हुआ है। हो सकता है, आत्मा के स्वरूप को वे पहिचान गए हों, परन्तु ऐहलौकिक सुखसाधनभूत पदार्थविज्ञान का तो उन्हों ने स्पर्श भी नहीं किया। तभी तो वे कभी अग्नि नामक पदार्थ को हाथ जोड़ते दिखलाई देते हैं, कभी सूर्य्य-पृथिवी-नक्षत्र-वायु-वृष्टि-आदि की स्तुति करते मिलते हैं। तत्वविज्ञान से सर्वथा अपरिचित रहने के कारण ही उन्हों ने पृथिव्यादि पंच महाभूतों को तत्व (Elements) मान रक्खा है। हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि पृथिवीपिण्ड सुवर्ण, रजत, लौह, पारद, गन्धक, हीरक आदि ७० धातुओं

*कुछ समय पूर्व ब्राह्मणवंशगौरव महामना मालवीयजी के आयोजन से काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में कई प्रमुख विद्वानों की उपस्थिति में पञ्चमहाभूतपर्षत् एवं त्रिदोषपर्षत् हुई थी। वहां यही प्रश्न उपस्थित हुए थे कि पांचों भूत जब प्रत्यक्ष में यौगिकभावाक्रान्त उपलब्ध होते हैं तो ऐसी अवस्था में इन्हें तत्व कैसे माना गया? इसी प्रकार सूक्ष्मतम यन्त्रों से सर्वात्मना अन्वेषण करनें पर भी जब हम वात-पित्त-कफ की सत्ता नहीं देखते तो ऐसी परिस्थिति में भारतीय आयुर्वेदशास्त्र के उक्त त्रिदोषभाव की आधारभूमि क्या है? कहना नहीं होगा कि वहां उक्त प्रश्नों का श्रीगुरुचरणों द्वारा (श्रीमधुसूदनजी ओझा द्वारा) सम्यक् समाधान हुआ था।

सर्वथा अप्रासङ्गिक होते हुए भी इस सम्बन्ध में हम श्रीमालवीयजी से सविनय निवेदन करेंगे कि हिन्दूसंस्कृति की रक्षा के लिए जहां उन्होंनें 'हिन्दूविश्वविद्यायल' स्थापित करने का स्तुत्य कार्य किया है, वहां हिन्दूसंस्कृति के प्राणभूत वैदिकविज्ञान के अध्ययनाध्यापव की व्यवस्था कर—

की समष्टिमात्र है। दूसरे शब्दों में अनेक धातुओं के समवाय से ही भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। ऑक्सिजन (Oxggen), एवं हाइड्रोजन (Hydrogen) की नियत मात्रा के रासायनिक मिश्रण से जल उत्पन्न हुआ है। फलतः यह भी तत्व-मर्यादा से बाहर निकल जाता है। यदि अग्नि से ताप का ग्रहण किया जाता है तो यह (ताप) पदार्थों की एक अवस्था विशेष होगी, न कि स्वतन्त्र तत्व। यदि ज्वाला को अग्नि समझा जायगा तो वह ऑक्सिजन एवं कार्बन (Carbon) दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाला यौगिक द्रव्य ही होगा। फलतः अग्नि भी तत्व नहीं माना जासकेगा। इसीप्रकार ऑक्सिजन एवं नाइट्रोजन (Nitrogon) के समन्वय से उत्पन्न होने वाला वायु भी तत्व नहीं माना जासकता। एवमेव पृथिवी-जल-तेज-वायु आदि के प्रतिष्ठित रहने के लिए अवकाशरूप शून्यलक्षण आकाश को भी तत्त्व मानना निरी भ्रान्ति ही है। आकाश में जो एक नीलिमा दिखलाई पड़ती है, इसी से आकाश नाम के पदार्थ की कल्पना करना और भी अधिक भ्रान्ति है। कारण स्पष्ट है। घनीभूत वायु ही यह प्रत्यक्ष दृष्ट नीलिमा है, दूसरे शब्दों में नीलिमा वायु का समुचितरूप ही है। ऐसी अवस्था में वायु को नीरूप मानने वाले वैशेषिक-नैय्यायिकादि भारतीय दार्शनिकों के सिद्धान्त का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। इस प्रकार जब हम सर्वात्मना भूतों को यौगिक पाते हैं तो ऐसी स्थिति में इन्हें तत्व मानना भ्रान्ति नहीं है तो और क्या है"।

इस प्रकार उक्त शब्दाडम्बर को आगे रखते हुए, अपनी अज्ञता से भारतीय तत्ववाद पर आक्षेप करनें वाले उन विज्ञानधुरीणों के प्रति हमारा यही वक्तव्य है कि अभी आपको भारतीय

" योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ "

इस अनुशाप से ब्राह्मणजाति को बचावें। क्या हम आशा करें कि यह भारत का गौरव (श्रीमालवीयजी) भारत की इस दिव्यविभूति (वैदिकविज्ञान) की रक्षा का कोई उपाय करेंगे?

ऋषियों के उन सत्य सिद्धान्तों का मनन करना चाहिए। जिन्हों ने आत्म परमात्म जैसे अप्रत्यक्ष-तम तत्वों का साक्षात्कार कर लिया था, क्या परोक्षद्रष्टा, अतीतानागतज्ञ वे महर्षि भौतिक तत्ववाद जैसे स्थूल विज्ञान के सम्बन्ध में इतनी बड़ी भूल कर सकते थे? कदापि नहीं! सर्वथा असम्भव!! आर्य वैज्ञानिकों नें गुण-अणु-रेणु-महाभूत-सत्वभूत भेद से पांच प्रकार के भूत मानें हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द नाम से पांचों तन्मात्राएं हीं गुण-भूत हैं। यह सर्वथा मौलिक तत्व हैं। यही व्यवस्था एकद्रव्यात्मक अणु-रेणु-भूतों की है। यही हमारे पञ्चतत्व हैं। इनके समबन्ध से चौथी श्रेणि के महाभूतों की उत्पत्ति हुई है। महाभूत शब्द ही इन की यौगिकता का परिचायक है। स्वयं भारतीय इन्हें यौगिक मान रहे हैं। इन यौगिक पञ्चमहाभूतों से पांचवी श्रेणि के अस्मदादि सत्वभूतों की उत्पत्ति हुई है।

इसी प्रकार वायु को रूपिद्रव्य मानना भी (पाश्चात्यों का) सर्वथा असंगत ही है। सौर-मण्डल के चारों ओर व्याप्त अम्भ नाम के आपोमय समुद्र की प्रतिच्छाया ही यह प्रत्यक्ष दृष्ट नीलिमा है। वही कृष्ण पारमेष्ठ्य अप्तत्व सौर मण्डल के भीतर आता हुआ नीला दिखाई पड़ता है।

इसी प्रकार तापलक्षण अग्नि को पदार्थ न मानना भी भ्रान्ति ही है। अवस्था ही तो पदार्थ का वास्तविक स्वरूप है। यदि तत्तत् पदार्थों में से तत्तदवस्थाओं को निकाल दिया जायगा तो पदार्थस्वरूप ही क्या बाकी बच जायगा।

एवमेव आकाश को कोई पदार्थ न मानाना भी केवल उनका साहस ही है। विज्ञान जगत् में भी क्या कोई शून्य तत्व है? अपिच जिसे आप अवकाश कहते हैं, वह भी शून्य (खाली जगह) नहीं है। "प्राणा वै अवकाशाः" (शत०ब्रा० १४।२।२।५१) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वह एक सूक्ष्म एवं सर्वव्यापक प्राणतत्व है। इसी को भारतीय वैज्ञानिकों नें 'शुन' नाम से व्यवहृत किया है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

> शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
> श्रृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानाम्।
> (ऋकसं० ३।३१।१।)।

सर्वव्यापक, शुन नामक यही मघवा इन्द्रप्राण सब के लिए अवकाश बनता हुआ आकाश नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। जैसा कि—"यस्स आकाश इन्द्र एव सः" (जै०उ०१।२८।२।) इत्यादि से स्पष्ट है। सचमुच—"नेन्द्राद्दते पवते धाम किञ्चन" (ऋक्सं०९।६९।६।)। के अनुसार इस शुन इन्द्र का कहीं भी अभाव नहीं है। आकाशात्मक शुन इन्द्र के सम्बन्ध से ही इस अवकाश को—"शुने हितम्" इस निर्वचन के अनुसार 'शून्य' शब्द से व्यवहृत किया गया है। शून्य शब्द का अर्थ खाली स्थान नहीं है, अपितु उस स्थान को शून्य कहा जाता है जिसमें कि शुन नाम का इन्द्र, किंवा आकाश व्याप्त है। इन्द्र सर्वव्यापक है। इसी आधार पर भारतीय दार्शनिकों में आकाशात्मक इस तत्व को विभु माना है।

"इन्द्रो वागित्याहुः" (शत०ब्रा०१।४।५।४।) के अनुसार यही इन्द्र (आकाश) वाक् है। इसी वाक् समुद्र से वीचीतरंग द्वारा शब्दसृष्टि होती है। *मुखविनिःसृत शब्दजरूप आघात से, हस्तपादादि रूप संयोगज आघात से, एवं विभागज आघात से वाक्समुद्र में लहर पैदा हो जाती है। यह लहर कर्ण-शष्कुली पर आकर तत्रस्थ प्रज्ञान मन से गृहीत होकर क-च-ट-त-पादि शब्द रूप में परिणत होती है। इसी आधार पर शब्द को आकाश (वाग्रूप इन्द्र) का गुण माना गया है। इसप्रकार इन्द्रात्मक आकाश का पदार्थत्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है। स्थूलदृष्टि से परोक्ष होने मात्र से ही पदार्थ का अभाव मान बैठना क्या एक वैज्ञानिक के लिए उचित है? किसी के साहित्य को बिना सोचे समझे कलङ्कित करने का व्यर्थ प्रयास करने वाले उन विवेकियों के सम्बन्ध में, अधिक क्या कहें।

"न स्थाणोरपराधोऽयं यदन्धो नैनमीक्षते।
चक्षुर्दोषादुलूकोऽयं सूर्य्यज्योतिर्न पश्यति"॥

पूर्व की संचर-प्रतिसंचरविद्याओं के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि विश्वेश्वर प्रजापति आत्मा-विश्व भेद से दो भागों में विभक्त है (देखिए भा०भू०पृ०सं०४४-४६)। इस द्वैधीभाव

* "१-संयोगात्, २-विभागाच्च, ३-शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" (वै०दर्शन २।२।३१)।

का मुख्य कारण रस-बल का तारतम्य है। बलगर्भित रसप्रधान तत्व आत्मा है, एवं रसगर्भित बलप्रधान तत्व विश्व है। रस प्रधान आत्मा ज्ञानजगत् का अनुग्राहक है, एवं बलप्रधान विश्व विज्ञानजगत् की आधार भूमि है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे विज्ञान की आधारभूमि बलतत्व ही है। इस बल के—[1]स्थिरधर्म्मप्रयोजक, [2]अस्थिरधर्म्मप्रयोजक, [3]सव्यपेक्षधर्म्मप्रयोजक भेद से तीन प्रधान भेद हैं। इन में से प्रत्येक बल क्रमशः १०—८—३ अवान्तर भागों में विभक्त हैं, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

१०—स्थिरधर्म्म

१—भार	६—संगठन
२—आयतन	७—स्थितिस्थापकत्व
३—स्थानविरोध	८—चापन
४—विभाज्यता	९—जड़ता
५—सान्तरत्व	१०—अविनश्वरत्व

८—अस्थिरधर्म्म

१—शल्य	५—क्षणभंगुरत्व
२—आकुञ्चन	६—घनत्व
३—कठिनत्व	७—द्रवत्व
४—वर्णरूपता	८—विरलत्व

३—सव्यपेक्षधर्म्म

१—नोदनाबल, २—केन्द्रापगबल, ३—आकर्षणाबल

उक्त बलों की आगे जाकर अवान्तर अनेक अवस्थाएं और हो जाती हैं। उदाहरण के लिए नोदनाबल को ही लीजिए। यह बल ११ भागों में विभक्त है—

११—नोदनाबल (सव्यपेक्षधर्म्म)

१—वस्त्वाकर्षण		७—संसक्तकबल
२—व्यवकलिताकर्षण		८—संनिकर्षबल
३—माध्याकर्षण	६—अनुलग्नताबल	९—कैशिकबल
४—रासायनिकाकर्षण		१०—शोषणबल
५—आणविकयोगाकर्षण		११—चोषणबल

इसी प्रकार पदार्थतत्व हमारे यहां रूढ[1]-योगरूढ[2]-यौगिक[3] भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। प्रत्येक पदार्थ की घन[1]—(निविडावयव-संघातता-कठिनता-विनेयता-उद्वर्त्तनीयता), द्रव[2]—(तरलावयव), बाष्प[3]—(विरलावयव) भेद से तीन तीन अवस्थाएं मानीं गईं हैं। इन्हीं तीनों अवस्थाओं के लिए संहिता में क्रमशः ध्रुव[1]-धर्त्र[2]-धरुण[3] शब्द प्रयुक्त हुए हैं-(देखिए यजुः-सं०१३।३४)।

एवमेव समस्तविज्ञानराशि हमारे यहां आधिभौतिकविज्ञान[1] (पदार्थविज्ञान), आध्यात्मिकविज्ञान[2] (शारीरकविज्ञान), आधिदैविकविज्ञान[3] (ताराविज्ञान) भेद से तीन भागों में विभक्त है। निदर्शन मात्र है। इसी प्रकार मनोविज्ञान (Cycloige), वनस्पतिविज्ञान, ओषधिविज्ञान, भूगर्भविज्ञान, धातुविज्ञान आदि अवान्तर खण्डविज्ञानों का भी विशद विवेचन हमारे शास्त्रों में उपलब्ध होता है।

पूर्वप्रतिपादित कुछ एक निदर्शनों से श्रद्धालु भारतीय विद्वानों को यह समझलेने, एवं मानलेने में सम्भवतः अब कोई आपत्ति न रही होगी कि वेद वास्तव में विज्ञान का अद्भुत खजाना है। साथ ही में उन्हें यह भी स्वीकार करलेने में कोई आपत्ति न रही होगी कि वेद-स्वाध्याय से विमुख होकर सचमुच हमनें—"जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः" को सर्वात्मना चरितार्थ कर अपने हाथों अपना सर्वनाश करा लिया है।

जब हम अपने अतीत पर दृष्टि डालते हैं तो हमारा सारा भ्रम दूर हो जाता है। हमारा अतीत कैसा था ? न पूंछिए। आज हम उस के स्मरण करने के भी अधिकारी नहीं हैं। आज हमारे पतन की पराकाष्ठा होगई है। आज की गिरी दशा हमें "हम किसी समय वैसे थे" इन अक्षरों पर भी विश्वास नहीं करने देती। कहां भगवान् मनु का—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

उदात्तभावनामय यह उद्घोष, कहां हमारी ऐसी पतनावस्था। किसी समय जगद्गुरु बनने का दावा रखनेवाला भारतवर्ष आज प्रत्येक कार्य में परमुखापेक्षी बन रहा है। वेदस्वाध्यायं का तिरस्कार करने वाले ब्राह्मणों का ज्ञानप्रधान ब्रह्मवीर्य्य नष्टप्राय है। फलतः ब्रह्म (ज्ञान) के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला क्षत्रियों का क्रियाप्रधान क्षत्रवीर्य्य, वश्यों का अर्थप्रधान विड्वीर्य्य, एवं शूद्रों का स्वधर्म्म भी आज दोलायमान है। स्व-स्वकर्म्म से पराङ्मुख होते हुए चारों वर्ण उत्पथगामी बन रहे हैं। आज प्रत्येक वर्ण चारों वर्णों के कर्म्मों पर अपना पूर्ण अधिकार जमाने की विफल चेष्टा कर रहा है। फलतः सभी में अकृतकृत्य होता हुआ वह समाज की अशान्ति का कारण बन रहा है। इसी प्रकार समाजकल्याणोपयोगिनी उक्त वर्णव्यवस्था के साथ साथ ही व्यक्तिकल्याणोपयोगिनी आश्रमव्यवस्था भी आज सर्वात्मना विलुप्त है। सर्वत्र दावानल प्रज्वलित होरहा है। वर्त्तमानयुग में ही इस देश की ऐसी स्थिति हुई हो, यह बात नहीं है। पहिले भी कई वार भारतीय सभ्यता पर इस से भी कहीं अधिक भयङ्कर आक्रमण हुए हैं। परन्तु तत्तत् समय में भगवदंशभूत शङ्कर—रामानुज—वल्लभ—कुमारिलभट्ट—उदयनाचार्य आदि प्रातःस्मरणीय महापुरुषों न धरातल पर अवतीर्ण हो उच्छिन्न सभ्यता को पुनः प्रतिष्ठित किया है। "संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः" यह न्याय प्रसिद्ध है। एवं इधर हमारे सौभाग्य से भारतवर्ष की समुन्नति से सम्बन्ध रखने वाले सुप्रसिद्ध विष्णुपद नामक कदम्ब (नाक) की २४ अंश के व्यासार्द्ध से परिक्रमा लगाने वाले ध्रुव भी आधी परिक्रमा समाप्त कर चले हैं। आज पुनः भारत का भाग्योदय होने

वाला है। धीरे धीरे ध्रुव का रुख वेदप्राणमूर्त्ति अभिजिन्नक्षत्र की ओर होने लगा है। जिस दिन ध्रुव ठीक अभिजित् पर आजायंगे, उस दिन भाहत (निस्तेज) भारत पुनः भायुक्त बनता हुआ अपने भारत (प्रकाशानुगामी) नाम को सार्थक कर देगा, यह ध्रुवसिद्धान्त है। उसी ध्रुव की प्रेरणा से अपने विचारों को ध्रुव बनाते हुए हमने इस पथ में आगे बढ़ने का संकल्प किया है।

थोड़े शब्दों में ध्रुवसिद्धान्त का भी इतिहास सुन लीजिए। तत्तद्देशों का अभ्युदय, एवं पतन का कारण ध्रुव ही है। भूपिण्ड ध्रौवविद्युत् से ही आकर्षित रहता है। जिस प्रकार क्रान्तिवृत्त की प्रत्येक बिन्दु से ठीक ९० अंश पर नाक (कदम्ब) है, एवमेव विषुवद्वृत्त की प्रत्येक बिन्दु से ध्रुव ठीक ९० अंश पर है। अतएव जहां क्रान्तिवृत्तीयपृष्ठीकेन्द्र को कदम्ब कहा जाता है, वहां विषुवद्वृत्तीयपृष्ठीकेन्द्र ध्रुव नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस प्रकार लगभग ३० अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बनाकर सप्तर्षिगण ध्रुव के चारों ओर परिक्रमा लगाया करते हैं, एवमेव २४ अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बना कर ध्रुव कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। भूपिण्ड का विष्वद्वृत्त इसी से आकर्षित है। इसीलिए ध्रुव को सम्पत्ति का प्रदाता माना गया है। जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेत यत् ॥ (ऋक्सं० ९।१०२।४।) ॥

"यह ध्रुव सप्तमाता नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षियों से पहिचाना जाता है, सप्तर्षिमण्डल ही ध्रुव का परिचायक है। जिस बुद्धि से सम्पत्ति का आगमन होता है, ध्रुव वैसी बुद्धि का प्रेरक है। यदि कोई व्यक्ति नियत समय पर नियत अवधि पर्यन्त ४० दिन तक अविच्छिन्न-रूप से ध्रुव के दर्शन करता है तो उस की बुद्धि में अपने आप सम्पत्ति प्राप्ति का उपाय स्फुरित होजाता है। कारण पृथिवी की जितनी भी रयि (दौलत) है, उस सब का प्रेरक ध्रुव ही है।"

ध्रुव किसी नक्षत्र का नाम नहीं है, अपितु निराकार विद्युत् ही ध्रुव है। यह विद्युत् बिन्दु जिस नक्षत्र के समीप रहती है, पहिचान के लिए उसी नक्षत्र को "ध्रुव" नाम से

सम्बोधित कर दिया जाता है। यह अपने नियत मण्डल का परित्याग नहीं करती, अतएव इसे ध्रुव कह दिया जाता है। वस्तुतः यह अपने मण्डल पर परिक्रमा लगाती है। इस की यह परिक्रमा २५ हजारवर्ष में पूरी होती है। इसी ध्रुवपरिभ्रमण से अयनपरिवर्तन होता है। सम्पातपरिवर्त्तन का मुख्य हेतु ध्रुवपरिवर्त्तन है। किसी समय अभिजित् नक्षत्र पर ध्रुव बिन्दु थी। उस समय अभिजित् ही ध्रुव कहलाता था। अभिजित् नक्षत्र वेदप्राणमय है। अतएव नाक्षत्रिक विद्या में इसे ब्रह्मा कहा गया है। जब तक अभिजित् ध्रुव रहा, तब तक भारतवर्ष में वेदविद्या का पूर्ण विकास रहा। आगे जाकर इस ध्रुव ने मिश्र पर अनुग्रह किया। मिश्र का सुप्रसिद्ध पिरामिड इसी ध्रुवकाल में बना था। वहां से ध्रुव के हटते ही मिश्र का वैभव भूगर्भ में विलीन होगया। क्रमशः पश्चिमी देशों पर ध्रुव का अनुग्रह हुआ। वे समुन्नत हुए। इस प्रकार परिक्रममाण ध्रुव आज अभिजित् से ठीक सामने आगया है, आधी परिक्रमा समाप्त हो चली है, १२॥ हजार वर्ष समाप्तप्राय हैं। अब पश्चिमी देशों से हट कर उस का रुख पूर्वीय देशों की ओर होने लगा है। यही हमारे भाग्योदय की पूर्वसूचना है। पश्चिमी देशों का भविष्य अन्धकारपूर्ण होने वाला है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि ध्रुवपरिभ्रमण ही तत्तद्देशों की उन्नति-अवनति का मुख्य कारण है। स्वतन्त्र भारत ने इसी ध्रुववियोग से अब तक परतन्त्रता के कष्ट सहे हैं। निकट भविष्य में उस पर ध्रुव का अनुग्रह होने वाला है। हमारा भाहत-भारत पुनः भा—रत बनने वाला है, ध्रुवसिद्धान्त (ध्रुवपरिभ्रमणसिद्धान्त) का यही संक्षिप्त इतिहास है। इसी इतिहास का स्पष्टीकरण करते हुए गुरुवर कहते हैं—

> नाकस्थविष्णोः परितस्तु वेददृक् व्यासार्द्धजे सञ्चरति ध्रुवं ध्रुवः।
> वृत्ते ततः क्वापि पुरा युगे स हि प्राग्मेरुखस्वस्तिकगोऽभिजित्यभूत् ॥१॥
> प्राग्मेरुस्थे हंसपृष्ठेऽभिजिद्धे ब्रह्मण्यासीत् स ध्रुवो यत्र काले।
> ब्रह्मादिष्टो वेदधर्म्मस्तदासीत् सर्वप्रीतो हृद्गतः मोन्नतश्च ॥२॥
> तत्रैवासीद्भारते सोऽपि सूर्यो विज्ञानेनोच्छ्राययन् भारतीयान् ॥
> अस्तं यातो भारतस्यैष सूर्य्यः क्लिश्यन्त्यांर्य्यास्तेन बुद्ध्यन्धकारात् ॥३॥

प्राग्मेरुखस्तिकमेष हित्वोत्तरस्य खस्वस्तिकमर्णवस्य ॥
गतो ध्रुवः कर्षति वेदधर्म्मं विपर्य्ययेणाद्य विपर्य्ययस्थः ॥४॥
तारावशादपि फलं ध्रुव एष दत्ते तेनाभिजित्परिगतः स हि वैदिकानाम् ॥
प्रागुन्नतिं बहु चकार स चाधुनैषां वेदद्विषां सततमुन्नतिमातनोति ॥५॥
कालेन केन च परिक्रममाण एष प्राचीमुपेत्य पुनरेष्यति दक्षिणाशाम् ॥
तेन ध्रुवं ध्रुव इहाभिजिति प्रपन्नो भूयः करिष्यति स भारतधर्म्मवृद्धिम् ॥६॥

(श्रीगुरुप्रणीतइन्द्रविजय ५-प्रक्रम)

यह तो हुई अपनी पराई सुख-दुःख की चर्चा । अब हम प्रसंगवश अपनी दशा का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना आवश्यक समझते हैं । एक भारतीय ब्राह्मण के नाते भारतवर्ष की उक्त दशा पर हमारे अन्तरात्मा में वेदना का उदित होना स्वाभाविक था । हमारे स्वर्गीय पिता **श्रीबालचन्द्रजी-शास्त्री** सनातनधर्म्म के अन्यतम भक्त थे । ऐसे घर में जन्म लेकर, साथ ही में बचपन से ही संस्कृतशिक्षा की उपासना करने के कारण उक्त धर्म्म के प्रति श्रद्धा होना भी स्वाभाविक था । सौभाग्य से एक दो बार जयपुर राजसभा के प्रधान पण्डित विद्यावाचस्पति समीक्षाचक्रवर्त्ती गुरुवर **श्रीमधुसूधनजी-ओझा** के श्रीमुख से वैदिकसाहित्य का प्रवचन सुनने का अवसर प्राप्त हुआ । उन दो एक प्रवचनों का लेखक के मानसजगत् पर इतना अमिट प्रभाव पड़ा कि जिस की प्रेरणा से इसे किसी अलक्षित ईश्वरीयसूत्र से आकर्षित होकर ओझाजी की सेवा में वेदस्वाध्याय आरम्भ करना पड़ा । यह घटना सम्भवतः १५ वर्ष पहिले की है । तब से आज तक हमारा अध्ययन उसी रूप से चल रहा है ।

अध्ययनकाल में ही हमारा यह संकल्प होगया था कि इस समय वैज्ञानिक पद्धति से वैदिकसाहित्य को राष्ट्रभाषा में जनता के सामने उपस्थित करना चाहिए । जब तक विज्ञानदृष्टि से आज की पढ़ी लिखी भारतीय जनता को उसे उस की धार्म्मिक आज्ञाओं का रहस्य न बतला दिया जायगा, तब तक विज्ञानप्रधान पाश्चात्य देशों के संसर्ग से उखड़ी हुई धर्मश्रद्धा कथमपि पुनः प्रतिष्ठित नहीं हो सकती । अपने इसी विचार को कार्यरूप में परिणित करने के लिए

वैदिक साहित्य के भिन्न भिन्न विषयों पर लगभग ४० सहस्र पृष्ठ लिखे गये, एवं आज भी हमारा यह कार्य यथावत् चल रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध **शतपथ-ब्राह्मण** का विज्ञानभाष्य लगभग ८००० पृष्ठों में संपन्न हुआ है। इस के अतिरिक्त **ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्यादि उपनिषद्विज्ञानभाष्य, गीताविज्ञानभाष्य, पुराणरहस्य, श्राद्धविज्ञान, हिन्दूत्योंहारों का वैज्ञानिकरहस्य, हमारे संशय एवं उनका निराकरण, वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्** (संस्कृत में), आदि ग्रन्थ संपन्नप्राय हैं।

यह निर्विवाद है कि एक साहित्यसेवी सतत स्वाध्याय में निमग्न रहता हुआ प्रभूत-द्रव्य साध्य साहित्य का प्रकाशन करने में असमर्थ ही रहता है। अपनी इसी असमर्थता को दूर करने के लिए कुछ समय पूर्व हमने **बम्बई** एवं **कलकत्ते** की यात्रा की थी। बम्बई में लगभग ७ मास के चिर प्रयास से, एवं कलकत्ते में ३ मास के प्रयास से जनता का ध्यान इस साहित्य की उपादेयता, एवं आवश्यकता की ओर आकर्षित हुआ। फल दोनों हीं जगह सन्तोषप्रद न हुआ। फिर भी जो कुछ हुआ उसी के बल पर प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया गया। उक्त यात्राओं से पहिले ही हमने **शतपथभाष्य** का मासिक पुस्तकरूप से प्रकाशन आरम्भ किया था। इस के तीन वर्ष में लगभग १२०० पृष्ठ प्रकाशित भी हो चुके हैं। यह सौभाग्य का विषय है कि देश के सभी गण्य मान्य विद्वानों ने उक्त भाष्य पर अपनी अमूल्य सम्मतिएं भेजते हुए इस साहित्य को परम उपयोगी बतलाया है। इस के बाद **बम्बईसमिति** के प्राप्त द्रव्य से **ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य** का प्रथम खण्ड, एवं **द्वितीयखण्ड** प्रकाशित हुआ है। यह भाष्य ९०० पृष्ठों में संपन्न हुआ है। उचित तो यह था कि पहिले हम **उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका** ही प्रकाशित करते, परन्तु उस समय इस की प्रेस कॉपी तय्यार न थी। फलतः **ईशभाष्य** प्रकाशन के अनन्तर इस का प्रकाशन करना पड़ा। इस के बाद क्या प्रकाशित होगा? इस का उत्तर कालपुरुष पर निर्भर है। अथवा उन धनिकों की सद्बुद्धि पर निर्भर है, जो कि इन कार्यों के सञ्चालक हैं। हम अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ हैं, एवं जगत् की निन्दा—स्तुतियों का समादर करते हुए इसी प्रकार मरणपर्य्यन्त दृढ़ रहेंगे। देश का कर्त्तव्य देश के सामने है, वह जैसा ठीक समझे करे।

उपनिषत्-गीता-व्याससूत्र तीनों की समष्टि विद्वत्समाज में प्रस्थानत्रयी नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष की सभी सम्प्रदाएं इस त्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। फलतः सभी सम्प्रदायाचार्यों नें इन पर अपनें अपनें स्वतन्त्र भाष्य लिखे हैं। इतर पाश्चात्य एवं पूर्वीय विद्वानों नें भी इस त्रयीसमुद्र का भलीभांति मन्थन किया है। आजदिन प्रायः सभी भाषाओं में त्रयी का उपबृंहण उपलब्ध हो रहा है। ऐसी स्थिति में हमसे यह पूंछा जा सकता है कि—"जब उपनिषदादि के अर्थ समझने की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है तो फिर यह व्यर्थ का साहस क्यों किया जाता है?। इस प्रश्न के सम्बन्ध में अधिक कुछ न कह कर हम केवल यही कहना पर्याप्त समझते हैं—कि 'आज तक उपनिषदादि पर जितनें भाष्य लिखे गए हैं, वे सब दर्शनमर्यादा से आक्रान्त हैं। साथ ही में सभी सम्प्रदायाचार्यों नें इसे अपने घर की (स्वाभिमत मत की) प्रातिस्विक वस्तु बनाने की विफल चेष्टा की है। किसी आचार्य की दृष्टि से उपनिषदें अद्वैततत्व का प्रतिपादन करतीं हुईं अखण्डब्रह्म का निरूपण करतीं हैं। किसी की दृष्टि में द्वैत का, किसी की में विशुद्धाद्वैत का, किसी की में विशिष्टाद्वैत का, किसी की में द्वैता-द्वैत का प्रतिपादन है। परन्तु हमारी दृष्टि म उपनिषदें विज्ञानसहकृत अध्यात्मतत्व की निरूपिकाएं हैं, जैसा कि—"उपनिषदों में क्या है?" इस प्रश्न के समाधान में स्पष्ट हो जायगा।

विज्ञानसिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व के लिए समान है। वह एक देशी नहीं, अपितु सार्वदैशिक है। इसी विज्ञानराशि को, जो कई शताब्दियों से विलुप्तप्राय थी, संसार के सामने रखने के लिए यह प्रयास है। इस भाष्य में, किंवा इस वैज्ञानिक साहित्य में आपको सर्वथा अपूर्वता मिलेगी। इस में प्राचीन भाष्यों के अर्थ की मीमांसा से यथाशक्ति बचने की चेष्टा की गई है। फिर भी यत्र तत्र सर्वथा सत्यसिद्धान्त की रक्षा के नाते "शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि" इस आप्त वचन के अनुसार हमें प्राचीनों के सम्बन्ध में अपने स्पष्ट विचार प्रकट करने पड़े हैं।

जिस महापुरुष ने अपनी ईश्वरदत्त अलौकिक प्रतिभा के बल पर अपनी आयु के ४०

वर्ष लगा कर जिस वेदराशि का मन्थन कर विज्ञान के अमल रत्नों से संसार को प्रकाशित किया है, हम उस दिव्यपुरुष के उच्छिष्ट भोगी हैं, हमारा यह सारा प्रयास उसी दिव्यविभूति का प्रसाद है। हमतो निमित्त मात्र हैं। आशा है देश हमारी इस सामान्य कृति को अपना कर आगे के लिए हमें उत्साहित करेगा।

उचित था कि भूमिका भाग को यहीं समाप्त कर ग्रन्थ आरम्भ कर दिया जाता, परन्तु जैसा कि आरम्भ में हम निवेदन कर चुके हैं, लोकरुचि के अनुसार हमें भाषा का आश्रय लेना पड़ा है। आधुनिक पाश्चात्यशिक्षादीक्षित विद्वानों की दृष्टि ग्रन्थ के मूल विषय पर पीछे जाती है, एवं बहिरंग धर्म्मों की ओर उन का ध्यान पहिले आकर्षित होता है। "ग्रन्थ के रचयिता कौन थे? यह कब बना था? इस के निर्म्माणकाल में किन विचारों की प्रधानता थी? ग्रन्थ का अमुक नाम क्यों रक्खा गया? अन्य विद्वानों के इस सम्बन्ध में क्या विचार हैं?" पहिले वे इन प्रश्नों का समाधान चाहते हैं। अतः लोकरुचि को लक्ष्य में रखते हुए अनावश्यक होते हुए भी उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। हमारा यह विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ़ निश्चय है कि यदि पाठकों नें आद्योपान्त इस भूमिका को देखने का कष्ट उठाया तो सभी उपनिषदों का निरूपणीय विषय सामान्यरूप से उन के लिए गतार्थ हो जायगा। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित विषयों पर ही प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

१—उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है?
२—उपनिषत् शब्द का अर्थ क्या है?
३—क्या उपनिषत् वेद है?
४—उपनिषदों में क्या है?
५—उपनिषत् ज्ञान का अधिकारी कौन है?
६—उपनिषत् हमें क्या सिखाती है?
७—औपनिषद-ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे?
८—ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदों में परस्पर में क्या सम्बन्ध है?
९—श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एकदृष्टि।

उक्त प्रश्न जितने ही सरल हैं, इन का उत्तर उतना ही कठिन है। उत्तर का अभाव इस कठिनता का कारण नहीं है, अपितु धार्मिकजगत् की जड़श्रद्धा ने ही इन प्रश्नों का उत्तर कठिन बना रक्खा है। कुछ समय से (जब से वैदिक स्वाध्याय छूटा है तब से) यहां के विद्वानों की ऐसी प्रवृत्ति होगई है कि उन्होंनें अपने घर में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए जो अपना एक कल्पित सिद्धान्त बना रक्खा है, उस के विरुद्ध वे एक अक्षर भी सुनना नहीं चाहते, चाहे फिर वह विचार शास्त्र एवं युक्तिसङ्गत ही क्यों न हो। यद्यपि—"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः" यह भी उन्हीं के आप्त पुरुषों का सिद्धान्त है, परन्तु आज कल उन की दृष्टि में इस सिद्धान्त का भी कोई मूल्य नहीं है। बस हमारी कठिनता का यही कारण है। परन्तु कोई चिन्ता नहीं। संभव है हमारा यह प्रयास उन्हें वास्तविक स्थिति का परिचय करा सके। इसी सम्भूतिद्वारा असम्भूति के विनाश के लिए क्रमप्राप्त मंगलरहस्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

—:o:—

प्रारम्भिकनिवेदनसमाप्त

जयपुर–राजधानी
विज्ञानमन्दिर-भूराटीबा जयपुर,
(राजपूताना)

विद्वद्भिर्विधेयः—
मोतीलालशर्म्मा–गौड़ः

—:o:—

उपनिषदों के आद्यन्त में मंगल पाठ क्यों किया जाता है ?

॥ श्रीः ॥

❀ मंगलरहस्य ❀

मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषकाणि भवन्ति ।
आयुष्मत् पुरुषकाणि, चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता तथा स्युः ॥

पनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ का विधान है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है? प्रकृत प्रकरण में इसी प्रश्न के समाधान की चेष्टा की गई है। भारतवर्ष में उपलब्ध होने वाले जितनें भी आस्तिक ग्रन्थ हैं, उन सब के आरम्भ में गणेशस्तव, अग्नि, लक्ष्मी, विष्णु, दुर्गा, ओं, इत्यादि रूप से मंगल उपलब्ध होता है। इस के अतिरिक्त सनातनधर्म्मी जगत् के जितनें कर्म्म हैं, उन सब का आरम्भ मंगलपाठ से ही होता है। यदि हम किसी को व्यवहार में पत्र लिखते हैं तो उस के आरम्भ में भी "श्रीः" "श्रीरामजी" "श्रीगणेशायनमः" "ओंतत्सद्ब्रह्मणेनमः" "श्रीवल्लभायनमः" "श्रीदुर्गायैनमः" इत्यादि रूप से मंगलविधाता इष्टदेव का स्मरण करना चिरन्तन पद्धति में अन्तर्भूत हो रहा है। सचमुच यह हमारी उदात्त भावना है। मनोविज्ञान (Cycloige) के सिद्धान्त के अनुसार—"जा की रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी जिन तैसी" यह भाव सर्वसम्मत है। हम अपने जीवन में, अपने मानस-जगत् में जैसे भावों की प्रधानता रखते हैं, तदनुसार ही हमारे आत्मा के साथ फलाफल का सम्बन्ध होता है। इस सद्भावना के लिए ही हमारे जीवन के सब कर्म, हमारे देश के सब आस्तिक ग्रन्थ उक्त मंगलभावना से युक्त रहते हैं। "स्वस्ति" भाव ही हमारे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इस स्वस्तिभावना को दृढ करने के लिए ही मंगलपाठ आवश्यक है। "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" इस सुप्रसिद्ध वृद्धव्यवहार के अनुसार प्रत्येक श्रेयकर्म्म (शुभ-कर्म्म) में अवश्य ही विघ्न आया करते हैं। सांसारिक कर्म्म श्रेय, प्रेय, श्रेयप्रेय भेद से तीन भागों में विभक्त हैं।

यह तीनों कर्म्म अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित हैं। आत्मोन्नतिलक्षण कर्म्म **श्रेय** हैं, आसक्तिलक्षण कर्म्म **प्रेय** हैं, एवं उभयलोकसम्पत्सम्पादकलक्षण कर्म्म **श्रेयप्रेय** हैं। सीधी भाषा में इन तीनों को हम **हितकर, रुचिकर, हितकर-रुचिकर** इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। एक ज्वरार्त्त रोगी के लिए चिरायते का काढ़ा ज्वरविनाशक होता हुआ हितकर अवश्य है, परन्तु काढ़ा पीते समय रोगी के प्राण ब्रह्माण्ड में चढ़ जाते हैं, क्योंकि यह रुचिकर नहीं है। इसी रोगी के लिए अन्न खाना किसी अंश में रुचिकर अवश्य है, परन्तु हितकर नहीं। मद्यपी के लिए मद्य रुचिकर है, परन्तु हितकर नहीं है। प्रतिदिन का **सात्त्विक भोजन, स्वास्थ्यवर्द्धक भ्रमण, स्वकर्त्तव्यकर्म्म में प्रवणता** आदि कर्म्म हितकर भी हैं, रुचिकर भी हैं। हितकर कर्म्मों में बुद्धि की प्रधानता है, रुचिकर कर्म्मों में **मन** की प्रधानता है, एवं हितकर-रुचिकर कर्म्मों में बुद्धि एवं मन दोनों का सामञ्जस्य है। इन तीनों में मन की प्रधानता से सम्बन्ध रखने वाले केवल रुचिकर कर्म्म प्रत्येक दशा में नाश के कारण हैं। इन के आरम्भ में रुचि है, परिणाम में यही विषोपम हैं, दुःखद हैं। अनियमित राग-द्वेष, विषयोपभोग आदि सब ऐसे ही कर्म्म हैं। शेष दोनों (हितकर एवं हितकर-रुचिकर) कर्म्म अलौकिक अधिकारी, एवं लौकिक अधिकारी भेद से व्यवस्थित हैं। **गृहस्थाश्रम** में प्रतिष्ठित व्यक्ति लौकिक अधिकारी है। यह विशुद्ध आत्मचिन्तन का ही अधिकारी नहीं है। इसे आत्मचिन्तन के साथ साथ सांसारिक **पुत्र-कलत्रपरिपालन, अर्थोपार्ज्जन, सम्बन्धियों के साथ यथा योग्य व्यवहार** आदि लौकिक कर्म्मों का भी आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में अपने इस उभयधर्म्मावच्छिन्न गृहस्थकर्म्म के सम्यक् परिपालन के लिए इसे बुद्धि एवं मन दोनों का सामञ्जस्य रखना पड़ता है। गृहस्थाश्रम के जितनें कर्म्म हैं, सब में **श्रेय-प्रेय** दोनों का समावेश है। इस प्रकार यथाशास्त्र गृहस्थाश्रम में इस उभयकर्म्म का अनुष्ठान समाप्त करने के अनन्तर यही लौकिक अधिकारी क्रमशः **वानप्रस्थ, संन्यास** आश्रम में प्रविष्ट होता हुआ, लौकिक व्यावहारिक कर्म्मों की ओर से उदासीन बनता हुआ, बुद्धिप्रधान विशुद्ध श्रेय कर्म्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता हुआ, विशुद्ध आत्मनिष्ठ बनता हुआ अलौकिक अधिकारी बन जाता है। यही इस पुरुष का परमपुरुषार्थ है, जन्मसाफल्य है। उपनिषत् **आत्मविद्या शास्त्र है, वह एकमात्र आत्मनिष्ठा का प्रतिपादन करती है।** अतएव उसने

श्रेय-प्रेय इन दो विभागों को ही प्रधानता दी है। मध्य का उभयाधिकारी लौकिक कोटि में आता हुआ उपनिषत् की दृष्टि में प्रेय कोटि में ही अन्तर्भूत है। इस प्रकार संसार में श्रेय-प्रेय दो विरुद्ध भावों का साम्राज्य हो रहा है। एक ओर इन्द्रियाराम, विषयोपभोग, अर्थलिप्सा, स्वार्थपरायणता, नास्तिक्य आदि रुचिकर भावों की प्रधानता है, दूसरी ओर इन्द्रियसंयम, विषयोपराम, निःस्पृहा, परमार्थबुद्धि, आस्तिक्य आदि हितकर भावों की प्रधानता है। योग-क्षेम को ही जीवन का परमपुरुषार्थ मानने वाले, आहार-निद्रा-भय-मैथुन-आदि पशुधर्म्मों को ही जीवन का मुख्य उद्देश्य समझने वाले, केवल मानस व्यापार को प्रधानता देने वाले, अतएव मन्दबुद्धि लोग उक्त दोनों कर्म्मों में से "प्रेय" मार्ग का आश्रय लेने में ही अपने आप को कृतकृत्य समझने लगते हैं। "जीवन भोजन के लिए है" यही इन का आराध्य मन्त्र है।

ठीक इस के विपरीत—"भोजन जीवन के लिए है" इस रहस्य को समझने वाले, आत्माभ्युदय को ही परमपुरुषार्थ मानने वाले, बुद्धिव्यापार को प्रधानता देने वाले, अतएव "धीर" लोग उक्त दोनों कर्म्मों में से "श्रेय" मार्ग को ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझते हैं। इन दोनों में से श्रेयमार्गावलम्बी अलौकिक अधिकारी साधुभाव के अधिकारी बनते हैं, एवं प्रेयमार्गावलम्बी लौकिक अधिकारी लक्ष्यच्युत होजाते हैं। इन्हीं दोनों विरुद्ध भावों का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

*अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ॥
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ॥
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥

(कठोपनिषत् १ अ०।२।व०।१-२-मं०)।

निष्कर्ष यही हुआ कि आत्मनिष्ठ अलौकिक, व्यहारनिष्ठ लौकिक, एवं पतनोन्मुख

*इस विषय का विशद विवेचन कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

लौकिक भेद से तीन प्रकार के अधिकारियों में उक्त तीनों कर्म्म विभक्त हो रहे हैं। इन में आरण्यकों एवं उपनिषदों के लक्ष्य आत्मनिष्ठ अलौकिक अधिकारी हैं, एवं ब्राह्मणग्रन्थ के लक्ष्य व्यवहारनिष्ठ लौकिक अधिकारी हैं। तीसरे अधिकारी शास्त्रनिष्ठा से बहिर्भूत होते हुए सर्वथा लक्ष्यच्युत हैं।

१—{ ३—सन्यासकर्म्म ——→ उपनिषत्मार्ग ; २—वानप्रस्थकर्म्म ——→ आरण्यकमार्ग } →उत्तमाधिकारी

२—{ १—गृहस्थकर्म्म ——→ ब्राह्मणमार्ग ——→ मध्यमाधिकारी

३—{ ०—शास्त्रविरुद्धकर्म्म ——→ अमार्ग (कुपथ) ——→ अधमाधिकारी

१—उत्तमाधिकारी, आत्मनिष्ठ अलौकिक धीरपुरुष ——→ श्रेयमार्गानुगामी

२—मध्यमाधिकारी, व्यवहारनिष्ठ लौकिक पुरुष ——→ श्रेयप्रेयमार्गानुगामी

३—अधमाधिकारी, पतनोन्मुख निष्ठाशून्य पुरुष ——→ प्रेयमार्गानुगामी

१—श्रेयकर्म्म ——→ बुद्धिप्रधान हितकरकर्म्म ——— निःश्रेयसजनक।

२—श्रेयप्रेयकर्म्म ——→ उभयप्रधान हितकररुचिकरकर्म्म — अभ्युदयनिःश्रेयसजनक।

३—प्रेयकर्म्म ——→ मनःप्रधान रुचिकरकर्म्म ——— प्रत्यवायजनक।

जो मनुष्य प्रेयकर्म्मों में रत हैं, उन के लिए आसुरीसंपत्ति विघ्न के स्थान में मङ्गलप्रद है। फलतः इन्हें अपनें कर्म्मों में विघ्नविनाशमूलक देवतास्मरणात्मक मंगलपाठ की कोई आवश्यकता नहीं रहती। श्रेयप्रेयकर्म्मों का अनुष्ठान करने वाले व्यवहारनिष्ठ मनुष्य को जहां असुरभावमूलक प्रेयकर्म्म का अनुगमन करना पड़ता है, वहां उसे ईश्वरोपासन, दिव्यषोडशसंस्कार आदि दैवभावमूलक श्रेयकर्म्म को भी अपनाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में नित्यसहचारी, विघ्नप्रवर्तक असुरों की कृपा का होना अनिवार्य होजाता है। इस दुरित को दूर करने के लिए इसे अपने दिव्यकर्म्मों में मंगल का आश्रय लेना पड़ता है। तीसरे हैं विशुद्ध श्रेयोऽनुगामी आत्मनिष्ठ उत्तमाधिकारी। यहां केवल दैवीसंपत् का साम्राज्य है। फलतः इन श्रेयकर्म्मों में आसुरभाव का प्रबल

आक्रमण होना अनिवार्य है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" यह कहा गया है। इन कर्म्मों में विघ्न बहुत हैं, एवं प्रबल हैं। इसी प्राबल्य के कारण जहां और ग्रन्थों के आरम्भ में मंगलपाठ किया जाता है, वहां आत्मोपयिक आत्मीय कर्म्मों का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद्ग्रन्थों के आद्यन्त में मंगलपाठ करना उसी प्रकार आवश्यक होजाता है, जैसे कि क्रोधमूर्त्ति रुद्र के लिए उभयतो-नमस्कार। देवताओं में रुद्र देवता संहारक माने गए हैं। इन के इस भीषण क्रोध को शान्त करने के लिए—

आदिनमस्कार
"नमो-बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये-नमः"
"नमो-भवस्य हेत्यै जगतां पतये-नमः"
"नमो-रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये-नमः"
"नमः-सूतायाहन्त्यै वनानां पतये-नमः"
अन्तनमस्कार

(यजुःसं० १६।१८)

इत्यादि रूप से आदि एवं अन्त में दो दो वार नमस्कार किया जाता है। उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

प्रकारान्त से विचार कीजिए। जिन कार्यों से आत्मोन्नति होती है, आत्मा का अभ्युदय होता है, वे सब शुभ कर्म्म हैं, एवं आत्मपतन के हेतुभूत प्रत्यवायजनक सारे कर्म्म अशुभ हैं। [1] विद्यासमुचित यज्ञ–तप–दानरूप निवृत्तिसत्कर्म्म, [2] विद्यासमुचित यज्ञतपदानलक्षण प्रवृत्तिसत्कर्म्म, [3] विद्यानिरपेक्ष इष्ट–आपूर्त्त–दत्तरूप प्रवृत्तिसत्कर्म्म यह तीन विभाग शुभकर्म्म के हैं, एवं [4] विद्यानिरपेक्ष शास्त्रनिषिद्ध असत्कर्म्म अशुभ कर्म्म कहलाते हैं। इन चारों का १-२-१ इस क्रम से विभाजन समझना चाहिए, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट होजाता है।

१—१—वि० सा० निवृत्तिकर्म्म ——→श्रेयकर्म्म ——→आत्मनिष्ठ (अलौकिक)।

२—१—वि० सा० प्रवृत्तिकर्म्म ╲
                                                    ←श्रेयप्रेयकर्म्म ——→व्यवहारनिष्ठ (लौकिक)।
३—२—वि० नि० प्रवृत्तिकर्म्म ╱

४—१—अशास्त्रीयकर्म्म ————→प्रेयकर्म्म ——→निष्ठाच्युत (उभयतोभ्रष्ट)।

शुभ कर्म्मों का उदय दैवीसंपद् से होता है, एवं अशुभकर्म्म का आक्रमण आसुरीसंपद् से होता है। देवता एवं असुरो में*अश्वमाहिष्य (सहजवैर) है। देवता ज्योतिर्म्मय हैं, असुर तमोमय हैं। प्रकाश एवं अन्धकार अत्यन्त विरुद्ध इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी भावों में निरन्तर स्पर्द्धा

---

*"सौर्य्यो वा अश्वः" (गो०ब्रा०उ०३।१९।) इस सामसिद्धन्त के अनुसार अश्व पशु में सौरप्राण (इन्द्र) की प्रधानता है। उधर महिष पशु में वारुण आप्यप्राण प्रधानरूप से प्रतिष्ठित है। यद्यपि-"वारुणो हि देवतया अश्वः" (तै०ब्रा०१।७।२।६।) इत्यादि रूप से अश्वपशु को सौर्य्यवत् वारुण भी माना गया है, परन्तु वहां वारुण से सौरप्राणयुक्त वेन नाम का ज्येतिर्म्मय पानी ही विवक्षित समझना चाहिए। सौरें रश्मिमण्डल में प्रविष्ट पारमेष्ठ्यं वारुण भाग ही अश्वपशु की योनि है। इसी आधार पर—"अप्सु योनिर्वा अश्वः" (तै०ब्रा०३।८।४।२) यह कहा जाता है। उधर महिषपशु में विशुद्ध आप्यप्राण का प्रभुत्व है। सूर्य्यमण्डल की अन्तिम सीमा (जो कि आर्यसर्वस्व (पुराण) में 'लोकालोक' नाम से प्रसिद्ध है) के बाहर पारमेष्ठ्य पानी का साम्राज्य है। इसी लोकालोक स्थान पर सूर्य्योपग्रहभूत शनि की सत्ता है। इस ग्रह का जो भाग सूर्य की ओर रहता है, प्रकाशित वही अर्द्धभाग धर्म्मराज है। एवं सूर्य्य से विरुद्ध दिक् में रहने वाला तमोमय अर्द्धभाग यमराज है। वही यम है, वही धर्म्म है। केवल ज्योति-तम में तारतम्य है। इनमें से तमोमय शनितेजःप्रधान आप्यप्राण से ही महिष पशु का निम्मार्ण होता है। माहिष ही उस की प्रतिष्ठा है। अतएव निदानविद्या के अनुसार महिष को यमराज का वाहन माना जाता है। इस प्राकृतिक स्थिति से प्रकृत में यही बतलाना है कि पूर्वदिक्स्थ सूर्य्य (इन्द्र), एवं पश्चिमादिक्स्थ वरुण इन दोनों दिक्पालों म सहजवैर है। एक देवेन्द्र है, दूसरा असुरेन्द्र है। एक ज्योतिर्म्मय है तो दूसरा तमोमय है। अतएव इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी देवताओं से कृतात्मा अश्व एवं महिष में सहज वैर होना स्वाभाविक होजाता है। इसी प्राणविज्ञान के आधार पर संस्कृत साहित्य में सहजवैर के स्पष्टीकरण के लिए "अश्वमाहिष्य" न्याय प्रचलित है। इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखनें वालों को कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य देखना चाहिए। .... ।

चलती रहती है। "जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार देवप्राण एवं असुरप्राण दोनों प्राणदेवता+ स्थावरजङ्गमात्मक विश्व के उपादान हैं। सुतरां इन दोनों से उत्पन्न विश्व के प्रत्येक पदार्थ में दैवासुरसंपत्ति की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसी आधार पर—"गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी" यह आभाणक प्रसिद्ध है।

जिन पदार्थों में (वह पदार्थ जड़ हो, अथवा चेतन) दैवी संपत्ति अधिक होती है, वे सब सात्विक हैं। जिन में आसुरी सम्पत्ति को प्रधानता रहती है, वे सब पदार्थ तामस हैं। एवं दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव देवासुर के सामञ्जस्यरूप उभयधर्म्मावच्छिन्न पदार्थ राजस हैं। देवप्रधान सत्वभाव, असुरप्रधान तमोभाव, एवं उभयप्रधान रजोभाव के कारण ही पूर्व-प्रतिपादित श्रेयादि मर्यादाएं प्रतिष्ठित हैं।

१—देवबलप्रधान सात्विकभावयुक्त पुरुष—श्रेयोमार्गानुगामी आत्मनिष्ठ।

२—उभयबलप्रधान राजसभावयुक्त पुरुष—उभयमार्गानुगामी व्यवहारनिष्ठ।

३—असुरबलप्रधान तामसभावयुक्त पुरुष—प्रेयोमार्गानुगामी निष्ठाच्युत।

शुभकर्म्म की प्रेरणा अन्तरात्मस्थ सत्वभावप्रवर्त्तक देवता की प्रेरणा है। देवता के साथ ही उसी स्थान में देवविरोधी तमोभावप्रवर्त्तक असुर भी अवस्थित हैं। देवप्राण की स्वाभाविक प्रेरणा का विरोध करना इस आसुरप्राण का नैसर्गिक धर्म्म है। सौभाग्य से यदि देवता का बल अधिक होता है तो वे असुर दिव्य कर्म्म में विघ्न करने में असमर्थ रहते हैं। यदि असुर-बल का प्रभुत्व है तो कार्यविनष्टि है। वस्तुतस्तु चाहे देवबल कितना ही प्रबल क्यों न हो, फिर भी आसुरभाव का विघ्नरूप आक्रमण सर्वात्मना नहीं रोका जासकता। कारण इस का यही

+ देव शब्द केवल ३३ सौरप्राणों का ही वाचक है, परन्तु देवता शब्द देव-असुर-पितर-गन्धर्व-ऋषि आदि प्राणमात्र का वाचक है। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्यान्तर्गत अष्टविध-देवताविज्ञान नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

है कि ज्ञान एवं कर्म्म दोनों ही ईश्वर प्रजापति की नित्य विभूतिएं हैं। इन दोनों में ज्ञानतत्व सत्ज्ञान[1], अज्ञान[2], विरुद्धज्ञान[3] भेद से तीन भागों में विभक्त है, एवं कर्म्मतत्व सत्कर्म[1], अकर्म्म[2], विकर्म[3] भेद से तीन भागों में विभक्त है। ज्ञान—कर्म्म के इन ६ ओं विवर्त्तों में सत्ज्ञान, एवं सत्कर्म्म यह दो तो दैवीविभूतिएं हैं, एवं शेष चारों आसुरीविभूतिएं हैं। यही कारण है कि संसार में दैवीसम्पत्तिमूलक शान्तिभाव अत्यल्पमात्रा में है, एवं आसुरीसम्पत्तिमूलक अशान्तिभाव का साम्राज्य अधिक स्थान तक व्याप्त होरहा है। देवताविज्ञान के अनुसार भी ज्योतिर्मय देवनाम के सौर दिव्यदेवता संख्या में ३३ ही हैं। साथ ही में आपोमय परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में उत्पन्न होन वाले सूर्य्य से विकसित यह प्राणदेवता असुरों के छोटे भाई हैं। उधर आप्य-प्राणप्रधान असुर संख्या में देवताओं से तिगुनें (९९) हैं, एवं आपोमय परमेष्ठी में उत्पन्न होने के कारण यह देवताओं के बड़े भाई हैं। देवता सत्यसंहित हैं, विज्ञानघन हैं। असुर बल-संहित बनते हुए असत्यसंहित हैं। "बलं वाव विज्ञानाद् भूयः" (छा.उ.७।८।) के अनुसार बलप्रधान विश्व में बलसंहित आसुरभाव का ही साम्राज्य रहना प्रकृतिसिद्ध है। फलतः प्रत्येक शुभ कार्य में इस आसुरभाव का आक्रमण अवश्यंभावी बन जाता है।

प्राकृतिक असुरों द्वारा होने वाले इसी विघ्नभाव को दूर करने के लिए ऋषियों नें प्रत्येक कार्य्य के आदि-मध्य-अवसान में मङ्गल की व्यवस्था की है। त्रिसत्य आत्मा के अवयवरूप प्राण-देवता भी त्रिसत्य ही हैं। इसी त्रिभाव के परिग्रह के लिए तीन स्थानों में मङ्गलपाठ किया जाता है। साथ ही में प्रत्येक मङ्गल ओंशान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! इस प्रकार त्रिपर्वा होता है। इसी मङ्गलरहस्य को लक्ष्य में रखकर अभियुक्त कहते हैं—

***"एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थमृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्यो महतःशास्त्रौघस्य**

---

*भगवान् पाणिनिविरचित अष्टाध्यायी क्रम के अनुसार "वृद्धिरादैच्" यह पहिला सूत्र है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उक्त सूत्र के प्रयोजनों का विचार करते हुए अन्त में उन सब प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध कर यह प्रश्न उठाया है कि—"जब कि उक्त प्रयोजन अन्यरूप से सिद्ध हो जाते हैं तो फिर "वृद्धिरादैच्" सूत्र की क्या आवश्यकता रह जाती है?—(कथं "वृद्धिरादैच्" इति)।

मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीर-पुरुषकाणि भवन्ति, आयुष्मत् पुरुषकाणि, चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता तथा स्युरिति" (पात० महाभाष्य १।१।३।) । इति ।

न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध कारिकावलीग्रन्थ में भी मंगल का उक्त फल ही बतलाया गया है, जैसा कि निम्न लिखित पङ्क्तियों से स्पष्ट होजाता है—

*"विघ्नविघाताय कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति—"नूतनेति" ।

+++ इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्येत, तत्रापि जन्मान्तरीयं तत् कल्प्यते ।

यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते, तत्र बलवत्तरो विघ्नो, विघ्नप्राचुर्यं

इस आपत्ति का निराकरण करते हुए, सूत्र की सार्थकता प्रकट करते हुए आगे जाकर आचार्य कहते हैं कि आचार्य (पाणिनि) के केवल इस एक (वृद्धिरादैच्) सूत्र को मङ्गलार्थ समझ कर सन्तोष कर लेना चाहिए। मङ्गलप्रिय, अतएव माङ्गलिक आचार्य अतिगहन व्याकरणशास्त्र के आदि में (निर्विघ्न शास्त्रसमाप्ति के लिए) मङ्गलसूचक वृद्धि शब्द का ग्रन्थ (अष्टाध्यायी) के आरम्भ में प्रयोग करते हैं । (आस्तिक) शास्त्र मङ्गल को आदि में रख कर ही प्रवृत्त होते हैं । "इस मङ्गल से पढ़ने वाले आत्मदृष्ट्या वीर बनें, दीर्घायु बनें, एवं पढ़ानें वाले समृद्धि युक्त हों" यही इस मंगल का प्रयोजन है" ।

*"विघ्नविनाश के लिए किया हुआ मंगल शिष्यों क शिक्षण के लिए (शिष्यवर्ग इसी प्रकार मंगल करते रहें, यह बतलाने के लिए ग्रन्थकार ग्रन्थ के आरम्भ में) "नूतनजलधररुचये" इत्यादि रूप से मंगल का विधान करते हैं +++ (बिना मंगल क विघ्न नष्ट नहीं होते, एवं बिना विघ्ननाश के ग्रन्थ संपन्न नहीं होता, जब यह निश्चित सिद्धान्त है तो जो ग्रन्थ संपन्न देखे जाते हैं, एवं जिन के आरम्भ में मंगल नहीं देखा जाता, वहां यही मानना पड़ता है कि इस ग्रन्थकार ने जन्मान्तर में अवश्य ही मंगल किया होगा। उसी सांस्कारिक मंगल प्रभाव से इस का ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्ण हुआ है)। अपिच जहां मंगल रहने पर भी (कादम्बरी आदि में) ग्रन्थ समाप्ति नहीं देखी जाती, उस सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि अवश्य ही या तो उस कर्म में कोई बहुत बड़ा विघ्न आया होगा, अथवा छोटे छोटे अनेक विघ्न आए होंगे। कारण बलवत्तर विघ्नविनाश में बलवत्तर मंगल को ही कारणता है। प्राचीन नैय्यायिकों के मतानुसार यह मंगल विघ्ननाश का कारण बनता हुआ समाप्ति का कारण हैं। उधर नव्यनैय्यायिकों के मतानुसार मंगल केवल विघ्नविनाश का कारण है। ग्रन्थ की समाप्ति तो ग्रन्थकर्ता के प्रतिभाबल पर ही अवलम्बित है" ।

वा बोध्यम् । प्रचुरस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिवारणे कारणत्वम् । विघ्नध्वं-सस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः । नव्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं, समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारणकलापात्" (कारिकावली)

इस प्रकार मंगलपाठ को विघ्नविनाश का मुख्य हेतु माना है। हमारा इस से कोई विरोध नहीं है। अवश्य ही मङ्गलाचरण का यह भी एक कारण है। परन्तु उपनिषदों के मंगलपाठ की कारणता यहीं तक सीमित नहीं है। यहां विघ्नविनाश के साथ साथ और भी एक गुहानिहित रहस्य है। यहां आसुरभाव का आक्रमण प्रधान नहीं है, अपितु संसार सम्बन्ध की विच्युति की ही यहां प्रधान कारणता है, जैसा कि निम्न लिखित प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है।

आत्मविद्याप्रतिपादकशास्त्र ही उपनिषत् है। आत्मतत्व सपरिग्रह दशा में 'प्रजापति' कहलाने लगता है। यह प्रजापति ईश्वर-जीव भेद से दो भागों में विभक्त है। जीव-प्रजापति ईश्वर-प्रजापति का अंश है, दूसरे शब्दों में वही है। परन्तु अविद्या-अस्मिता-रागद्वेषादि पाप्मा धर्म्मों के लेप से साञ्जन बनता हुआ, सलेप बनता हुआ यह जीव-प्रजापति अपने उस निरञ्जन, निर्लेप ईश्वर-प्रजापति की समता खो बैठता है। "इन दोषों को हटा कर जीवात्मा को शुद्ध निरञ्जन रूप में परिणत कर, उस व्यापक निरञ्जन ज्योतितत्व के साथ इस के समन्वय का मार्ग बतला देना" ही एक मात्र उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है, जैसा कि—"उपनिषदों में क्या है ?" इस प्रश्नसमाधानप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

प्रजापति में आत्मा-प्राण-पशु यह तीन कलाएं हैं। आत्मा पशुपति है, प्राण पाश है। पशुपति ने पाश से पशु को बांध रक्खा है। इन तीनों में तीसरा पशुभाग आत्मवित्त, किंवा पशुपतिवित्त कहलाता है। यह पशुपतिवित्त अन्तर्वित्त-बहिर्वित्त भेद से दो भागों में विभक्त है। सप्तधातुमय पाञ्चभौतिक शरीर आत्मा का अन्तर्वित्त (अन्तरङ्गवित्त) है। पत्नी-सन्तान-अनुचर-गृह-अन्न-द्रव्य आदि बहिर्वित्त (बाह्यसम्पत्ति) है। दोनों ही वित्त आत्मा के भोग्य हैं। भोग्यतत्व को ही विज्ञानभाषा में "पशु" कहा जाता है। प्राण भोगसाधन है, आत्मा भोक्ता

है। भोग्य-भोगसाधन-भोक्ता इन तीनों की समष्टि ही एक **प्राजापत्यसंस्था** है। उपनिषदों की दृष्टि प्रधान रूप से यद्यपि प्रजापति की आत्मकला की ओर ही रहती है, तथापि आत्मतत्व चूंकि प्राण एवं पशु से अविनाभूत है, अतः अगत्या आत्मस्वरूप विवेचन के साथ साथ गौणरूप से उपनिषत् को प्राण और पशु स्वरूप पर भी प्रकाश डालना पड़ता है। भोगसाधनरूप प्राणतत्त्व वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन (आग्नेयप्राण-वायव्यप्राण-आदित्यप्राण—दिक्सौम्यप्राण—भास्वरसौम्य-प्राण) भेद से पांच भागों में विभक्त है। यह पांचों प्राण अपने अवयवी मुख्य प्राण में (जो कि मुख्यप्राण **"उद्गीथ" "उक्थ" "अङ्गी"** आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है) बद्ध रहते हैं। एवं पञ्चप्राणात्मक यह मुख्य प्राण **महदुक्थ** रूप हृदयस्थ भोक्ता आत्मा में बद्ध रहता है। इसी आधार पर—**"यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश"** (मुण्डक उप० ३।१।९।) यह कहा जाता है। इन प्राणों से, किंवा पञ्चप्राणात्मक मुख्य प्राण से शरीरादिरूप पशु भाग बद्ध है। इस परस्पर के ग्रन्थिबन्धन के कारण तीनों नित्य अविनाभूत हैं। एक दूसरे के बिना एक दूसरा अनुपपन्न है। इसी लिए आत्मा को प्रधानरूप से लक्ष्य बनाता हुआ भी उपनिषच्छास्त्र उक्त ग्रन्थिबंधन से बद्ध प्राण एवं पशु को भी अपना निरूपणीय विषय बनाता है। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि—**"प्राजापत्यविद्या का ही नाम उपनिषद्विद्या है, उपनिषदों में प्रजापति का ही निरूपण हुआ है।"**

उक्त तीनों (आत्मा-प्राण-पशु) तत्वों का उपनिषत् में **संचर-प्रतिसंचर** रूप से निरूपण हुआ है। **ज्ञानमार्ग** प्रतिसंचर है, **विज्ञानमार्ग** संचर है। अनेक से एक की ओर जाना ज्ञान है, एक से अनेक की ओर आना **विज्ञान** है। वृक्षमूल को आधार मान कर तूलरूप-शाखा-प्रशाखा—प्रनुशाखा—अनुप्रशाखा—पत्र—वृन्त—पुष्प—मञ्जरी—फल आदि का निरूपण करना विज्ञान है। शाखा-प्रशाखादि नाना भावों को लक्ष्य बनाकर एक मूलवृक्ष पर इन सब नानाभावों का अवसान कर देना **ज्ञान** है। एक को उद्देश्य बना कर नानाभाव का विधान करना विज्ञान है, एवं नानाभाव को उद्देश्य मान कर एकत्व का विधान करना ज्ञान है। इन दोनों पक्षों का पूर्व प्रकरण में सप्रमाण निरूपण किया जा चुका है—(देखिए प्रा० नि० पृ० सं० ४२—४८)।

ज्ञान वही यथार्थ होगा, जिस में विज्ञान अनुस्यूत होगा। विज्ञान वही अभ्युदय का करण होगा, जिस का आलम्बन ज्ञान होगा। अद्वैतमूलक ज्ञानसम्पत्ति के लिए नानाभावमूलक विश्व का परिज्ञान नितान्त अपेक्षित है। "सम्पूर्ण विश्व आत्ममय है, ईश्वरमय है" यह ज्ञान प्राप्त करने से पहिले "सम्पूर्ण विश्व उस एक आत्मा का, एक प्रजापति का ही वैभव है" यह विज्ञान संपत्ति प्राप्त करना आवश्यक होगा। ज्ञान यदि विज्ञान सहित है तो सब कुछ गतार्थ है, अन्यथा सब कुछ नष्ट है।

आत्मविद्या, किंवा प्राजापत्यविद्या उपनिषद्विद्या है, यह कहा जाचुका है। यह आत्मप्रपञ्च रस-बल के ग्रन्थिबन्धन तारतम्य से निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, विकारक्षर, विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन, पुर, प्रजापति भेद से अनेक भागो में (११भागों में) विभक्त होजाता है। एक आत्मा का उक्त ११ रूपो में परिणत होजाना ही विज्ञान है। एक ही आत्मा इन नानाभावों में परिणत हो रहा है। उपनिषच्छास्त्र उद्देश्य रूप से तत्तत् स्थलो में इन सभी नानारूपों का विशदरूप से निरूपण करता है। साथ ही में विधेय कोटि में वह एकाकी आत्मतत्व को हमारे सामने रखता जाता है। "नानाभाव के स्वरूपज्ञानपूर्वक नानाभाव का परित्याग, एव एकतत्व की आराधना" ही उपनिषद् का मुख्य लक्ष्य है, यही ज्ञानपक्ष है।

"पशु, द्रव्य, अनुचर, गृह, माता, पिता, सन्तान, जाया, आदि का मोह छोड़ो, राग-द्वेष का परित्याग करो, शम-दम-तप-सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्य-एकान्तवास आदि नियमों को अपनाते हुए इन्द्रिय संयम द्वारा शारीर भोगों के साथ विरक्ति पैदा करो, इन्द्रियों को प्रज्ञानात्मा (मन) में, प्रज्ञान को विज्ञानात्मा (बुद्धि) में, विज्ञान को महानात्मा में, महान् को अव्यक्तात्मा में, अव्यक्त को आत्मक्षर में, आत्मक्षर को अक्षर में, अक्षर को अव्यय की वाक्कला में, वाक् को प्राण में, प्राण को श्वोवसीयस नाम के अव्ययमन में, अव्ययमन को विज्ञानमयकोश में लीन करते हुए सर्वान्तरतम आनन्द में लीन होते हुए, सर्वपरिग्रहशून्य बनते हुए, विश्वप्रपंञ्च से एकान्ततः बाहर निकलते हुए केवल निष्कैवल्य, निरञ्जन आत्मस्वरूपमात्र रह जाओ" यह

एक पक्ष है, एक मार्ग है। "मूल आत्मा के ऊपर उक्त परिग्रहों को बढ़ाते जाओ, बढ़ाते बढ़ाते पशु-भाग तक आत्मा को व्याप्त करते हुए संसार में लिप्त हो जाओ" यह एक मार्ग है। एक में संसार का अनासक्तिपूर्वक परित्याग है, दूसरे में आसक्तिपूर्वक संसार का ग्रहण है। पहिला मुक्तिमार्ग है, दूसरा बंधनमार्ग है। इन ज्ञान-विज्ञानप्रधान मुक्ति बंधनरूप दोनों मार्गों में से उपनिषच्छास्त्र विज्ञानमार्ग को लक्ष्य बना कर धीरे धीरे उस से आत्मा को पृथक् करता हुआ, संसार की बंधनमूला विभूतियों को हटाता हुआ जीवात्मा को विशुद्ध आत्मतत्व पर पहुंचा देता है। प्रवृत्ति-मार्ग उद्देश्य है, निवृत्तिमार्ग विधेय है। संसार साधन है, विश्वातीत आत्मा साध्य है। दूसरे शब्दों में विज्ञान साधन है, ज्ञान साध्य है। प्रकारान्तर से कर्म्म साधन है, ब्रह्म साध्य है। उपनिषत् हमें (आत्मा को) संसार से, दूसरे शब्दों में गृहस्थधर्म्म से पृथक् करती है, अतएव यह गृह्य धर्म्म नहीं है, अपितु वन्य धर्म्म है।

पहिला आश्रम ब्रह्मचर्य है, दूसरा गृहस्थ है, तीसरा वानप्रस्थ है, चौथा सन्यास है। ऋषियों नें ज्ञान-कर्म्ममय आत्मा की पूर्णता के लिए उक्त आश्रम विभाग किया है। ज्ञान अमृत तत्व है, सल्लक्षण है, नित्य है। कर्म्म मृत्युतत्व है, असल्लक्षण है, अनित्य है। "अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन" (गी० ९।१९।) के अनुसार अहं शब्द वाच्य आत्मा अवश्य ही ज्ञान-कर्म्ममय है। "शतायुर्वै पुरुषः" (तै०ब्रा० ३।८।५।३) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मानी गई है। इन १०० वर्षों की आयु में ज्ञानकर्म्ममय ईश्वरात्मा का अंशभूत यह जीवात्मा ज्ञान-कर्म्म पर सर्वात्मना अधिकार प्राप्त करने में समर्थ बन जाय, यही इस पुरुषश्रेष्ठ का परम पुरुषार्थ है। शतायु पुरुष के इस पुरुषार्थ को गतार्थ बनाने के लिए ऋषियों नें इस की आयु के ५०-५० वर्षों के दो विभाग कर डाले हैं। कर्म्म स्थूल है, ज्ञान सूक्ष्म है। प्रकट में कर्म्म स्फुट है, ज्ञान अन्तर्लीन है। अतएव 'स्थूलारुन्धति' न्याय से पहले स्थूल कर्म्ममार्ग हमारे सामने रक्खा गया है, अनन्तर ज्ञानमार्ग का आश्रय लिया गया है।

"कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येत्–अकर्म्मणि च कर्म्म यः" (गी० ४।१८।) के अनुसार कर्म्म

में *अकर्म (ज्ञान) व्याप्त है, एवं अकर्म्म (ज्ञान) में कर्म्म व्याप्त है। कर्म्म एवं ज्ञान दोनों अविनाभूत हैं। कर्म्म बिना ज्ञान के अनुपपन्न है, ज्ञान बिना कर्म्म के अविकसित है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि कर्म्ममार्ग में कर्म्म **पुरुषार्थ** है, ज्ञान **क्रत्वर्थ** है। कर्म्म **साध्य** है, ज्ञान **साधन** है। एवं ज्ञानमार्ग में ज्ञान **पुरुषार्थ** है, कर्म्म **क्रत्वर्थ** है। ज्ञान **साध्य** है, कर्म्म **साधन** है। ज्ञान-कर्म्म के इन्हीं पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ भेदों को लक्ष्य में रख कर ऋषियों नें कर्म्मप्रधान पूर्वायु के ५० वर्षों के भी २५-२५ वर्ष के हिसाब से दो विभाग कर डाले हैं, एवं ज्ञानप्रधान उत्तरायु के ५० वर्षों के भी यही २५-२५ के दो विभाग मान लिए हैं। आरम्भ के २५ वर्ष कर्म्मार्थ ज्ञानसम्पादन के लिए नियत हैं। ब्रह्म ज्ञान है। यही पहिला **ब्रह्मचर्याश्रम** है। आगे यह पुरुष जो कर्म्म करने वाला है, तदर्थ ज्ञान-सम्पादन करना, कर्म्म करने की योग्यता प्राप्त करना ही इस प्रथमाश्रम का मुख्य उद्देश्य है। २६ से ५० वर्ष पर्यन्त दूसरा विभाग है। यही **गृहस्थाश्रम** है। इस में कर्म्म का अनुष्ठान करते हुए आत्मा के कर्म्म भाग की पूर्णता सम्पादित होती है। आगे की तीसरी पञ्चविंशति (५१ से ७५ पर्यन्त) **वानप्रस्थाश्रम** है। ज्ञान प्राप्ति के लिए जो निवृत्त कर्म्म अपेक्षित है, जो कि निवृत्तकर्म्म **"तपश्चर्या"** नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है, वानप्रस्थाश्रम में ज्ञानोपयिक इस तपःकर्म्म का ही अनुष्ठान किया जाता है। इस का अनुष्ठान घर में नहीं किया जा सकता, इस के लिए संसार (गृहस्थ) छोड़ना आवश्यक होजाता है। अतएव यह धर्म्म **वन्य** किंवा **आरण्यक** नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध में—**"एकाकी यतचित्तात्मा"** (गी०६।१०।) यह कहा जाता है। इस के अनन्तर चौथी-पञ्चविंशति (७६ से १०० पर्यन्त) ज्ञानप्रधान **संन्यासाश्रम** है। इस में विशुद्ध ज्ञानचर्या का ही अनुष्ठान किया जाता है। इस अनुष्ठान की सफलता से विशुद्ध ज्ञान का उदय होजाता है, बन्धन मूला हृद्ग्रन्थि टूट जाती है। यही **औपनिषदज्ञान** है, यही **ब्रह्मज्ञान** है, यही विदेहमुक्ति है। ऐसा ही योगी **जीवन्मुक्त** कहलाता है। **आरण्यक** एवं **उपनिषत्** साधन साध्य

*इस अकर्म्म शब्द के व्याख्याताओं नें अनेक अर्थ किए हैं। परन्तु हमारी दृष्टि में यहां अकर्म्म से विशुद्ध ज्ञान ही अभिप्रेत है। इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को उक्त श्लोक का भाष्य ही देखना चाहिए।

भाव के अभेद से एक हैं। आरण्यकमूला तपश्चर्या ही उपनिषन्मूला ज्ञानसंपत्ति के उदय का कारण है। यही कारण है कि ऋषियों नें "बृहदारण्यकोपनिषत्" इत्यादि रूप से आरण्यक और उपनिषत् का एक साथ व्यवहार करने में कोई हानि नहीं समझी है।

निष्कर्ष यही हुआ कि जो मनुष्य यथाविधि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ, गृहस्थधर्म्म में दीक्षित होकर आश्रमधर्म्मानुकूल कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहता हुआ, यथासमय वानप्रस्थाश्रम का आश्रय लेता हुआ अन्त में सन्यासधर्म्म में दीक्षित हो जाता है, वही ज्ञानकर्म्ममय आत्मा की इन दोनों विभूतियों पर विजय प्राप्त करता हुआ उस अमृतमृत्युमय पूर्णेश्वर के साथ सायुज्यभाव प्राप्त करने का अधिकार होता है।

पूर्वकथनानुसार आश्रम यद्यपि चार हैं, तथपि उपकार्य-उपकारक भावों के अभेद के कारण दो आश्रम ही रह जाते हैं। कर्म्माश्रम पहिला है, ज्ञानाश्रम दूसरा है। कर्म्माश्रम गृहस्थ है, ज्ञानाश्रम सन्यास है। ब्रह्मचर्य कर्म्माश्रम का उपकारक बनता हुआ इसी में अन्तर्भूत है, एवं वानप्रस्थ ज्ञानाश्रम का उपकारक बनता हुआ ज्ञानाश्रम में ही अन्तर्भूत है। कर्म्मप्रधानगृहस्थाश्रम प्रवृत्तिमय है, ज्ञानप्रधान सन्यासाश्रम निवृत्तिमय है। कर्म्मप्रधान गृहस्थ नानाभावापन्न होता हुआ विज्ञान कोटि में प्रविष्ट है, एवं ज्ञानप्रधान सन्यास एकत्वभाव से आक्रान्त रहता हुआ ज्ञानकोटि में प्रविष्ट है। पहिलामार्ग (कर्म्ममार्ग) कर्म्मनिष्ठा, किंवा योगनिष्ठा है। दूसरा मार्ग (ज्ञानमार्ग) ज्ञाननिष्ठा, किंवा सांख्यनिष्ठा है। इन दोनों निष्ठाओं के समन्वय से ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप विकसित होता है। एक ही आत्मा की दो कलाएं हैं। "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (गी० ५।५।) का यही रहस्य है। दोनों मार्ग भिन्न भिन्न हैं, लक्ष्य एक है। एक में सांसारिक अभ्युदय की प्राप्ति है, दूसरे में निःश्रेयसभाव की प्राप्ति है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि एक में सांसारिक सम्पत्ति का ग्रहण है, दूसरे में इस का परित्याग है। कामनाप्रधान कर्म्मकाण्ड का प्रतिपादक ग्रन्थ ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध है, एवं कामनाशून्य ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक शास्त्र उपनिषत् नाम से व्यवहृत देखा जाता है।

आश्रमविभागप्रदर्शन

१—ब्रह्मचर्य—ज्ञानमार्ग———→उद्देश्य (क्रत्वर्थज्ञान)—२५ (...)
२—गृहस्थ——कर्म्ममार्ग———→विधेय (पुरुषार्थकर्म्म)—२५ (५०)
३—वानप्रस्थ—कर्म्ममार्ग———→उद्देश्य (क्रत्वर्थकर्म्म)—२५ (७५)
४—सन्यास—ज्ञानमार्ग———→विधेय (पुरुषार्थज्ञान)—२५ (१००)

१-कर्म्मोपकारक ज्ञानप्रधान प्रथमाश्रम (साधनात्मकं ज्ञानम्)—विश्वात्मकं ज्ञानम्।
२-ज्ञानोपकृत कर्म्मप्रधान द्वितीयाश्रम (साध्यात्मकं कर्म्म)—विश्वात्मकं कर्म्म।
३-ज्ञानोपकारक कर्म्मप्रधान तृतीयाश्रम (साधनात्मकं कर्म्म)—आत्मोपयिकं कर्म्म।
४-कर्म्मोपकृत ज्ञानप्रधान चतुर्थाश्रम (साध्यात्मकं ज्ञानम्)—आत्मोपयिकं ज्ञानम्।
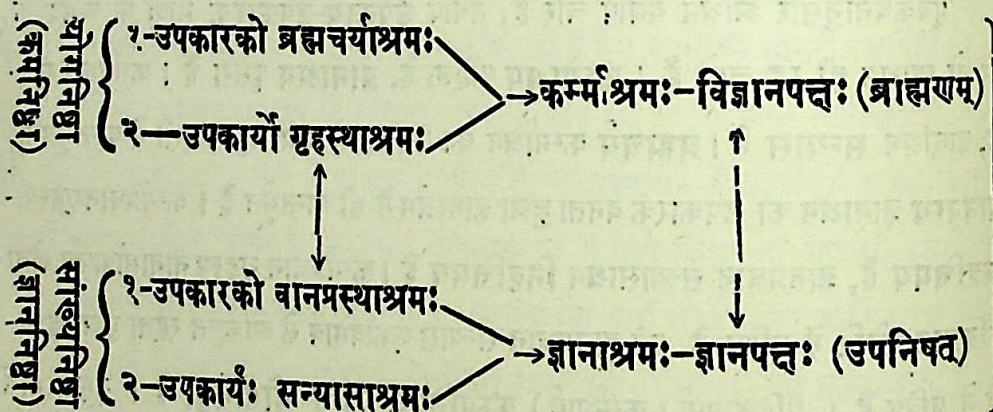
पूर्वप्रतिपादित आश्रमविज्ञान से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि औपनिषद ज्ञान के अधिकारी सन्यासी हैं, न कि गृहस्थी। जो महापुरुष सांसारिक बन्धनों को छोड़ कर वन्यधर्म्मों का पालन करने के लिए ज्ञाननिष्ठा की ओर प्रवृत्त हो गए हैं, उन के लिए जहां उपनिषच्छास्त्र महामङ्गलप्रद है, ठीक इस के विपरीत जाया-पुत्र-भृत्य-पशु-संपत्ति आदि सांसारिक परिकरों से युक्त सांसारिक एक गृहस्थी के लिए इस का अध्ययन अमङ्गल की भूमिका है। उपनिषद्विद्या का प्रधान लक्ष्य प्रतिसंचर मूलक मुक्तिभाव है। यह हमारी बुद्धि को स्त्री-पुत्र-सम्पत्ति आदि से पृथक् करती है। विज्ञान-प्रज्ञान आदि खण्ड आत्माओं से हमें अलग करवाती है। "तं यथा

यथोपासते तथैव भवति" (छन्दोग्यउपनिषत्....) "श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (गीता........) इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार विशुद्ध आत्मा की ओर लेजाने वाला उपनिषच्छास्त्र गृहस्थियों के लिए अवश्य ही अमङ्गल का कारण है। सन्यासधर्म्मोपयिक उपनिषदों का अध्ययन हम गृहस्थियों के लिए अवश्य ही अहितकर है।

तो क्या उपनिषदों का अध्ययन छोड़दें? ऋषि उत्तर देते हैं नहीं। हम तुम्हें एक ऐसा उपाय बतलादेते हैं कि गृहस्थाश्रम में प्रतिष्ठित रहते हुए भी तुम उपनिषदामृत का पान कर सकते हो। वह उपाय है—उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ करना। मंगल से उपनिषज्जनित अमङ्गल एकान्ततः दूर हो जायगा।

प्रज्ञा-प्राण-भूत-भेद से अध्यात्मसंस्था में तीन शरीरों की सत्ता मानी गई है। दूसरे शब्दों में शरीरत्रयी का ही नाम अध्यात्मसंस्था है। प्रज्ञामात्रा कारणशरीर है, प्राणमात्रा सूक्ष्म-शरीर है, एवं भूतमात्रा स्थूलशरीर है। कारणशरीररूप आत्मा मनःप्रधान बनता हुआ आयुमय है, सूक्ष्मशरीर प्राणमय बनता हुआ इन्द्रियप्रधान है, एवं तीसरा स्थूलशरीर वाक्प्रधान बनता हुआ रसासृङ्मासमेदअस्थिमज्जामय है। साथ ही में यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त तीनों शरीरों में से तीसरे स्थूलशरीर में ही जाया-प्रजा आदि बहिर्वित्तों का अन्तर्भाव है। इन तीनों शरीरों के आरम्भक जहां क्रमशः प्रज्ञा-प्राण-भूत हैं, वहां इन तीनों के उपकारक, किंवा मूलाधार क्रमशः इन्द्र-वायु-अग्नि देवता हैं। स्तौम्यत्रिलोकी रूपा महापृथिवी में त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न (९) पार्थिव प्रदेश पृथिवीलोक है। इस के अधिष्ठाता अग्नि हैं। यह अग्नि भूतमात्राप्रधान बनता हुआ अर्थ-तत्व है। यही स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न (१५) पार्थिव प्रदेश अन्त-रिक्षलोक है। इस के अतिष्ठाता देवता वायु हैं। यह वायु प्राणमात्राप्रधान बनता हुआ क्रियातत्व है। यही सूक्ष्मशरीरकी मूलप्रतिष्ठा है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न (२१) पार्थिव प्रदेश द्युलोक है, इस के शासक मघवा नाम के सौर इन्द्र देवता हैं। यह इन्द्र प्रज्ञाप्रधान बनता हुआ ज्ञानतत्व है, यही कारणशरीर की प्रतिष्ठा है।

१—प्रज्ञामात्रा—आत्मविवर्त्त—ज्ञानप्रधान—एकविंश—इन्द्रः—कारणशरीरम्
२—प्राणमात्रा—देवविवर्त्त—क्रियाप्रधान—पञ्चदश—वायुः—सूक्ष्मशरीरम्
३—भूतमात्रा—भूतविवर्त्त—अर्थप्रधान— त्रिवृत्—अग्निः—स्थूलशरीरम्

पार्थिव अग्नि ऋग्वेद की मूल प्रतिष्ठा है। आन्तरिक्ष्य वायु यजुर्वेद का मूलाधार है। दिव्यलोकस्थ इन्द्र, किंवा आदित्य सामवेद की आलम्बनभूमि है। इन तीनों लोकों का, एवं तीनों लोकों के अधिष्ठाता अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों देवताओं का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूप चौथा सोम-लोक (पारमेष्ठ्य लोक) अथर्वा है। यह अथर्वाब्रह्म (सोम) ही पार्थिव अग्नि में आहुत होकर घन-तरल-विरल भेद से एक ही पार्थिव अग्नि के अग्नि-वायु-इन्द्र यह तीन विभाग कर डालता है, जैसा कि प्रज्ञानात्मप्रतिपादिका केनोपनिषत् में विस्तार से बतलाया गया हैं। ऐसी स्थिति में सोमरूप, अतएव अन्नात्मक अथर्वब्रह्म का अन्नादरूपा अग्नित्रयी से अवच्छिन्ना वेदत्रयी में ही अन्तर्भाव मान लेना न्यायसङ्गत है।

अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग-यजुः-सामलक्षणम् ॥ (मनुः १।२३।)

इस मानव सिद्धान्त के अनुसार अग्नि-वायु-रवि से ही क्रमशः ऋक्-यजुः-साम का आदुर्भाव हुआ है। इन तीनों में से क्रमशः अग्निमय पार्थिव ऋग्वेद, किंवा ऋङ्मय अग्नि का स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध है। स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा ऋग्वेद ही है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड अग्निमय है। दूसरे शब्दों में जिन स्थूल पिण्डों का हम अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर रहे हैं, वे सब अग्निप्रधान हैं। इसी आधार पर—"यच्च किञ्चिद्दृष्टिविषयकमग्निकर्म्मैव तत्" (यास्कनि० दै०७।८।३।) यह नैगमिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। आन्तरिक्ष्य वायुमय यजुर्वेद, किंवा यजुर्मय वायु का सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बन्ध है। सूक्ष्मशरीर की मूलप्रतिष्ठा यजुर्वेद ही है। यजु में यत्-एवं जू दो तत्व हैं, जैसा कि तीसरे प्रकरण में स्पष्ट होगा। इन दोनों में यत्तत्व ही गतिमत प्राण है। यही प्राणमात्रा का स्वरूपसमर्पक है। यही सूक्ष्मशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। तीसरे आदित्यमय

सामवेद, किंवा साममय आदित्य का कारणशरीर के साथ सम्बन्ध है। सामवेद ही कारण शरीर की मूलप्रतिष्ठा है। आदित्य ही कारणशरीररूप आयु का जनक है। आयु ही आत्मसंस्था की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर—"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजुःसं० १३।४६।) यह कहा गया है।

१—रवि :———दिव्यः— —साममयः—कारणशरीरसञ्चालकस्तत्प्रतिष्ठा च।
२—वायु :——आन्तरिक्ष्यः———यजुर्मयः—सूक्ष्मशरीरसञ्चालकस्तत्प्रतिष्ठा च।
३—अग्निः———पार्थिवः———ऋङ्मयः—स्थूलशरीरप्रवर्त्तकस्तत्प्रतिष्ठा च।

उक्त कथन से यह भी भलीभांति सिद्ध होजाता है कि ऋग्वेद की जितनीं भी उपनिषदें हैं, उन सब के अध्ययन से जो अमङ्गल होता है, उस का विशेष प्रभाव ऋङ्मूर्त्ति स्थूलशरीर पर ही पड़ता है। यजुर्वेद की उपनिषदों से होने वाला अमङ्गल यजुर्मय सूक्ष्मशरीर में क्षोभ उत्पन्न करता है। एवं सामोपनिषज्जनित अमङ्गल साममय कारणशरीर की अशान्ति का कारण बनता है। इन तीनों शरीरों पर होने वाले अमङ्गलों को शान्त करने के लिए उस कर्म्म से आद्यन्त में मङ्गल-पाठ होता है। ऋग्वेदीया उपनिषदों में प्रधानरूप से मंगल द्वारा स्थूलशरीर के मंगल की कामना की जाती है। यजुर्वेदीया उपनिषदों में प्रधानरूप से सूक्ष्मशरीर को आपत्ति से बचाया जाता है। एवं सामवेदीया उपनिषदों में कारणशरीर की रक्षा के लिए मङ्गलपाठ किया जाता है। अथर्व में पूर्वकथानुसार तीनों वेदों का उपभोग है। अतएव अथर्ववेदीया उपनिषदों में स्थू०सू०का० इन तीनों की शान्ति के लिए प्रार्थना की जाती है। कारण अथर्वा सोम तीनों शरीरों में व्याप्त है। "सर्वं हीदं ब्रह्मणा (अथर्ववेदेन) हैवसृष्टम्" (तै० ब्रा० १२।६।२) के अनुसार अथर्वा ही तीनों की प्रतिष्ठा है। उदाहरण के लिए "पिप्पलादोपनिषत्" नाम से प्रसिद्ध प्रश्नोपनिषत् के मङ्गलपाठ को ही अपने सामने रखिए। यह अथर्ववेद की उपनिषत् है। इस का मङ्गलपाठ निम्न लिखितरूप से हमारे सामने आता है—

"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः, व्यशेम देवहितं यदायुः"। (प्र०उ०१।१।)

'हे (आग्नेयप्राणप्रधान) देवताओ ! (हम अपनें) कानों से सदा मंगल वचन ही सुनते रहैं। हे यजन करने वाले यज्ञिय देवताओ (हम अपनी) आंखों से सदा मङ्गलभाव ही देखा करैं। स्थिर एवं दृढ़ अङ्गों से युक्त शरीरों से (हम) सदा युक्त रहैं, एवं जो देवहित (देवताओं में प्रतिष्ठित) आयु है, उसे सुखपूर्वक (निर्विघ्न) भोगने में समर्थ बनैं"—यह है उक्त मङ्गलपाठ का अक्षरार्थ।

ज्ञान-क्रिया-अर्थतत्वप्रतिपादक वैदिक साहित्य में ज्ञानप्रधान उपनिषदों की भाषा ऐसी संक्षिप्त है, जिस का कोई ठिकाना नहीं। एक एक शब्द में उन ज्ञानमूर्ति महर्षियों ने गभीरतम तत्वों का समावेश किया है। उपनिषत् के प्रत्येक अक्षर में कुछ न कुछ गुह्यनिहित रहस्य रहता है। प्रत्येक शब्द भावप्रधान है। पूर्व मन्त्र में—"कर्णेभिः" के सम्बन्ध में "देवाः" कहा गया है। "अक्षभिः" के सम्बन्ध में "यजत्राः" का सन्निवेश किया गया है। "अग्निः सर्वा देवताः" (ऐ॰ब्रा॰२।३)—"सोमः सर्वा देवताः" (तै॰ब्रा॰३।२।४।३।) के अनुसार अग्नि और सोम दोनो सर्वदेवता हैं। इतर सम्पूर्ण देवताओं का इन आग्नेय, एवं सौम्य-देवताओं में अन्तर्भाव है। आग्नेय देवता अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन भागों में विभक्त हैं, एवं सौम्य देवता दिक्सोम, भास्वरसोम भेद से दो भागों में विभक्त हैं। संभूय आग्नेय, वायव्य, आदित्य, दिक्सौम्य, भास्वरसौम्य भेद से देवता पांच प्रकार के हो जाते हैं। इन पाचों प्राकृतिक (आधिदैविक) प्राणदेवताओं से क्रमशः वाक-प्राण-चक्षु-*श्रोत्र-मन इन पांच इन्द्रियों का निर्म्माण होता है। यही पांचों आध्यात्मिक देवता हैं। वागिन्द्रिय साक्षात् अग्निदेवता है। प्राणेन्द्रिय (घ्राणेन्द्रिय) वायुदेवता है। चक्षुरिन्द्रिय आदित्यदेवता है। श्रोत्रेन्द्रिय का दिक्सोम से सम्बन्ध है। एवं मन की प्रतिष्ठा भास्वरसोम है। इसी इन्द्रियविज्ञान को लक्ष्य में रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

* दिक्सोम ही पवित्रसोम है, दूषितभाव को दूर करना इस का मुख्य काम है। यज्ञोपवीत कान पर क्यों चढाया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिक्सोम नाम का पवित्र पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम है।

१—"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्"।

२—"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्"।

३—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्"।

४—"दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्"।

५—"चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्"। (ऐ० उ०२।४।)।

प्राकृतिक नित्य संवत्सर यज्ञ में अग्नि होता हैं, वायु अध्वर्यु हैं, आदित्य उद्गाता हैं, एवं सोम (चन्द्रमा) ब्रह्मा हैं। होता ऋङ्मूर्त्ति है, वायु यजुर्मूर्त्ति है, उद्गाता साममूर्त्ति है। ब्रह्मा अथर्वमूर्त्ति है। होता शस्त्रकर्म्म का, अध्वर्यु ग्रहकर्म्म का, एवं उद्गाता स्तोत्रकर्म्म का अधिष्ठाता है। यह तीन ही ऋत्विक् प्रधानरूप से यज्ञकर्म्म के सम्पादक हैं। चौथा अथर्वमूर्त्ति ब्रह्मा केवल निरीक्षण करते हैं। दूसरे शब्दों में ब्रह्मा यजन नहीं करते, अपितु वे तटस्थ देवता हैं। काम करने वाले केवल अग्नि-वायु-आदित्य देवता ही हैं। ऐसी अवस्था में हम मङ्गलमन्त्रोक्त यजत्रा शब्द से इन तीनों देवताओं का ही ग्रहण कर सकते हैं। यही अवस्था अध्यात्मिक यज्ञ की समझिए। अग्निमयी वाक् होता है, वायुमय प्राण अध्वर्यु है, आदित्यमय चक्षु उद्गाता है, सोममय मन ब्रह्मा है। दिक्सोम व्यापक है। इसी का प्रवर्ग्यभाग सायतन बन कर सौरप्रकाश से प्रकाशित होता हुआ भास्वरसोम नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था में दिक्सोम से भास्वरसोम का ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। फलतः—"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः" इस मन्त्रभाग का—"हे सौम्यदेवताओ! मैं कान से अच्छा सुनूं, एवं मन से शुभभावना करूं" यह अर्थ हो जाता है। आदित्य ज्ञानप्रधान है, वायु क्रियाप्रधान है, अग्नि अर्थप्रधान है। ज्ञान पूर्वज है, अर्थ-क्रिया अपरज हैं। ज्ञान ही बलग्रन्थियों के तारतम्य से ज्ञान-क्रिया-अर्थरूप से तीन स्वरूप धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में ज्ञानमूर्त्ति आदित्यमय चक्षु से हम क्रियामूर्त्ति वायुमय प्राण, एवं अर्थमूर्त्ति अग्निमयी वाक् इन दोनों का ग्रहण कर सकते हैं। वाक् अर्थप्रधाना है, प्राण क्रियाप्रधान है, चक्षु ज्ञानप्रधान है। चक्षु से पदार्थों का ज्ञान होता है। प्राणद्वारा श्वास-प्रश्वासरूपा क्रिया का सञ्चार होता है। वाक्द्वारा अन्न साधन से

अर्थनिष्पत्ति होती है। ऋषि को इन तीनों का ग्रहण अभीष्ट था, इसी लिए 'अक्षभिः' कहा है। "भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः" का अर्थ है—"हे यजन करनें वाले (आग्नेय) देवताओ! मैं आंख से ठीक ठीक ज्ञान सम्पादन करने में, प्राण से क्रियासञ्चालन में, एवं वाक् से अर्थसंग्रह में समर्थ बनूं"।

उक्त अर्थ के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि जब केनोपनिषदादि में ऋषियों नें पांचों इन्द्रियों का पृथक् पृथक् निर्देश किया है तो ऐसी अवस्था में यदि प्रकृत मङ्गलमन्त्र में भी उन्हें सभी इन्द्रियों का ग्रहण अभीप्सित था तो इस लाघव की क्या आवस्यकता थी? क्यों नहीं उन्हों नें सभी इन्द्रियों का उल्लेख कर दिया? प्रश्न यथार्थ है। सभी इन्द्रियों के नामोल्लेख में कोई हानि नहीं थी, अपितु लाभ था। सरलता से विषय समझ में आसकता था। ऐसा न करके ऋषि ने जो द्रविड़ प्राणायाम किया है, इस मे भी कुछ रहस्य है। ऋषि का प्रधान उद्देश्य मङ्गलकामना है, न कि इन्द्रियस्वरूपनिरूपण। संसार मे जो मनुष्य अच्छा देखता है, एवं अच्छा सुनता है, उस का जीवन मंगलमय है। मंगल एवं अमङ्गल दोनों भाव प्रधानरूप से देखने-सुनने पर निर्भर हैं। "न मैं उसे देखना चाहता, न उस के सम्बन्ध में कुछ सुनना ही चाहता" इत्यादि शक्तिग्राहक शिरोमणि लौकिक व्यवहारों से हम श्रवण-दर्शन की ही प्रधानता पाते हैं। इसी सामान्य विज्ञान को लक्ष्य में रख कर उक्त मङ्गल मन्त्र में केवल दो ही इन्द्रियों का उल्लेख किया गया है। परन्तु साथ ही में ग्रहण अभीष्ट है पांचों का। वह काम—'कर्णेभिः'-'अक्षभिः' से हो जाता है। पञ्चेन्द्रिय की समष्टि ही सूक्ष्म शरीर है। पूर्वार्द्धभाग प्राणरूप (पञ्चेन्द्रिय प्राणरूप) सूक्ष्मशरीर की ही मंगल कामना करता है।

"स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः" यह मन्त्र भाग स्पष्टरूप से ही स्थूलशरीर की मङ्गल कामना की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। एवं—"व्यशेम देवहितं यदायुः" यह चतुर्थभाग आयुमय कारणशरीर की मंगल कामना कर रहा है। इस प्रकार इस मन्त्र से तीनों की मंगलकामना सिद्ध हो जाती है। पिप्पलाद उपनिषत् की तरह मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिर,

अथर्वशिखा, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापनी, नारद, परिव्राजक आदि अथर्ववेद की जितनीं भी उपनिषदें हैं, सब के आद्यन्त में उक्त मंगल मन्त्र की ही आराधना की गई है ।

पञ्चप्राणाः

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः ; भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः

१—वाक्—अग्निः (ऋङ्मयो ज्ञानमूर्त्तिः,-होता
२-प्राणः-वायुः (यजुर्मयः क्रियामूर्त्तिः)-अध्वर्युः
३-चक्षुः-आदित्यः (साममयोऽर्थमूर्त्तिः)-उद्गाता
} आग्नेया देवाः

४-श्रोत्रम्—दिक्सोमः
५-मनः—भास्वरसोमः
} त्रयीमयः सर्वमूर्त्तिः-ब्रह्मा, } सौम्या देवा

} प्राणामयं सूक्ष्मशरीरम्

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः—अङ्गयुक्तं—वाङ्मयं }——→स्थूलशरीरम्

व्यशेम देवहितं यदायुः———आयुयुक्तं—मनोमयं }——→कारणशरीरम्

———:०:———

त्रयीमूर्त्ति अथर्ववेद से सम्बन्ध रखनें वालीं उपनिषदों के मंगल का विचार समाप्त हुआ। अब ऋग्वेद की उपनिषदों के मंगल का विचार प्रस्तुत है। ऋग्वेद अग्निप्रधान होता हुआ अर्थ-मूर्त्ति है, यही स्थूलशरीर का स्वरूप समर्पक है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा-चुका है। इस से यह मान लेना पड़ता है कि ऋग्वेद की जितनीं भी उपनिषदें हैं, उन सब के अध्ययन से प्रधानरूप से स्थूलशरीर पर ही आघात होता है। इस आघात से बचने के लिए ऋगुपनिषदों के आद्यन्त में मंगलद्वारा स्थूलशरीर की ही मङ्गल कामना की जाती है। ऐतरेय, कौषीतकि, नादबिन्दु, आत्मप्रबोध, निर्वाण, मङ्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्य नामों से प्रसिद्ध ऋग्वेद के १० सों उपनिषदों के मंगल का निम्न लिखित स्वरूप हमारे सामने आता है।

"वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् ।
आविरावीर्म एधि ॥
वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः ।
अनेनाधीतेनाऽहोरात्रान् संदधामि ॥
ऋतं वदिष्य'भि, सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु ।
तद्वक्तारमवतु, अवतु मां, अवतु वक्तारं, अवतु वक्तारम् ।
ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!"

"(मेरी) वाक् मेरे मन में प्रतिष्ठित रहै, (मेरा) मन मेरी वाक् में प्रतिष्ठित रहै। यह दोनों ही (मनो वाक्) तत्व (उत्तरोत्तर) प्रकट रहते हुए मेरे लिए समृद्धि का कारण बनैं। वेद के सम्बन्ध में मन वाक् आणी स्थानीय बनैं। मेरा सुना हुआ (यह औषनिषद) विषय मुझे न छोड़ै। इस अपने पढ़े हुए विषय से मैं अहोरात्रों को (परस्पर में) संहित करता रहूं (मिलाता रहूं)। मैं ऋत (अकुटिल-प्रिय) बोलूंगा। (इस प्रिय सत्य भाषण के बल से) वह देवता मेरी रक्षा करैं; वक्ता की रक्षा करैं, रक्षा करैं मेरी, रक्षा करैं वक्ता की, रक्षा करैं वक्ता की" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ।

इस मन्त्र के उपक्रम में एव उपसंहार में वाग्व्यापार को प्रधानता दी गई है। यह पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है कि स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा वाक्तत्व ही है। वाक् और मन दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना मन के वाक् अपना व्यापार कर ने में असमर्थ है, साथ ही में बिना वाक् को द्वार बनाए मन भी अपने भावों को प्रकट करने असमर्थ ही रहता है। इस प्रकार मन और वाक् दोनों एक दूसरे में प्रतिष्ठित होकर ही अध्ययनकर्म्म सम्पादन करते हैं। अध्ययनकर्म्म प्राणप्रधान है। प्राण मनोवाक् की वर्त्तनी में प्रतिष्ठित होकर ही विकसित होता है। श्रुत विषय प्राणप्रधान है। इस प्रकार यद्यपि मन्त्र वाक्-मन-श्रुत इन तीन शब्दों से

मन-प्राण-वाक् तीनों की ही मंगल कामना करता हुआ प्रतीत होता है। तथापि मन्त्र के आरम्भ में भी "वाङ्मे०" इत्यादि रूप से वाक् की ही प्रधानता है, एवं "अवतु वक्तारम्" इत्यादि रूप से उपसंहार में भी वाक् को ही प्रधानता दी गई है। मध्य में भी "अहोरात्रान् सन्दधामि" इत्यादिरूप से वाक् को ही मुख्य माना गया है। वाक् के परिप्लव को ही अहोरात्र कहा जाता है। अहोरात्र का वषट्कार के साथ ही सम्बन्ध है, एवं वाङ्मय मण्डल का ही नाम वषट्कार है। "वाग्वै वषट्कारः" (शत०१।७।२।२१)-"वाग्रेतः, ऋतवो वै षट्, तद्तुष्वेवैतद्रेतः सिच्यते" (श०१।७।२।२१) "एते ह वै संवत्सरस्य चक्रे यदहोरात्रे" (ऐ०ब्रा०५।३०) इत्यादि श्रुतिएं संवत्सर के अवयव-रूप अहोरात्रों को वाग्रेतोमय ही बतला रहीं हैं। वैदिक विज्ञान हमें प्राप्त करना है। यह एक प्रकार का रथ है। जिस प्रकार रथ पर चढ़ने के लिए *"आणी" का आश्रय लेना पड़ता है, एवमेव वैदिक विज्ञान को प्राप्त करने के लिए मन एवं वाक् का आश्रय लेना पड़ता है। इसीलिए "वेदस्य म आणीस्थः" इत्यादि रूप से मन वाक् को वेद का आणी कहा गया है। "जैसा बोलो वैसा करो" इस कर्मसत्य को "ऋत" कहा जाता है। एवं "जैसा करो वैसा बोलो" इस वाणी-सत्य को "सत्य" कहा जाता है। कर्म्मसत्य का मन से सम्बन्ध है, वाणीसत्य का वाक् से सम्बन्ध है। चूंकि वेदाध्ययन में मन वाक् दोनों अपेक्षित हैं, अतएव-"ऋतं वदिष्यामि-सत्यं वदिष्यामि" यह कहा है। दोनों में "वदिष्यामि" रूप से प्रधानता वाग्व्यापार की ही रक्खी गई है। क्योंकि प्रकृतमन्त्र का मुख्य लक्ष्य वाङ्मय स्थूलशरीर ही है। वाक्प्रधान ऋगुपनिषदों के अध्ययन से वाक् (स्थूलशरीर) पर आघात होता है। अतः सर्वान्त में श्रोता और वक्ता के वाक् भाव की ही मंगल कामना की है। श्रोता की अपेक्षा वक्ता का वाक्भाग ही अधिक खर्च होता है। अतएव उपसंहार में एवं उपक्रम में वक्ता की विशेषरूप से मंगल कामना की गई है। वाक्व्यापार का स्थूलशरीर से सम्बन्ध है, इस में प्रत्यक्ष प्रमाण शब्दोत्पत्तिविज्ञान ही है।

आत्मा बुद्ध्यासमेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्॥ (पा०शि०)

*रथ के दोनों पहियों की धुरी के कीलक में दोनों ओर जो एक धनुषाकार लकड़ी लगी रहती है, जिस पर पैर रख कर रथ पर चढ़ा जाता है, उसी का नाम "आणी" है।

इत्यादि शिक्षाविज्ञान के अनुसार हृदयस्थ मन की प्रेरणा से शारीराग्नि पर आघात होता है। आहत अग्नि ही वायुद्वारा धक्का खाकर मुख से निकलता हुआ शब्दरूप में परिणत होता है। इसी आधार पर "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। अग्नि ऋङ्मय है, यही स्थूलशरीर की प्रतिष्ठा है, यही वाक् है। फलतः वाक्-प्रपञ्च की मङ्गल कामना से स्थूलशरीर की मङ्गल कामना गतार्थ हो जाती है।

—·—o—

ईशावास्य, बृहदारण्यक, जाबाल, हंस, परमहंस, सुबाल, मन्त्रिका आदि शुक्लयजुर्वेदीय जितनीं भी उपनिषदें हैं, उन सब के अध्ययन से यजुःप्राणमय प्राणमात्रा प्रधान "सूक्ष्मशरीर" के ऊपर आघात होता है। इस आघात से रजोगुणप्रधान सूक्ष्मशरीर को बचाने के लिए इन यजुर्वेदीय उपनिषदों के आद्यन्त में निम्न लिखित मङ्गलपाठ का विधान है।

"ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

मनोमय कारण शरीर पर अव्ययपुरुष का अनुग्रह है, प्राणमय सूक्ष्मशरीर पर अक्षर पुरुष का, एवं वाङ्मय स्थूलशरीर पर क्षरपुरुष का अनुग्रह है। दूसरे शब्दों में ज्ञानघन अव्ययपुरुषावच्छिन्न मन कारणशरीर की, प्राणघन अक्षरपुरुषावच्छिन्न प्राण सूक्ष्मशरीर की, एवं अर्थघन क्षरपुरुषावच्छिन्ना वाक् स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। उस ओर मन है, इस ओर वाक् है, मध्य में प्राण है। उस ओर अव्यय है, इस ओर क्षर है, मध्य में अक्षर है। उस ओर ज्ञान है, इस ओर अर्थ है, मध्य में क्रिया है। उस ओर आदित्य है, इस ओर अग्नि है, मध्य में वायु है। उस ओर साम है, इस ओर ऋक् है, मध्य में यजु है। "ऋक्सामे यजुरपीतः"। उस ओर कारणशरीर है, इस ओर स्थूल शरीर है, मध्य में सूक्ष्मशरीर है। ज्ञानमय अव्यय, मन, आदित्य, साम, कारणशरीर सब निष्क्रिय हैं। अर्थमयी वाक्, अग्नि, ऋक्, स्थूलशरीर सब जड़ हैं। मध्यपतित क्रियामय प्राण, वायु, यजु, कारणशरीर ही सर्वज्ञ-सर्ववित्, सर्वशक्ति बनते हुए सर्वमूर्ति

हैं, पूर्णमूर्त्ति हैं। मध्यस्थ अक्षर उस ओर से अव्यय के ज्ञान को लेकर सर्वज्ञ बनता है, इस ओर से क्षर के अर्थ को लेकर सर्ववित् बनता है, एवं अपने प्रातिस्विक रूप से वह सर्वशक्तिमान् है। इस प्रकार मध्यस्थ अक्षर दोनों से सम्बन्ध करने के कारण त्रिपुरुषविभूतियुक्त बनता हुआ सचमुच पूर्णमूर्त्ति बना हुआ है। अक्षरग्रहण से सब कुछ ग्रहीत है। अक्षर की इसी पूर्णता को लक्ष्य में रख कर कठश्रुति कहती है—

*एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म[1] एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ (कठोपनिषत्)

अव्ययपुरुषः ——→	अक्षरपुरुषः	←—— क्षरपुरुषः
मनः ——→	प्राणः	←—— वाक्
ज्ञानम् ——→	क्रिया	←—— अर्थः
आदित्यः ——→	वायुः	←—— अग्निः
सामवेदः ——→	यजुर्वेदः	←—— ऋग्वेदः
कारणशरीरम् ——→	सूक्ष्मशरीरम्	←—— स्थूलशरीरम्

उक्त परिलेख से पाठकों को यह मान लेना पड़ेगा कि मध्यपतित प्राणमूर्त्ति सूक्ष्मशरीर इधर उधर की दोनों सम्पत्तियों से संश्लिष्ट रहने के कारण अवश्य ही कारण-स्थूलशरीरों की अपेक्षा सर्वमूर्त्ति बनता हुआ पूर्णमूर्त्ति है। इस पूर्णरूप सूक्ष्मशरीर को आघात से बचाने के

*इस विषय का विशद विवेचन कठविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

१—"ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" के अनुसार ब्रह्मशब्द क्षर का वाचक है, पर शब्द अव्यय का वाचक है। अक्षर क्षर सम्बन्ध से ब्रह्म है, अव्यय सम्बन्ध से पर है। दोनों के कारण अक्षर ज्ञानक्रियार्थमूर्त्त बनता हुआ सर्वमूर्त्ति बन रहा है, यही तात्पर्य है।

लिए ऋषि प्रार्थना करते हैं कि—"वह (ईश्वरीयप्रपञ्च) पूर्ण है, यह (जीवप्रपञ्च) पूर्ण है। उस पूर्ण से यह पूर्ण उदक्त हुआ है। उस पूर्ण की पूर्ण विभूति को लेने से पूर्ण ही बचजाता है।" मंगल का तात्पर्य यही है कि सूक्ष्मशरीर उस पूर्ण की विभूति है। भला उस पूर्ण की इस पूर्ण विभूति का भी कभी अमंगल हुआ है। वह यदि पूर्ण होने से नित्य मंगलमूर्ति है तो यह भी पूर्ण होने से मङ्गलमूर्ति ही बना रहै।

आकाश गत वायुतत्व का ही नाम यजु है। यह वायुतत्व अदिति-दिति भेद से दो भागों में विभक्त है। पृथिवी का वह अर्द्धभाग जो कि सूर्य्य की ओर रहता है, अदिति है। यह ज्योतिर्म्मय है। सूर्य्यविरोधी तमोमय पार्थिव अर्द्धमण्डल दितिमण्डल है। अदितिमण्डल में व्याप्त वायुमूर्ति यजु शुक्ल आदित्य के सम्बन्ध से शुक्लयजुर्वेद है। इसी के साथ स्तौम्यत्रिलोकी का सम्बन्ध है। अर्थ-क्रिया-ज्ञानमूर्त्ति अग्नि-वायु-आदित्य की पूर्णविभूतियों का इसी के साथ सम्बन्ध है। अतएव इस के सम्बन्ध में पूर्व प्रतिपादित-पूर्णतालक्षण मङ्गलपाठ किया जाता है। दितिमण्डल में व्याप्त वायुमूर्त्तियजु कृष्णा दिति के सम्बन्ध से "कृष्णयजुर्वेद" है, जैसा कि "क्या उपनिषद् वेद हैं"! इस प्रश्न की मीमांसा में विस्तार के साथ बतलाया जानेवाला है। यह वेद अपूर्ण है। कठ, तैत्तिरीय, ब्रह्म, कैवल्य, श्वेताश्वतर, गर्भ, अमृतबिन्दु इत्यादि कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदों के आद्यन्त में तमोगुणप्रधान सूक्ष्मशरीर की मंगल कामना के लिए निम्न लिखित मङ्गलमन्त्र का विधान है।

"ओं सहनाववतु, सहनौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ओं शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!

शरीर भोगायतन है, सूक्ष्मशरीर भोक्ता है। जिसके सूक्ष्मशरीर में पार्थिव तमोगुण की प्रधानता रहती है, उस का यह शरीर भोगलिप्सा में रत रहता है। ऋषि आदेश करते हैं कि भोग-भोगना हानिकर नहीं है, परन्तु स्वार्थपरायणता नाश का

कारण है तुम मिलजुल कर एक दूसरे का हितसाधन करते हुए भोग भोगो . एक दूसरे की रक्षा करो । संगठन द्वारा वीर्य्य का आधान करो । तेजस्वी बनो । आपस में द्वेष मत करो । ऐसा करने से तुम्हारा सूक्ष्मशरीर (अन्तःकरण पवित्र होगा, सबल बनेगा। फलतः कृष्णोपनिषत् अध्ययन से होने वाले अमङ्गल से तुम्हारी रक्षा होगी ।

केन, छान्दोग्य मैत्रायणी, योगचूडामणि, जाबाल आदि सामवेदीय उपनिषदों के अध्ययन से साममय कारणशरीर पर आघात होता है। इस आघात से बचने के लिए उक्त उपनिषदों के आद्यन्त में निम्न लिखित मङ्गलमन्त्र का स्मरण नितान्त अपेक्षित है—

"ओं आप्यायन्तु ममाङ्गानि-वाक्प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च
सर्वाणि सर्वं, ब्रह्मोपनिषदं, माहं ब्रह्मनिराकुर्याम् ।
मा मा ब्रह्म निराकरोत् ।
अनिराकरणं मेऽस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु ।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्म्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।
ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!"

"मेरे अङ्ग परिपूर्ण हों । वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्ररूप ज्ञानप्रधान इन्द्रिएं मुख्य-प्राण सम्बन्धी बल, हस्तपादादिकर्म्मेन्द्रिएं सब परिपूर्ण हों । ब्रह्म की सभी उपनिषदें परिपूर्ण हों । मैं ब्रह्मविभूति को न निकालदूं । ब्रह्म मुझे न छोड़ बैठे । मेरे लिए उक्त सब विभूतियों का अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । आत्मचिन्तन करने में उपनिषदों में जो धर्म्म हैं, वे मेरे में प्रतिष्ठित हों, प्रतिष्ठित हों" ।

आयुरक्षा उक्त सभी पर्वों की रक्षा पर निर्भर है । स्थूलशरीर-सूक्ष्मशरीर दोनों जब पूर्ण रूप से सुरक्षित रहते हैं, तभी आयुरूप कारणशरीर स्व-स्वरूप से सुरक्षित रहता है। इसी अभिप्राय

से अङ्गात्मक स्थूलशरीर, इन्द्रियात्मक सूक्ष्मशरीर की भी मङ्गलकामना की गई है। प्रधान ब्रह्म ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्म ही है। "ब्रह्म (कारणशरीररूप आयुमय आत्मा) मुझे न छोड़ बैठे" इस दिशा से कारणशरीर की ही मंगलकामना की गई है।

———०:०———

आत्मज्ञानोपथिक उपनिषत् पाठ से सांसारिक विभूति पर आघात होता है एक गृहस्थ के लिए अमङ्गल का यह पहिला एवं मुख्य कारण है। इसके अतिरिक्त प्रकरण के आरम्भ में बतलाए गए "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" इस स्वतः सिद्ध आसुरभावप्रधान अमङ्गल का आक्रमण होना दूसरा कारण है। इस प्रकार इतर शास्त्रों की अपेक्षा औपनिषद ज्ञान के सम्बन्ध में दो दो अमङ्गलों का आक्रमण सिद्ध हो जाता है। इस अमङ्गलद्वयी के निराकरण के लिए ही उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गल का विधान हुआ है। पूर्व में जो माङ्गलिक मन्त्र उद्धृत हुए हैं, उनका विशद वैज्ञानिक अर्थ तत्तदुपनिषदों के भाष्य में ही देखना चाहिए। "उपनिषदों के आद्यन्त में मंगल क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

* इति—मंगलरहस्यम् *

उपनिषत्-शब्द का क्या अर्थ है ?

क—विषयोपक्रम

* श्रीः *

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्म्मास्ते मयि सन्तु
ते मयि सन्तु

"हमें अमुक विषय नवीन प्रतीत होता है, हमनें तो आज तक ऐसा सुना ही नहीं था। हमनें सभी शास्त्र देखे हैं। आप्त ग्रन्थों पर आचार्यों नें जो भाष्य किए हैं, वे भी हमारे दृष्टिपथ में आए हैं। परन्तु हमनें आज तक इस प्रकार के वैज्ञानिक अर्थों का अवलोकन न किया। ऐसी स्थिति में इस नवीन शैली से किए गए वेदार्थ को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है" यह है उन महापुरुषों के उद्गार, जो आज हमारे धार्मिक समाज के नेता बननें का दम भरते हैं। "हमनें नहीं सुना, एवं हमनें नहीं देखा"—हमारे इस वैज्ञानिक साहित्य की अप्रामाणिकता में उन पुरुषपुङ्गवों का एकमात्र यही हेत्वाभास है। ऐसा होना कोई नवीन घटना नहीं है। कालदोष से समय-समय पर जनता सत्य साहित्य से विमुख होती ही रहती है, एवं साथ ही में समय समय पर विलुप्त सत्यविद्या का प्रकाश भी होता ही रहता है। यह भी सच है कि जब जब सत्यविद्या का विकास होता है, तब तब ही अन्धप्रणाली के अनुगामी महानुभावों के अन्तस्तल में क्षोभ उत्पन्न होता है, एवं वे अपनें इस क्षोभ को अप्रत्यक्षरूप से अपनें अन्धभक्तों पर प्रकट कर उस सत्यविद्या का परिहास करके किसी अंश में अपना क्षोभ शान्त हुआ समझलेने की विफल चेष्टा करते रहते हैं।

मनोविज्ञान (Cyclogie) का यह एक स्वाभाविक नियम है कि अर्द्धदग्ध मनुष्य जिस विषय का ज्ञान नहीं रखता, उस विषय का प्रकाश यदि कोई अन्य व्यक्ति करता है तो उसे स्वीकार कर लेने में वह अपनी मानहानि समझता है। फलतः विषय की उपादेयता पर तो उस का लक्ष्य नहीं जाता, अपितु वह छिद्रान्वेषण में प्रवृत्त होजाता है। फिर उसे इस जघन्य कर्म्म में सफलता मिले, अथवा न मिले, यह दूसरा प्रश्न है। मनोविज्ञान का यह व्यापक सिद्धान्त अपवादरूप से

आप्तपुरुषों में भी यत्र तत्र चरितार्थ होता हुआ देखा गया है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि, एवं सुप्रसिद्ध वार्त्तिककार भगवान् वररुचि के सम्बन्ध में भी उक्त घटना घटित हुई है। यह घटना हमारे विलुप्तप्राय इस वैदिक साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, अतः अप्रासङ्गिक होते हुए भी हम इसे प्रकृत में उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं।

महामुनि पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ में (१।१।१।म०भा०) शब्दनित्यत्वानित्यत्व की मीमांसा की है। इसी सम्बन्ध में आगे जाकर "शक्तिग्राहकशिरोमणेर्लोकव्यवहारस्य" (व्याकरण-उपमान-कोश-आप्तवाक्य-व्यवहार इन शक्तिग्राहक पांच उपायों में से लोकव्यवहार ही शक्तिग्राहकों में मुख्य है) इस सर्वसम्मत सिद्धान्त को लक्ष्य में रखते हुए—"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः" (पा०म०भा०१।१।१) इत्यादि रूप से पतञ्जलि ने लोक में प्रयुक्त सार्थ शब्दप्रयोग को आधार मानते हुए ही शास्त्र को धर्म्मनिर्णय में प्रमाण माना है। इसी प्रसङ्ग में आगे जाकर वररुचि का आक्षेप चलता है कि "ऊष-तेर-चक्र-पेच-इत्यादि शब्द लोक में अप्रयुक्त हैं। लौकिक व्यवहार में उक्त शब्दों का प्रयोग नहीं देखा जाता"। इस आक्षेप का समाधान करते हुए पतञ्जलि कहते हैं—"अच्छा न सही उक्त शब्दों का प्रयोग लोक में, इस से विगड़ क्या गया"। वररुचि कहते हैं—"प्रयोग के आधार पर ही तो आप शब्दों की साधुता व्यवस्थित करते हैं। ऐसी अवस्था में (प्रयोगवादी आप के मतानुसार) जो शब्द अप्रयुक्त होंगे, वे साधु शब्द नहीं मानें जायगे"। वररुचि के इस आक्षेप को असंगत बताते हुए पतञ्जलि कहते हैं—"यह आप सर्वथा उलटा कह रहे हैं। आप कहते हैं—"अप्रयुक्त शब्द हैं"। इस पर हमारा यह कहना है कि यदि शब्द हैं, तब तो इन के सम्बन्ध में "अप्रयुक्ताः" कहना ठीक नहीं, यदि यह शब्द अप्रयुक्त हैं तो फिर यह हैं हीं नहीं। "हैं और अप्रयुक्त" यह कहना विरुद्ध है। आप स्वयं अपनें मुख से ("ऊष-तेर" इत्यादि रूप से) इन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं, एवं साथ ही में यह भी कहते जाते हैं कि यह शब्द अप्रयुक्त हैं। भला आप जैसा विद्वान् इन शब्दों का प्रयोग करता हुआ इन की साधुता व्यवस्थित करनें वाला अन्य कौन होगा ?"

पतञ्जलि के इस उत्तर पर पुनः अपने आक्षेप को सुरक्षित रखते हुए वररुचि कहते हैं—आपने हमारे आक्षेप के प्रति जो "विप्रतिषिद्धम्" कहा, यह ठीक नहीं है। शब्द हैं अवश्य, जब कि शास्त्रज्ञ लोग शास्त्रद्वारा इन का संस्कार करते हैं। हमारा तो कहना केवल यही है कि लोक में यह शब्द अप्रयुक्त हैं। आपने जो यह कहा कि "इन शब्दों के प्रयोग में तुमसे अधिक श्रेष्ठ और कौन होगा"। इस के उत्तर में हमें यह कहना है कि "हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि उक्त शब्द हम से अप्रयुक्त हैं, अपितु लोक में यह शब्द अप्रयुक्त हैं"। यदि आप यह कहें कि हम भी तो लोक में ही हैं," इस के उत्तर में हम यह कहेंगे कि हम लोक में अवश्य हैं, परन्तु हम ही तो लोक नहीं हैं। केवल एक व्यक्ति के प्रयोग से ही तो वह लौकिक प्रयोग नहीं माना जा सकता"।

आगे जाकर वार्त्तिककार कहते हैं कि "ऊष-तेर" इत्यादि शब्दों का अप्रयोग ही न्याय प्राप्त है। कारण स्पष्ट है। जब कि इन्हीं शब्दों के स्थान में इन्हीं के शब्दान्तर (विशेषरूप से अर्थ को स्पष्ट करने वाले) उपलब्ध होते हैं तो फिर उन्मुग्ध भाव से अर्थ प्रकट करने वाले ऊष-तेर इत्यादि शब्दों के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। देखिए 'ऊष' के स्थान में "क्व यूयमूषिताः", 'तेर' के स्थान में "क्व यूयं तीर्णाः" "चक्र" के स्थान में "क्व यूयं कृतवन्तः", 'पेच' के स्थान में 'क्व यूयं पक्कवन्तः' इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं।"

अन्त में स्वपक्ष का पूर्ण समर्थन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"पूर्वोक्त सारे शब्द देशान्तरों में प्रयुक्त होते देखे जाते हैं"। आप कहें कि—हमें तो उपलब्ध नहीं होते, हमने तो इनका प्रयोग नहीं सुना" तो इस के उत्तर में हम यही कहेंगे कि "आप उपलब्धि के लिए प्रयत्न कीजिए! शब्दशास्त्र महागम्भीर है। सातद्वीप वाली पृथिवी, तीनों लोक, चार वेद, अङ्गग्रन्थ-रहस्यग्रन्थयुक्त १०१ यजुर्वेद की शाखाएं, १००० सामशाखाएं, २१ ऋग्वेद शाखाएं, ९ अथर्व शाखाएं, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक आदि महाशब्द-

शास्त्र प्रयोग के स्थल हैं। इतने महाविशाल प्रयोग स्थल का अन्वेषण किए बिना ही "सन्त्यप्रयुक्ताः" (अमुक शब्द अप्रयुक्त हैं) यह कह देना साहसमात्र है"।

अपिच "जिन ऊष-तेर आदि शब्दों को आप अप्रयुक्त समझते हैं, उनका भी प्रयोग देखा जाता है। कहां? वेद में। सुनिए! "सप्तास्ये रेवतीरेवदूष" "यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष" "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र" "यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्" * इति।

---

* (आक्षेपवार्त्तिकम्)—"अस्त्यप्रयुक्तः"। (भाष्यम्) "सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः। तद्यथा ऊष, तेर, चक्र, पेचेति। किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः? प्रयोगाद्धि भवाञ्छब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः"। (आक्षेपासंगतिभाष्यम्)—"इदं तावद्विप्रतिषिद्धम्—यदुच्यते—'सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता' इति। यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ता न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात्?"। (आक्षेपासंगतिबाधकभाष्यम्)—"नैतद्विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद्ब्रूमः। यदेताञ्छास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते। अप्रयुक्ता इति ब्रूमः। यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति। यदप्युच्यते—कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति। न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति। किं तर्हि?। लोकेऽप्रयुक्ता इति"। (आक्षेपभाष्यम्)—"ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके"। (समाधान भाष्यम्)—"अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः"।

(आक्षेपबाधक वार्त्तिकम्)—"अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्द प्रयोगात्"।

(भाष्यम्)—"अस्त्यप्रयुक्त इति चेत्। तन्न। किं कारणम्?। अर्थे शब्द प्रयोगात्। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते"।

(आक्षेपसाधक वार्त्तिकम्)—"अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्"। (भाष्यम्) "अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः। कुतः?। प्रयोगान्यत्वात्। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्छब्दान् प्रयुञ्जते। तद्यथा-ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे-क्व यूयमुषिताः, तेरेत्यस्यार्थे-क्व यूयं तीर्णाः चक्रेत्यस्यार्थे-क्व यूयं कृतवन्तः। पेचेत्यस्यार्थे क्व यूयं पक्ववन्त इति।"।

उपर्युक्त निदर्शन से विज्ञ पाठकों को विदित हुआ होगा कि वररुचि जैसे महाविद्वान् को भी यह पता न था कि ऊष-तेर-आदि शब्दों का प्रयोग वेद में होता है। साधारण लौकिक दृष्टि को लेकर ही उन्होंने यह हठ किया था कि उक्त शब्द अप्रयुक्त हैं। अन्त में जब भगवान् पतञ्जलिने वेद में ऊष-तेर आदि का प्रयोग दिखलाया, तब कहीं उनका सन्देह दूर हुआ।

इधर हमारे नौसिखिया विद्वान् कहते हैं कि हमने अमुक विषय उपलब्ध नहीं किया, इस लिए हम नहीं मानते। इस के उत्तर में हम **'उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्'**। यही कहैंगे। हम जिन विषयों का निरूपण कर रहे हैं, उन की प्रामाणिकता स्वयं वेद पर निर्भर है। अब **"शेषं कोपेन पूरयेत्"** का युग नहीं है। अबतो **"बाप बता नहीं श्राद्ध कर"** के नियन्त्रण में चलना पड़ैगा। आज एक ऐसी ही जटिल समस्या हमारे सामने है। वह है-**"उपनिषत्"** शब्द। उपनिषदों के सम्बन्ध में **"उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है"**? पहिले यही प्रश्न हमारे सामनें आता है। वैदिक तत्वों से अपरिचित भारतीय विद्वानों नें उक्त प्रश्न का जो समाधान किया है, **सूचीकटाहन्याय** से हम संक्षेप से पहिले उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

इति--विषयोपक्रमः

(सिद्धान्तसमाधान वार्त्तिकम्)—**"सर्वे देशान्तरे"**। (भाष्यम्) "सर्वे खल्वप्येते शब्दादेशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते"। (आक्षेपभाष्यम्)—"न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोग विषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाच्छब्दस्य प्रयोग विषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य 'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव।+ + +ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क ?। वेदे। तद्यथा—"सप्तास्य रेवतीरेवदूष, यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रानश्चक्रा जरसं तनूनाम्" इति॥

ख—प्राचीनदृष्टि

वि विध भावों से आक्रान्त स्थावर जङ्गमात्मक विश्व की ओर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें वहां तीन भाव उपलब्ध होते हैं। प्रयास करने पर भी तीन से अतिरिक्त कोई चौथा वस्तुतत्व उपलब्ध नहीं होता। उपलब्ध होने वाली उक्त तीनों वस्तुओं को न्यूनाधिक सभी जानते हैं। सर्वविदित वे तीनों पदार्थ **ज्ञान-क्रिया-अर्थ** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। **ज्ञायते, क्रियते, विद्यते** तीन से अतिरिक्त चतुर्थतत्व का वास्तव में अत्यन्ता भाव है। **जानना** पहिला भाव है, **करना** दूसरा भाव है। जो जाना जाता है, एवं जिस के आधार पर कर्म्म किया जाता है, ज्ञान-क्रिया का अधिष्ठाता वह तीसरा **अर्थतत्व** है। यह अर्थतत्व ज्ञान-क्रिया से पृथक् है, अथवा क्रिया ही क्रमशः बल-शक्ति-गुण रूप में परिणत होती हुई **"गुणकूटो द्रव्यम्"** इस आस्तिक सिद्धान्त के अनुसार, एवं **"अर्थः क्रियाकारित्वं सत्"** इस नास्तिक सिद्धान्त के अनुसार अर्थरूप में परिणत हुई है? यह विवादास्पद विषय है। इसे इस प्रकरण में विशेषस्थान नहीं दिया जा सकता। यहां अर्थ-तत्व को ज्ञान एवं क्रिया से पृथक् मानकर ही कुछ कहना है।

सामान्यदृष्टि से विचार करने पर अर्थतत्व ज्ञान एवं क्रिया से सर्वथा विजातीय, अतएव भिन्नपदार्थ ही प्रतीत होता है। ज्ञानतत्व विषयरूप अर्थ को अपने उदर में लेकर ही प्रतीति का विषय बनता है। यही सविषयक ज्ञान **सविकल्पक** नाम से प्रसिद्ध है। यदि ज्ञान में से विषयों का सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाता है तो वह ज्ञान निर्विकल्पक बनता हुआ प्रतीति जगत् से बहि-र्भूत होजाता है। ऐसी अवस्था में हम अर्थरूप विषय को ज्ञान से वास्तव में पृथक्तत्व मानने के लिए तय्यार हैं।

अपिच अर्थरूप विषय **धामच्छद** (जगह रोकने वाला) है, **आवरक** है, **तमोमय** है। इधर ज्ञान प्रकाशस्वरूप है, अधामच्छद है, अनावरक है। ज्ञानप्रकाश से तमोमय विषय प्रकाशित होता है, दूसरे शब्दों में विषय को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर के ही ज्ञान स्वस्वरूप से विकसित होता है। यद्यपि ज्ञान स्वत एव विकसित है, परन्तु तमोमय विषय ही ज्ञान के उदय के परिचायक माने गये हैं। इन सब कारणों से भी हम ज्ञान को विषय से पृथक्तत्व मानने के लिए तय्यार हैं।

अपिच ज्ञान द्रष्टा (देखने वाला) है, विषय दृश्य (दीखने की वस्तु) है। द्रष्टाज्ञान एक है, दृश्य विषय नाना (अनेक) हैं। द्रष्टाज्ञान अमृत (न बदलने वाला-एकरस) है, दृश्य विषय मर्त्य (बदलने वाला) है। इसलिए भी ज्ञान और अर्थ को एक वस्तु नहीं माना जासकता।

यही अवस्था कर्म्म (क्रिया) की है। सोना-जागना-उठना-बैठना-खाना-पीना-हंसना-चलना-बोलना आदि सब कर्म्म हैं। इन सब की आधारभूमि अर्थतत्व ही है, अस्मतसंस्था (अध्यात्म जगत्) में कर्म्मतत्व प्रत्यगात्मकर्म्म (जीवात्मकर्म्म), एवं परमात्मकर्म्म भेद से दो भागों में विभक्त हैं। कितनें हीं आध्यात्मिककर्म्मों में हमारी (जीवात्मा की) स्वतन्त्रता है, एवं कितनें ही आध्यात्मिक कर्म्म हृदय में प्रतिष्ठित-ईश्वर द्वारा सञ्चालित होते हैं। उदाहरणार्थ बोलना-हंसना-क्रोध करना-प्रसन्न होना आदि प्रातिस्विक कर्म्म प्रत्यगात्मा के कर्म्म हैं। "मैं अमुक कर्म करना चाहता हूं, अमुक कर्म्म मैं नहीं करना चाहता" इस प्रकार जिन कर्म्मों में इच्छास्वातन्त्र्य है, वे सब ऐच्छिक कर्म्म जीवात्मा के कर्म्म हैं। एवं कृमि-कीट-पशु-पक्षि-मनुष्यादि के शिर-ग्रीवा-हस्त-उदर-नासिका-चक्षु-मुख-कर्ण-पादादि शरीरावयवों का जिस की इच्छा से निर्माण होता है, हम से सर्वथा अविज्ञात त्वङ्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्रादि शारीरधातुओं का अन्नाहुति से जिस की इच्छा से नियतरूप से निर्म्माण हुआ करता है, वही इच्छा ईश्वरेच्छा है। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति, भेद से कर्म्म ६ भागों में विभक्त है। षड्भावविकारयुक्त यह कर्म्म ईश्वरेच्छा से ही सम्बन्ध रखता है। यह कर्म्म सर्वथा नियत हैं। इन में हमारी इच्छा का यत्किञ्चित् भी स्वातन्त्र्य नहीं हैं। इन्हीं नियत प्राकृतिक कर्म्मों को लक्ष्य में रख कर स्मृति कहती है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यतेह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (गी० ३।५)।
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ (गी० १८।६१)।

उक्त उभयविध कर्म्म नास्ति-अस्ति-नास्ति-लक्षण बनते हुए असल्लक्षण हैं, नास्ति-

सार हैं। इधर हमारा अर्थ सल्लक्षण है। क्रियालक्षण कर्म्म प्रतिक्षण-विलक्षण है, अर्थ चिर-स्थायी है। नास्तिसार कर्म्म क्षणिक है, धारावलावच्छिन्न अर्थ अक्षण है। घट-पटादि पदार्थों के कर्म्म परिवर्त्तनशील हैं, घट-पटादि अर्थ कल भी थे, आज भी हैं, एवं चिरकाल पर्य्यन्त रहेंगे। त्रिलक्षण कर्म्म का स्वरूप अनिरुक्त है, बहुलक्षण अर्थ का स्वरूप निरुक्त है। कर्म्म को स्वप्रतिष्ठा के लिए अर्थ की अपेक्षा होती है, अर्थ स्वयं सत्तायुक्त है। इन्हीं सब कारणों से हम इस अर्थतत्त्व को भी ज्ञानवत्, क्रियातत्त्व से पृथक्तत्व मानने के लिए तय्यार हैं। ऐसी दशा में प्रकरण के आरम्भ में प्रतिज्ञात ज्ञान-क्रिया-अर्थ भेद भिन्न हमारा त्रित्ववाद सर्वथा अक्षुण्ण रह जाता है।

विश्व में अनन्त ज्ञानधाराएं हैं, अनन्त कर्म्मधाराएं हैं, एवं अनन्त ही अर्थधाराएं है। इन अनन्त ज्ञान-क्रिया-अर्थों की समष्टिरूप विश्व भी अनन्त ही है। विश्व में जितने भी जड़ चेतनात्मक पदार्थ हैं, उन सब का ज्ञान परिमित एवं भिन्न २ है। सब के कर्म्म पृथक् पृथक् हैं। सब का स्वरूप (अर्थ) भिन्न २ है। उदाहरण के लिए मनुष्यजाति को ही लीजिए। मनुष्यों के ज्ञान-कर्म्म-अर्थ परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। जाति को छोड़िए, केवल व्यक्ति को लीजिए। इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान-क्रिया-अर्थ परस्पर में भिन्न हैं। चक्षुरिन्द्रिय का ज्ञान-कर्म्म-अर्थ भिन्न है, घ्राण का भिन्न है, रसना का भिन्न है। इन सम्पूर्ण ज्ञानों का, सम्पूर्ण क्रियाओं का, सम्पूर्ण अर्थों का जो कोई एक मूलस्रोत है, उसे ही दार्शनिकों नें "ईश्वर" नाम से व्यवहृत किया है। अपने २ वैयक्तिक आयतन के अनुसार सब प्राणी उसी की ज्ञान-कर्म्म-अर्थमात्रा को लेकर अपनी २ स्वरूपसत्ता को सुरक्षित रखने में समर्थ हो रहे हैं। वह सर्वज्ञानमय है, इसी लिए उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। वह सर्वकर्म्ममय है, अतएव उसे सर्वशक्तिमान् कहा जाता है, वह सर्वार्थमय है, अतएव उसे सर्ववित् कहा जाता है। विविधभावापन्न, एवं परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध यच्चयावत् ज्ञानमात्राओं का उस में समावेश है, अतएव वह सर्वज्ञ है। शक्ति-रूप विविधभावापन्न सम्पूर्ण कर्म्ममात्राओं का वह आगार है, अतएव वह सर्वशक्तिमान् है। जगदीश्वर के इसी विश्वव्यापक ज्ञान-क्रिया-अर्थमय स्वरूप का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

*यः सर्वज्ञः सर्ववित्-यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप, मन्नं च जायते ॥ (मुण्डक० १।१।६।)

१—"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके"।
(शा० सू० २।३।४३।)।

२—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गी० १५।७)।

३—"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" (कठ० २।४)

४—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते" (ई०उ० १।)

इत्यादि श्रौतस्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार प्राणिमात्र (जड़चेतनात्मक उभयविधपदार्थ) ज्ञान-क्रिया-अर्थघन उसी ईश्वर के अंश हैं। फलतः प्राणिमात्र में ज्ञान क्रिया अर्थ की सत्ता सिद्ध हो जाती है। उस व्यापक ज्ञानक्रियार्थघन ईश्वर के अंशभूत प्राणी अल्पज्ञ हैं, अल्पशक्तियुक्त हैं, नियतार्थ हैं, नियतेन्द्रिय हैं। ×धातुजीव नाम से प्रसिद्ध रत्नादि में ईश्वर की अर्थशक्ति की प्रधानता है, अत एव यह जीवविभाग असंज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। मूलजीव नाम से प्रसिद्ध ओषधि-वनस्पत्यादि में अर्थ के साथ ही क्रियाशक्ति की भी प्रधानता है। अतएव यह जीवविभाग अन्तःसंज्ञ नाम से व्यवहृत होता है। जीव नाम से प्रसिद्ध कृमि-कीट-पशु-पक्षि-मनुष्य भेदभिन्न तिर्य्यक् नाम से प्रसिद्ध यह पांचों प्रजाएं "ससंज्ञ" नाम से प्रसिद्ध हैं। इन में अर्थ-क्रिया के साथ साथ ज्ञानशक्ति का भी विकास है। अतएव यह जीववर्ग ससंज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। इन पांचों

"*ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" (शत० १०।३।५।६।) के अनुसार प्रतिष्ठा तत्व ही ब्रह्म है। यज्ञतत्व ही अन्न है। नामरूप की समष्टि ही ज्योति है। प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञरूप से वह प्रविष्टब्रह्मसृष्टरूप में परिणत होकर सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। इस विषय का विशदविवेचन "मुण्डकविज्ञानभाष्य" में देखना चाहिए।

×इस चतुर्दशविधा जीव सृष्टि का निरूपण शतपथविज्ञानभाष्य १ वर्ष ११-१२ अङ्क में विस्तार से किया जा चुका है। विशेष जिज्ञासा रखनें वालों को वही प्रकरण देखना चाहिए।

ससंज्ञ प्रजाओं में भी मनुष्य में ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास है, अतएव अर्वाचीन इतर जीवों की अपेक्षा पुरुष को ईश्वरप्रजापति के अतिसन्निकट माना जाता है। जैसा कि वाजसनेयश्रुति कहती है—

"प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत-कथं नु-प्रजायेय-इति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। स प्रजा-असृजत। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शत० २।५।१।१।) इति

यही कारण है कि मनुष्य प्रजा के द्वारा ही संसार में ज्ञान का प्रसार होता है। मनुष्य ही उस प्रजापति से साक्षात् रूप से सम्बन्ध करने में समर्थ होता है। अतएव शास्त्रोपदेश को सुनकर तदनुकूल चलने का अधिकार एकमात्र अधिकार मनुष्य को ही है। ज्ञानमात्रा की अल्पता, किंवा अपूर्णता के कारण पशु-पक्षि आदि शास्त्रमार्ग में सर्वथा अनधिकृत हैं। इस प्रकार पुरुष ईश्वर प्रजा-पति के समकक्ष है, समकक्ष ही क्यों वही है, उसी का अंश है। इतनी समता होनेपर भी इसके एवं उस प्रजापति के मध्य में कुछ एक ऐसे प्रतिबन्धक आरहें हैं, जिनके कारण यह अपने उस व्यापक स्वरूप को भूलता हुआ इतस्ततः भटक रहा है। वे प्रतिबन्धक अविद्या (अज्ञानावृतज्ञान), अस्मिता (विकासाभाव), रागद्वेष (आशक्ति), अभिनिवेश (दुराग्रह) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। जीव और ईश्वर में यदि अन्तर है तो यही। वह प्रजापति—"क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (पा०यो०सूत्र०) के अनुसार क्लेशादि से रहित है, असंस्पृष्ट है। इधर जीवात्मा इन क्लेशादि से युक्त है। बस सम्पूर्ण उपनिषदें जीवात्मा को सम्पूर्ण क्लेशादि दोषों से विमुक्त कर उस ईश्वर प्रजापति के साथ अभिन्नभाव प्राप्त कर लेने का ही उपाय बतलातीं हैं। "उपनिषदों में क्या है ?" इस प्रश्न का यदि कोई सामान्य एवं संक्षिप्त उत्तर हो सकता है तो यही कि—"जीवात्मा अमुक अमुक निर्दिष्ट उपायों से अपने अन्तःकरण में आए हुए अविद्या अस्मितादि दोषों को हटाकर—

यथोदकं शुद्धे शुद्धं तादृगेव भवति।
एवं मुनर्विजानत आत्मा भवति गोतम ॥ (कठ० २।४।) के अनुसार

शुद्ध बनकर उस परतत्व के साथ सालोक्य–सामीप्य–सारूप्य–सायुज्यभाव को प्राप्त कर संसार बंधन से विमुक्त होजाने का अन्यतम उपाय बतलाने वाला शास्त्रही उपनिषच्छास्त्र है,, ।

उपनिषत् वेदशास्त्र का एक अङ्ग है। वेद के अन्तिम भाग का ही नाम उपनिषत् है। उपनिषत् शब्दार्थ परिज्ञान के लिए एक बार सम्पूर्ण वेदराशि का अवलोकन करना आवश्यक होगा। ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-भेद से वेद संहिता चार भागों में विभक्त है। आजकल प्रमादवश कुछ एक वेदभक्तों में यह भ्रम चलपड़ा है कि "वेद केवल उपलब्ध चार संहिताओं का ही नाम है। शेष वेदशाखाएं इस मूल एवं वास्तविक वेद के ऋषिप्रणीत व्याख्यानग्रन्थमात्र हैं" कहना नहीं होगा कि इस कल्पना में यत्किञ्चित् भी तथ्यांश नहीं है। वेद वास्तव में चार ही हैं, इस में सन्देह नहीं है। इन चारों में से प्रत्येक की अवान्तर अनेक शाखाएं हैं। ऋग्वेद की २१ शाखाएं हैं, सामवेद की १०००, यजुर्वेद की १०१, अथर्ववेद की ९ शाखाएं हैं इस प्रकार सम्भूय मूलवेद ११३१ (ग्यारहसौ इकतीस) शाखाओं में विभक्त है। यह आर्य-साहित्य का साथ ही में आर्यजाति का दुर्भाग्य है कि इन शाखाओं में से वर्तमान में ७-८ शाखाएं हीं उपलब्ध हैं। शेष शाखाएं स्मृतिगर्भ में विलीन हैं। अस्तु "उपलब्ध (वैदिकप्रेस अजमेर में मुद्रित) चार संहिताए हीं वेद हैं, इतर शाखाएं, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषद्-ग्रन्थ वेद नहीं हैं,, इस कल्पित सिद्धान्त की आलोचना हम "क्या उपनिषत् वेद है"? इस प्रश्न के समाधान में आगे विस्तार से करने वाले हैं। अतः इस विवाद को यहां न उठाकर इस सम्बन्ध में प्रकृत में केवल यहीं बतला देना चाहते हैं कि "सभी शाखाएं, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् यह सब मिलकर वेदशास्त्र है"। निगमशास्त्र (वेद) ब्रह्म-ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त है। ब्रह्म वै मन्त्रः "(शत० ७।१।१ ५।) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म ही मन्त्र है। इसी आधार पर—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (कात्यायन) यह कहा जाता है। मन्त्र-ब्रह्म-विद्या यह तीनों शब्द अभिन्नार्थ के प्रतिपादक हैं, जैसा कि उपनिषद् भाष्यों में तत्तत् स्थलों में स्पष्ट कर दिया गया है।

"विभर्त्ति सर्वम्" इस निर्वचन के अनुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपने ऊपर धारण करने वाला तत्व ही ब्रह्म है। ऐसा तत्व उपादान कारण ही हो सकता है। क्योंकि उपादान कारण ही स्वकार्य की प्रतिष्ठा बनता है। षोडशीपुरुष का अव्यय भाग सृष्टि का आलम्बन है, अक्षर भाग निमित्तकारण है, एवं आत्मक्षर भाग उपादान कारण, दूसरे शब्दों में समवायिकारण है। उपादान कारण ही अपने कार्य का प्रभव-प्रतिष्ठा परायण बनता है। सम्पूर्ण वैकारिक कार्य विश्व का उपादान यही क्षरभाग है। अतः उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार इसे हम अवश्य ही विश्व का "ब्रह्म" कह सकते हैं। बिभर्त्ति सर्वं के अनुसार यह क्षरतत्व "भर्म्मन्" है। निरुक्त विद्या के अनुसार भर्म्म शब्द में "ब्-ह्-अ र्-म्-अ-" इन वर्णों का समावेश है। प्रातिशाख्य सिद्धान्त के अनुसार हकार-रकार का विपर्य्यय हो जाता है। हकार रकार के स्थान में आजाता है, रकार हकार के स्थान में आजाता है। इस विपर्यास से पूर्व वर्णस्थिति— 'ब्-र्-अ-ह्-म्-अ' इस रूप में परिणत हो जाती है। पूर्व वर्णों का सम्मिलित रूप "भर्म्म" था, इस दूसरी परिस्थिति का रूप "ब्रह्म" है। "ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" (गी० ३।१५।) के अनुसार इस क्षरब्रह्म का विकासस्थान अव्ययानुगृहीत अक्षर ही है। इस से प्रकृत में हमें यही वतलाना है कि ब्रह्म शब्द कुछ एक विशेष स्थलों को छोड़ कर सर्वत्र उपादान कारणता से ही सम्बन्ध रखता है।

उपर्युक्त क्षर-ब्रह्म की प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद यह पांच कलाएं सुप्रसिद्ध हैं। इन में प्राण नाम की सर्वमुख्या पहिली कला ही सृष्ट्युन्मुख बनती हुई वेदस्वरूप में परिणत होती है। यही क्षररूपा वेदकला सृष्टि का पहिला उपादान है। संसार में जो वस्तु जन्म लेती है, पहिले उसका वेद उत्पन्न होता है। प्राधानिक दर्शन (सांख्य) के अनुसार शब्दादि पंच तन्मात्राएं हीं विश्व को प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूपा हैं। इन पांचों तन्मात्राओं में भी प्रथमज, अत एव मुख्य तन्मात्रा शब्दतन्मात्रा ही है। यही शब्दतन्मात्रा अनादिनिधना, प्राणमूर्त्तिस्वयम्भू मुख से विनिर्गता, नित्या वेदवाक है। यही ब्रह्म है। इसी के लिए—"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्" (शत० ६।१।१।६।) "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" (शत० ६।१।१।७।) यह

कहा गया है । अमृत-मर्त्य भेद से वाक्तत्व दो भागों में विभक्त है । अमृतावाक् आलम्बन है, मर्त्यावाक् उपादान है । मर्त्यावाक् ही शब्दतन्मात्रा है, यही वेदवाक् है, इसी से सृष्टि होती है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् मनु कहते हैं ।

सर्वेषां तु सनामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ (मनुः १।२१।) ।

शब्दतन्मात्रारूप वेदब्रह्म है क्या वस्तु ? इस प्रश्न का उत्तर है अग्नि-सोम । अग्नि एवं सोम का मिथुनभाव ही विश्व का उपादान है । दोनों मिलकर एक ब्रह्म है । यही संसार का उत्पादक शुक्र है, जैसा कि "ईशोपनिषत् हिन्दीविज्ञानभाष्य" के "स पर्यगाच्छुक्रम्" (ई०उ०८मं०) इत्यादि मन्त्र व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है । पूर्व में हमनें क्षरब्रह्म की प्राण-कला को वेदब्रह्म कहा था, एवं यहां अग्नि-सोम की समष्टि को वेद बतलाया जारहा है। इस में विरोध नहीं समझना चाहिए । कारण यही है कि वेदत्रयी का जो यजुर्भाग है, वह अग्नि है। एवं यजुर्वेद के स्थिति प्रकृतिक जू भाग से उत्पन्न होने वाला अप्तत्व ही सोम है । इसी का नाम अथर्व है । ब्रह्माग्निवेद, वृषाप्राणप्रधान होता हुआ पुरुष है, एवं सोमवेद, योषाप्राणप्रधान बनता हुआ स्त्री है । सृष्टिकामुक प्रजापति के काम-तप-श्रम से वेदमूर्त्ति वह एक ही प्रजापति पूर्वोक्त दो स्वरूपों में परिणत होजाता है । दोनों के मिथुन से, दूसरे शब्दों में ब्रह्माग्नि में सोम की आहुति होने से यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है । एवं इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से सम्पूर्ण सृष्टिएं होतीं हैं। आज भी इस यज्ञविद्या द्वारा हम अभिलषित पदार्थ प्राप्त कर सकते हैं । यज्ञ हमारे लिए इष्टकामधुक् (यथेच्छ-अभिलषित फल देने वाला) है । सृष्टिमूलक, अग्नीषोमात्मक इसी यज्ञ-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवस्त्विष्टकामधुक् ॥ (गी० ३।१०।) ।

पूर्वोक्त ब्रह्माग्नि की घन--तरल--विरल यह तीन अवस्थाएं हैं । यही तीन अवस्थाएं क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं । यही तीनों क्रमशः ऋङ्मय-यजुर्मय-साममय

हैं। संसार में जितनीं भी मूर्त्तिएं हैं, उन सब का निर्म्माण अग्निमय ऋग्वेद से होता है। गति-तत्व का विकास गतिधर्म्मा वायुरूप यजुर्वेद से होता है, एवं वषट्कार नाम से प्रसिद्ध महिमारूप तेजोमण्डल का सम्बन्ध आदित्यात्मक सामवेद के साथ है। इन तीनों भावों को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखने वाला, अतएव सर्वप्रभव चौथा ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) है। इसी वेदविज्ञान को लक्ष्य में रख कर कृष्णश्रुति कहती है—

चत्वारो वेदाः:

१—ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः ——→ ऋक्
२—सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत् ——→ यजुः
३—सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् ——→ साम
(ऋक्, यजुः, साम) ——→ अग्नित्रयी-वृषा

४—सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ——→ अथर्वः ——→ सोमः-योषा

(तै० ब्रा० १२।८।२-३।) इति।

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, अत्ता चैवाद्यं च। तद्यदोभयं समागच्छति-अत्तैवा-ख्यायते नाद्यम्" (शत० १०।६।२।२।) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार अत्ता जब अन्न को अपनें गर्भ में प्रविष्ट कर लेता है तो अन्न की स्वतन्त्रसत्ता उच्छिन्न होजाती है। केवल अत्ता की सत्ता ही अवशिष्ट रह जाती है। बात यथार्थ है। जब तक हम (भोक्तात्मा) अन्न नहीं खाते, तभी तक वह अन्न अन्न नाम से व्यवहृत होता है। उदर में भुक्त होने के अनन्तर आत्मसात् बना हुआ वही अन्न अपने अन्न नाम को छोड़ता हुआ अत्ता (भोक्ता) स्वरूप में ही परिणत होजाता है। इसी सामान्य सिद्धान्त के अनुसार अथर्वासोमरूप अन्न अग्नित्रयीरूप अन्नाद के गर्भ में प्रविष्ट होता हुआ अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो देता है। अग्नि अत्ता है, इसी का विकास त्रयीवेद है। सोम आद्य है। इसी का विकास अथर्ववेद है। वह वेदसोम वेदाग्निगर्भ में जाकर वास्तव में अपने स्वातन्त्र्य से च्युत होजाता है। अतएव वेदशब्द से विद्वत्समाज में प्रायः वेदत्रयी ही प्रसिद्ध है। अन्न-अन्नाद की विभक्त मर्यादा को लक्ष्य में रख कर जहां "चत्वारो वेदाः" यह कहा जाता है,

वहीं उक्त अन्न-अन्नाद की अभिन्नमर्यादा को लक्ष्य में रख कर—"त्रयं ब्रह्म सनातनम्" "त्रयी वा एषा विद्या तपति" "सैषा त्रयीविद्या यज्ञः" इत्यादि व्यवहार प्रचलित हैं। ऐसी स्थिति में अन्न-अन्नादरहस्यानभिज्ञ जिन कुछ एक कल्पनारसिक पश्चिमी विद्वानों ने उक्त चारों वेदों के सम्बन्ध में जो अपनें—"पहिले तीन वेद बने थे इसलिए त्रयीवेद व्यवहार स्वतन्त्र रहा, तीनों वेदों के पीछे अथर्ववेद बना था, इसलिए इस की त्रयीवेद से पृथक् गणना की गई" यह विचार प्रकट करते हैं, उन के इन विचारों की निःसारता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। पूर्व में वेदशास्त्र के ब्रह्म-ब्राह्मण नाम के जिन दो विभागों का उल्लेख किया था, उन में से पहिले ब्रह्म-भाग का यही संक्षिप्त परिचय है। अथर्व गर्भिता वेदत्रयी, किंवा ऋक्-यजुः-साम-अथर्व की समष्टि ही ब्रह्म है।

इस ब्रह्म का उपबृंहित रूप ही ब्राह्मण है। ब्रह्म का ऋङ्मय अग्निभाग अर्थप्रधान है, यजुर्मय वायुभाग क्रियाप्रधान है, एवं साममय आदित्यभाग ज्ञानप्रधान है, जैसा कि पूर्व के 'मङ्गलरहस्य, में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अर्थतत्व स्थूल है, क्रियातत्व स्थूलसूक्ष्म है, ज्ञानतत्व सुसूक्ष्म है। स्थूलजगत् कर्म्मप्रधान है, स्थूलसूक्ष्मजगत् ज्ञानकर्ममय है, सूक्ष्म-जगत् ज्ञानप्रधान है। तीनों क्रमशः कर्म्मयोग-भक्तियोग-ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा हैं। कर्म भक्ति (उपासना)-ज्ञान तीनों परस्पर में ओतप्रोत हैं। केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य है।

जैसे ब्रह्म भाग ऋक्-यजुः-साम नामों से प्रसिद्ध हैं, एवमेव ब्रह्म का विवर्त्तभूत पूर्वोक्त ब्राह्मणभाग विधि-आरण्यक-उपनिषद् नामों से व्यवहृत हुआ है। ब्राह्मण का विधिभाग ब्रह्म के अर्थप्रधान स्थूलजगन्मूर्त्ति कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखता है। आरण्यकभाग ब्रह्म के क्रिया प्रधान स्थूलसूक्ष्मजगन्मूर्ति उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखता है। एवं उपनिषद्भाग ब्रह्म के ज्ञानप्रधान सूक्ष्मजगन्मूर्त्ति ज्ञानकाण्ड से सम्बन्ध रखता है। अर्थतत्व का उपबृंहितरूप विधिभाग है, क्रियातत्व का उपबृंहितरूप आरण्यकभाग है, एवं ज्ञानतत्व का उपबृंहित-रूप उपनिषद् भाग है। विधिभाग अर्थमूर्त्ति है, आरण्यकभाग क्रियामूर्त्ति है, उपनिषद्भाग ज्ञानमूर्त्ति है। जिस प्रकार अग्नि-वायु-आदित्यात्मक ऋक्-यजुः-साम रूप ब्रह्मभाग सर्वथा

अपौरुषेय है, एवमेव इसी ब्रह्म का उपबृंहणरूप अर्थ-क्रियाज्ञान-ज्ञान स्वरूप विधि-आरण्यक उपनिषद् रूप ब्राह्मणभाग भी सर्वथा अपौरुषेय ही है। ब्रह्म-ब्राह्मण की समष्टि ही अपौरुषेय नित्य वेद है। सम्पूर्ण विश्व में इसी का साम्राज्य है, दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण विश्व यही है। सामान्य पुरुष तो क्या, स्वयं ईश्वर पुरुष भी इस के निर्म्माण में असमर्थ है। वह स्वयं भी इसी मौलिक वेद के आधार पर ही सृष्टि करनें में समर्थ होता है।

उपर्युक्त ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक इस मौलिक अपौरुषेय वेदतत्व का रहस्य समझाने के लिए ऋषियों नें जो ग्रन्थ बनाए हैं, वे भी "तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्" इस न्याय से इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं। यहां भी वह विभाग ज्यों का त्यों विद्यमान है, जैसा कि "क्या उपनिषद् वेद है ? इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जानेंवाला है। अग्नित्रयीमयी मौलिक वेदत्रयी के निरूपण करने वाले शब्दराशिभूत त्रयीवेद का अग्नि से ही आरम्भ हुआ है।

अग्नि नाम से प्रसिद्ध पार्थिवाग्नि ऋग्वेदमूर्त्ति[1] है। हम पार्थिव मनुष्यों के लिए वह अतिसन्निकट है, सामनें ही अवस्थित है। अतएव इस पार्थिव अग्नि को हम "पुरोहित" कह सकते हैं। पार्थिव अग्नि के इसी पौरोहित्य धर्म्म को समझाने के लिए, ऋक्तत्व प्रतिपादिका पार्थिवाग्निमयी ऋक्संहिता का आरम्भ—"अग्निमीळे पुरोहितम्" इस रूप से हुआ है। वायु नाम से प्रसिद्ध आन्तरिक्ष्य अग्नि यजुर्वेदमूर्ति[2] है। इसी के आधार पर हम अपनें व्रतों को (नियमित संकल्पों को) पूर्ण करने में समर्थ बनते हैं। जब तक शरीर में रक्तादि का सञ्चार होता है, तभी तक शरीर स्वस्थ एवं सुदृढ़ रहता है। स्वस्थ मनुष्य ही कर्म्म में सफलता से प्रवृत्त हो सकता है, एवं कर्म्म को यथावत् पूर्ण करने में समर्थ होता है। यह स्वस्थता शरीरगत धातु-सञ्चार पर ही निर्भर है। यह धातु सञ्चार आन्तरिक्ष्य वायुरूप यजुरग्नि के ही आधीन है। याज्ञिक परिभाषानुसार *'व्रत' नाम से प्रसिद्ध गतिधर्म्मा सारे कर्म्म "सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत्"

*"अथा वयमादित्य व्रते तव"। व्रतमिति कर्म्म नाम, वृणोतीति सतः।" (या० नि० नै० का०२।१३।८।) इति। "अपः व्रतम्०" इति षड्विंशतिः कर्म्म नामानि" (या०नि०२।३।२।२।)।

इस पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार इसी यजु अग्निपर निर्भर है। सम्पूर्ण व्रतों (कर्म्मों) का पति यही है। ऐसी दशा में हम इस आन्तरिक्ष्य तत्व को अवश्य ही "व्रतपति" कह सकते हैं। इसी रहस्य को समझाने के लिए आन्तरिक्ष्याग्निमयी, यजुस्तत्त्वप्रतिपादिका **यजुःसंहिता** का आरम्भ—"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" इत्यादि रूप से हुआ है। आदित्य नाम से प्रसिद्ध द्युलोकस्थ अग्नि सामवेदमूर्ति है। द्युलोक पृथिवी से बहुत दूर है इस दिव्याग्नि का पार्थिव-अग्नि प्रधान यजमान के आध्यात्मिक अग्नि में समिन्धन करके ही आहुति दी जाती है। **होता** नाम का ऋत्विक् ही मन्त्र द्वारा इस दिव्यग्नि का वैध पार्थिव अग्नि के साथ सम्बन्ध कराता है। जो हमारे से विप्रकृष्ट (दूर) होता है, उसी के लिए "आयाहि" (आओ) पद प्रयुक्त होता है। इसी विज्ञान को समझाने के लिए दिव्याग्निमयी, सामतत्वप्रतिपादिका **सामसंहिता** का आरम्भ—"अग्न आयाहि वीतये" इत्यादि रूप से हुआ है।

यद्यपि प्रस्तुत यजुर्वेद संहिता के आरम्भ में "इषे त्वोर्जेत्वा" यह मन्त्र देखा जाता है। परन्तु वास्तव में संहिता का आरम्भ—"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" इसी मन्त्र से समझना चाहिए। **दर्शपूर्णमास** में इन्द्र के लिए **सान्नाय्य (दधि)** संपादन किया जाता है। सान्नाय्य सम्पादनार्थ इष्टि के पूर्वदिन "इषेत्वोर्जेत्वा" इत्यादि मन्त्रप्रयोग करते हुए गोदोहन होता है। इस विशेष कर्म्म के सम्बन्ध बतलाने के लिए ही आरम्भ में "इषेत्वोर्जेत्वा" इत्यादि मन्त्र का सन्निवेश कर दिया गया है। वस्तुतः संहिता का आरम्भमन्त्र "अग्ने व्रतपते०" इत्यादि मन्त्र ही है। इस के लिए सब से बड़ा प्रमाण **शतपथ ब्राह्मण** है। यह ब्राह्मण उक्त शुक्लयजुर्वेद संहिता का मानागया है। ठीक संहिता मन्त्रों के अनुसार शतपथ का कर्म्मकलाप आगे चलता है। शतपथ का आरम्भ—"व्रतमुपैष्यन्नन्तरेण गार्हपत्यं चाहवनीयं च प्राङ् तिष्ठन्नप उपस्पृशति" इस रूप से हुआ है।

"दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते"—"दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते-कर्म्मणि" या० नि० ११।२३।१) "प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम्"—"प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति, व्रतं कर्म्म" (य० नि १।३।२।१) इत्यादि स्थलों में व्रत शब्द को कर्म्म परक ही माना गया है।

अस्तु इस विषय को अधिक बढ़ाना प्रकृत से दूर जाना है। ऋग्वेद की २१ शाखाएं ही क्यों होतीं हैं? यजु-साम-अथर्व के क्रमशः १०१, १,०००, ९, इतनें ही अवान्तर भेद क्यों मानें गए हैं? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में निगूढतत्व छिपाहुआ है। प्राकृतिक नित्य वेद का जैसा स्वरूप है, ठीक वैसा ही स्वरूप इस शब्दात्मक पौरुषेयवेद का है। इन सब विषयों का विशदीकरण यथासम्भव अगले प्रकरण में करने की चेष्टा की जायगी। अभी हमें अपने पाठकों को ग्रन्थ-विभाग, एवं तत्प्रतिपादित विषयों की ओर ही लेजाना है।

"अथर्वब्रह्म गर्भित त्रयीब्रह्म ब्रह्म है" यह पूर्व में बतलाया जाचुका है। इस ब्रह्म विभाग में **विज्ञान-स्तुति-इतिहास** इन तीन विषयों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक संहिता के कुछ एक मन्त्र विज्ञानतत्व का निरूपण करते हैं। कुछ एक मन्त्र तत्तद्देवताओं की स्तुति करते हुए उन का स्वरूप परिचय कराते हैं। एवं कुछ एक सूक्त **इतिहास** (मनुष्य चरित्र) की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इन तीनों हीं निरूपणीय विषयों में परस्पर सङ्करता है। **वैज्ञानिकमन्त्र** गौणरूप से स्तुति-इतिहासमर्यादा का, **स्तुतिपरकमन्त्र** गौणरूप से विज्ञान-इतिहास का, एवं ऐतिह्यमन्त्र गौणरूप से विज्ञान स्तुतिमर्यादा संरक्षण करते हुए ही आगे चलते हैं।

वैदिकज्ञान को अनादिज्ञान माननें वाले श्रद्धालु **इतिहास** शब्द से भयभीत होजाते हैं। उन का विश्वास है कि यदि वेदों में इतिहास मानलिया जायगा तो वेदों का अनादित्व नष्ट हो-जायगा। थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए हम भी यह मान लेते हैं कि वेदों में इतिहास नहीं है। परन्तु एतावता भी वैदिकज्ञान का अनादित्व आप कथमपि सिद्ध नहीं कर सकते। वेदों में **सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-विद्युत्-अग्नि-वायु-इन्द्र-वरुण-मरुत्**-आदि प्राकृतिक देवताओं (पदार्थों) का इतिहास तो आप भी मानते ही हैं। इन सब की उत्पत्ति-स्थिति आदि का क्रम वेदसंहिताओं में बड़े विस्तार के साथ सुनिरूपित है, यह निर्विवाद एवं सर्वसम्मत पक्ष है। आप को यह मानना पड़ैगा कि अनादि ईश्वरीय ज्ञान की अपेक्षा **सूर्य्य-चन्द्रादि** सभी देवता सादि हैं। ऐसी अवस्था में यदि इन सादि पदार्थतत्वों के निरूपण से वेद का अनादित्व नष्ट नहीं होता तो मनुष्यचरित्र से ही यह आपत्ति कैसे उठाई जा सकती है। त्रैकालज्ञ ईश्वर के लिए सब कुछ

'हे (आग्नेयप्राणप्रधान) देवताओ ! (हम अपनें) कानों से सदा मंगल वचन ही सुनते रहैं। हे यजन करने वाले यज्ञिय देवताओ (हम अपनी) आंखों से सदा मङ्गलभाव ही देखा करैं। स्थिर एवं दृढ़ अङ्गों से युक्त शरीरों से (हम) सदा युक्त रहैं, एवं जो देवहित (देवताओं में प्रतिष्ठित) आयु है, उसे सुखपूर्वक (निर्विघ्न) भोगने में समर्थ बनैं"—यह है उक्त मङ्गलपाठ का अक्षरार्थ।

ज्ञान-क्रिया-अर्थतत्वप्रतिपादक वैदिक साहित्य में ज्ञानप्रधान उपनिषदों की भाषा ऐसी संक्षिप्त है, जिस का कोई ठिकाना नहीं। एक एक शब्द में उन ज्ञानमूर्ति महर्षियों नें गभीरतम तत्वों का समावेश किया है। उपनिषत् के प्रत्येक अक्षर में कुछ न कुछ गुहानिहित रहस्य रहता है। प्रत्येक शब्द भावप्रधान है। पूर्व मन्त्र में—"कर्णेभिः" के सम्बन्ध में "देवाः" कहा गया है। "अक्षभिः" के सम्बन्ध में "यजत्राः" का सन्निवेश किया गया है। "अग्निः सर्वा देवताः" (ऐ०ब्रा०२।३)—"सोमः सर्वा देवताः" (तै०ब्रा०३।२।४।३।) के अनुसार अग्नि और सोम दोनो सर्वदेवता हैं। इतर सम्पूर्ण देवताओं का इन आग्नेय, एवं सौम्य-देवताओं में अन्तर्भाव है। आग्नेय देवता अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन भागों में विभक्त हैं, एवं सौम्य देवता दिक्सोम, भास्वरसोम भेद से दो भागों में विभक्त हैं। संभूय आग्नेय, वायव्य, आदित्य, दिक्सौम्य, भास्वरसौम्य भेद से देवता पांच प्रकार के हो जाते हैं। इन पाचों प्राकृतिक (आधिदैविक) प्राणदेवताओं से क्रमशः वाक-प्राण-चक्षु-*श्रोत्र-मन इन पांच इन्द्रियों का निर्म्माण होता है। यही पांचों आध्यात्मिक देवता हैं। वागिन्द्रिय साक्षात् अग्निदेवता है। प्राणेन्द्रिय (घ्राणेन्द्रिय) वायुदेवता है। चक्षुरिन्द्रिय आदित्यदेवता है। श्रोत्रेन्द्रिय का दिक्सोम से सम्बन्ध है। एवं मन की प्रतिष्ठा भास्वरसोम है। इसी इन्द्रियविज्ञान को लक्ष्य में रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

---

* दिक्सोम ही पवित्रसोम है, दूषितभाव को दूर करना इस का मुख्य काम है। यज्ञोपवीत कान पर क्यों चढाया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिक्सोम नाम का पवित्र पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम है।

१—"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्"।
२—"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्"।
३—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्"।
४—"दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्"।
५—"चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्"। (ऐ० उ०२।४।)।

प्राकृतिक नित्य संवत्सर यज्ञ में अग्नि होता हैं, वायु अध्वर्यु हैं, आदित्य उद्गाता हैं, एवं सोम (चन्द्रमा) ब्रह्मा हैं। होता ऋङ्मूर्त्ति है, वायु यजुर्मूर्त्ति है, उद्गाता साममूर्त्ति है। ब्रह्मा अथर्वमूर्त्ति है। होता शस्त्रकर्म्म का, अध्वर्यु ग्रहकर्म्म का, एवं उद्गाता स्तोत्रकर्म्म का अधिष्ठाता है। यह तीन ही ऋत्विक् प्रधानरूप से यज्ञकर्म्म के सम्पादक हैं। चौथा अथर्वमूर्त्ति ब्रह्मा केवल निरीक्षण करते हैं। दूसरे शब्दों में ब्रह्मा यजन नहीं करते, अपितु वे तटस्थ देवता हैं। काम करने वाले केवल अग्नि-वायु-आदित्य देवता ही हैं। ऐसी अवस्था में हम मङ्गलमन्त्रोक्त यजत्रा शब्द से इन तीनों देवताओं का ही ग्रहण कर सकते हैं। यही अवस्था अध्यात्मिक यज्ञ की समझिए। अग्निमयी वाक् होता है, वायुमय प्राण अध्वर्यु है, आदित्यमय चक्षु उद्गाता है, सोममय मन ब्रह्मा है। दिक्सोम व्यापक है। इसी का प्रवर्ग्यभाग सायतन बन कर सौरप्रकाश से प्रकाशित होता हुआ भास्वरसोम नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था में दिक्सोम से भास्वरसोम का ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। फलतः—'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः" इस मन्त्रभाग का—"हे सौम्यदेवताओ! मैं कान से अच्छा सुनूं, एवं मन से शुभभावना करूं" यह अर्थ हो जाता है। आदित्य ज्ञानप्रधान है, वायु क्रियाप्रधान है, अग्नि अर्थप्रधान है। ज्ञान पूर्वज है, अर्थ-क्रिया अपरज हैं। ज्ञान ही बलग्रन्थियों के तारतम्य से ज्ञान-क्रिया-अर्थरूप से तीन स्वरूप धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में ज्ञानमूर्त्ति आदित्यमय चक्षु से हम क्रियामूर्त्ति वायुमय प्राण, एवं अर्थमूर्त्ति अग्निमयी वाक् इन दोनों का ग्रहण कर सकते हैं। वाक् अर्थप्रधाना है, प्राण क्रियाप्रधान है, चक्षु ज्ञानप्रधान है। चक्षु से पदार्थों का ज्ञान होता है। प्राणद्वारा श्वास-प्रश्वासरूपा क्रिया का सञ्चार होता है। वाक्द्वारा अन्न साधन से

एव यह दर्शन **व्यासदर्शन** नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। उपनिषत् वेद का अन्तिम भाग है, अतएव उपनिषत् शास्त्र को **वेदान्त** कहा जाता है। अतएव तत्प्रतिपादक व्यासदर्शन को **वेदान्तदर्शन** नाम से व्यवहृत किया गया है।

ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीनों का अध्यात्मसंस्था की **मन-प्राण-वाक्** इन तीन कलाओं के साथ क्रमिक सम्बन्ध है। मन **ज्ञानशक्तिमय** है, प्राण **क्रियाशक्तिमय** है, एवं वाक्तत्त्व **अर्थशक्तिमय** है। मन उक्थ (प्रभवस्थान) है, प्राण इस उक्थ के **अर्क** (रश्मिएं) हैं, वाक् **अशिति** (अन्न) है। हृदयस्थित मन प्राणात्मिका रश्मियों के द्वारा वाङ्मय अन्न का भोग किया करता है। तन्त्रशास्त्र में यही तीनों **नैगमिक** कलाएं क्रमशः **पशुपति-पाश-पशु** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पशुपति ज्ञानमय है, **मनोमय** है। पाश **क्रियामय** है, **प्राणमय** है, पशु अर्थमय है, **वाङ्मय** है। तीनों की समष्टि **"सर्वम्"** है। वाक्भाग **भूतप्रधान** है, प्राणभाग देवप्रधान है, मनोभाग **आत्मप्रधान** है। भूतमय वाग्भाग **भूतमात्राप्रधान** पाञ्चमहाभौतिक **स्थूलशरीर** की अधिष्ठानभूमि है, देवमय प्राणभाग **प्राणमात्राप्रधान सूक्ष्मशरीर** का प्रवर्त्तक है, एवं आत्ममय मनोभाग **प्रज्ञामात्राप्रधान कारणशरीर** का आलम्बन है। इस प्रकार आत्मा-देवता-भूतमय, मन-प्राण-वाक् ही **"सर्वम्"** है। इन तीनों में मनप्रधान आत्मा **अध्यात्मसंस्था** है, प्राणप्रधान देवमण्डल **अधिदैवतसंस्था** है, एवं वाक्प्रधान भूतमण्डल **अधिभूतसंस्था** है। अधिभूतसंस्था का कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक **विधिभाग** से सम्बन्ध है, कर्म्मभाग का भूत से ही नेदिष्ठ सम्बन्ध है। अधिदैवतसंस्था का उपासनाकाण्डप्रतिपादक **आरण्यकभाग** से सम्बन्ध है, उपासना देवता की ही हो सकती है। आत्मा का केवल ज्ञान ही होसकता है। एवं अध्यात्मसंस्था का ज्ञानकाण्डप्रतिपादक उपनिषद् भाग से सम्बन्ध है।

इसी पूर्वोक्त स्थितिक्रम का समादर करते हुए प्राचीनों ने **विधि-आरण्यक-उपनिषद्** इन तीनों के क्रमशः **कर्म्मयोगत्व-भक्तियोगत्व-अध्यात्मविद्यात्व** यह अवच्छेदक मान रक्खे हैं। कर्म्म-एवं उपासना से जीवात्मा ईश्वर के साथ अभिन्न बनने में असमर्थ ही रहता है। उपासना से केवल **सामीप्यभाव** की प्राप्ति होसकती है। **सायुज्य**, किंवा **निर्वाणभाव** तो ज्ञानयोगापर-

पर्य्यायक औपनिषद्ज्ञान पर ही निर्भर है । इसी सायुज्यभाव को प्रकट करने के लिए वेद के इस अन्तिमभाग का नाम "उपनिषत्" रक्खा गया है । उपासना में केवल "उप-आसन" (समीप बैठना-ईश्वर के समीप पहुंचना) है । इधर उपनिषत् में "नि" और विशेष है । 'उप' का अर्थ है "समीप", "नि" का अर्थ है "नितराम्" । "षत्" का अर्थ है "बैठना" । जिस (आत्म-औपनिषत्) विद्या के द्वारा जीवात्मा अपने प्रभव ईश्वर में सर्वात्मना (अभिन्नभाव से) प्रतिष्ठित होजाता है, दूसरे शब्दों में तादात्म्यभावापन्न होजाता है, वही विद्याविभाग "उपनिषीदन्ति यया" इस निर्वचन के अनुसार "उपनिषत्" नाम से प्रसिद्ध होता है । इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने उक्त विभाग प्रदर्शन द्वारा उपनिषत् शब्द से वेद के चौथे भाग का ही ग्रहण किया है । उन का विश्वास है कि अध्यात्मविद्याप्रतिपादक **ईश केन-कठ-प्रश्न** आदि नामों से प्रसिद्ध वेद के अन्तिम भागों के लिए ही **उपनिषत्** शब्द प्रयुक्त हुआ है **उपनिषत्** शब्द एकमात्र सुप्रसिद्ध **ईश-केनादि** उपनिषदों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । यह है उपनिषत् शब्द सम्बन्धिनी प्राचीन मत मीमांसा । इस मीमांसा के सम्बन्ध में जिन ज्ञान-क्रिया-अर्थविवर्त्तों का दिग्दर्शन कराया गया है, निम्नलिखित परिलेखों से उन सब का स्पष्टीकरण होजाता है ।

१—

१—ऋग्वेदः ——→ २१—शाखाभेदभिन्नः
२—यजुर्वेदः ——→ १०१—शाखाभेदभिन्नः
३—सामवेदः ——→ १०००—शाखाभेदभिन्नः
४—अथर्ववेदः ——→ ९—शाखाभेदभिन्नः
}——→ ब्रह्मवेदः

११३१-वेदशाखाविभागः

२—
ऋग्वेदः—→अर्थप्रधानः (अर्थः)—→अग्निमयः
यजुर्वेदः—→क्रियाप्रधानः (क्रिया)—→वायुमयः
सामवेदः—→ज्ञानप्रधानः (ज्ञानम्)—→आदित्यमयः
—→त्रयीवेदः
३—
१—विधिभागः—→अर्थप्रधानः—→कर्म्मकाण्डम्
२—आरण्यकभागः—→क्रियाप्रधानः—→उपासनाकाण्डम्
३—उपनिषद्भागः—→ज्ञानप्रधानः—→ज्ञानकाण्डम्
—→ब्राह्मणवेदः
१—१—विज्ञानकाण्डम्
२—२—स्तुतिकाण्डम्
३—३—इतिहासकाण्डम्
—→ब्रह्मवेदस्य निरूपणीयविषयाः
४—
४—१—कर्म्मकाण्डम्
५—२—उपासनाकाण्डम्
६—३—ज्ञानकाण्डम्
—→ब्राह्मणवेदस्य निरूपणीयविषयाः
५—
१—मनः—ज्ञानम्—उक्थम्—पशुपतिः—आत्मग्रामः
२—प्राणः—क्रिया—अर्काः—पाशः—देवग्रामः
३—वाक्—अर्थः—अशितयः—पशुः—भूतग्रामः
—→"सर्वम्"

ग—विज्ञानदृष्टि

पनिषच्छब्दार्थ के सम्बन्ध में प्राचीन व्याख्याताओं के जो विचार हैं, उन का हम विरोध नहीं करते। साधारण मनुष्यों के लिए यह प्राचीनदृष्टि आदरणीया होसकती है। परन्तु एक वैज्ञानिक मनुष्य इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होसकता। उस की दृष्टि में उपनिषत् शब्द का वाच्यार्थ कुछ और ही है। उपनिषत् शब्द का सम्बन्ध एकमात्र ज्ञानकाण्ड प्रधान अध्यात्मविद्याशास्त्र के साथ ही नहीं है। अपितु ज्ञान-कर्म्म-उपासना तीनों के साथ उपनिषत् शब्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारा तो यह भी विश्वास है कि उपनिषत् शब्द की व्याप्ति (दौड़) शास्त्रमर्य्यादा तक ही सीमित नहीं है, अपितु सांसारिक लौकिक कर्म्मों में भी उक्त शब्द की पूर्ण व्याप्ति है। जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

प्रत्येक शब्द का एक अवच्छेदक हुआ करता है। अन्य धर्म्मों से उस पदार्थ को पृथक् करके बतलाने वाला, एवं साथ ही में उस पदार्थ को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखने वाला जो धर्म्म है, वही कथाशास्त्र (न्यायशास्त्र) में अवच्छेदक नाम से व्यवहृत हुआ है। घट पदार्थ पटादि इतर यच्च यावत् पदार्थों से पट पदार्थ घटादि इतर यच्चयावत् पदार्थों से भिन्न है। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षि, कृमि, कीट, ओषधि, वनस्पति आदि सब पदार्थ परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। सब के नाम-रूप-कर्म्म पृथक् पृथक् हैं। यह पार्थक्य एकमात्र उस अवच्छेदक तत्व पर ही निर्भर है। "एकं वा इदं विबभूव सर्वम्" (ऋक्०८।४।२९।) के अनुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च का मूल कोई एक ही तत्व है। इस प्रकार एक ही तत्व से उत्पन्न होने पर भी केवल अवच्छेदक भेद से ही सब पदार्थ भिन्न भिन्न स्वरूपों में परिणत हो रहे हैं। प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही शक्ति रहती है। शब्द किसी न किसी अर्थ का वाचक है। वह अवश्य ही किसी न किसी अवच्छेदकावच्छिन्न पदार्थ से सम्बन्ध रखता है। सर्वव्यापक ईश्वरतत्व का कोई अवच्छेदक नहीं है। अवच्छिन्न सभी पदार्थों का उस में समावेश है। सर्वधर्म्मोपपन्न उस अनवच्छिन्न का कोई धर्म्म व्यावर्त्तक नहीं बन सकता। ऐसी अवस्था में अवच्छेदकावच्छिन्न पदार्थ के वाचक किसी भी शब्द की वहां दौड़ संभव नहीं है। इसी आधार पर उस के लिए श्रुति कहती है—

संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

परन्तु सर्वधर्म्मोपपन्न उस एक तत्व को छोड़कर उस के उदररूप विश्व में और जितने भी पदार्थ हैं, उन सब का कोई न कोई व्यावर्त्तक अवश्य ही रहता है । उसी व्यावर्त्तक को न्यायभाषा में अवच्छेदक कहा जाता है । यह अवच्छेदक उस पदार्थ को इतर पदार्थों से भिन्न करवाता है, अतएव इसे "भेदक" भी कहा जाता है । अवच्छेदक द्वारा इतर पदार्थों से पृथग्भूत पदार्थ अवच्छिन्न कहलाता है । भेदक द्वारा भिद्यमान पदार्थ ही अवच्छिन्न है । इसी अवच्छेदक, किंवा भेदक तत्व को याज्ञिक परिभाषा में *"छन्द" कहा जाता है । प्रत्येक वस्तु अवच्छेदक से अवच्छिन्न रहती है, इस वाक्य का हम "प्रत्येक वस्तु छन्द से छन्दित रहती है" इस रूप से अभिनय कर सकते हैं । यही छन्द, किंवा अवच्छेदक विज्ञान भाषा में "वयोनाध" नाम से व्यवहृत हुआ है । "वयं" पदार्थ का वाचक है । वयरूप पदार्थ को सीमित बना कर उसे इतर पदार्थों से पृथक् करनें वाला तत्व ही "वयोनाध" है । एक ही अग्नि वयोनाधापरपर्य्यायक इस छन्दोभेद से ही अग्नि-वायु इन्द्र-वसु-रुद्र-आदित्यादि भेद से ३३ रूप धारण करलेता है । एक ही अप तत्व (पानी) केवल इस छन्द की कृपा से ही समुद्र-सरोवर-नद-नदी वापी-कूप-आदि अनेक नाम धारण कर लेता है । संसार में जितनें प्रकार के छन्द हैं, उन सब की गणना संग्रहरूप से यजुर्वेद संहिता में कर दी गई है । पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ दिक् इन चार विभागों में सब कुछ समाविष्ट है । इसी आधार पर—'चतुष्ट्रयं वा इदं सर्वम्' (कौ०ब्रा०२।१।) यह वचन प्रसिद्ध है । पृथिवी का छन्द "मा" है, अन्तरिक्ष का "प्रमाछन्द" है द्युलोक का "प्रतिमाछन्द" है, दिक् का 'अस्रीविछन्द' है । आयतन का नाम ही छन्द है । सीमाभाव ही छन्द है । आकृति ही छन्द है । यही अवच्छेद किंवा भेदक है । अवच्छेदक परिमाण-आयतन-भेदक-सीमाभाव-वयोनाध-छंद-आदि सब शब्द प्रायः समानार्थक है । एवमेव

*इस विषय का विशद विवेचन शतपथ हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथम वर्ष ६-७ अंकों में देखना चाहिए ।

अवच्छिन्न-परिमित-भिन्न-सीमित-वय-छन्न-आदि सब शब्द प्रायः समानार्थक हैं। अवच्छिन्न स्वरूप सम्पादन करने वाला अवच्छेदक तत्व संस्कृतसाहित्य में 'त्व' नाम से व्यवहृत हुआ है। जिसे लोक भाषा में (अपना)-'पना' कहते हैं, उसी के लिए भारतीभाषा में त्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। घट पदार्थ में कम्बुग्रीवादिमत्व रूप जो एक घटपना है-(जिस घटपने से घट पदार्थ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हो रहा है) वही पना घट का घटत्व है। घटत्व ही घट का अवच्छेदक है। घटत्वावच्छेदकावच्छिन्नतया घट इतर पदार्थों से पृथक् हो रहा है।

संसार में जितनें भी पदार्थ हैं, उन सब में यह सामान्य व्यवस्था समझनी चाहिए। यही अवच्छेदक दार्शनिकभाषा में जाति नाम से प्रसिद्ध है। घटमात्र में (सम्पूर्ण घड़ों में) घटत्व अवच्छेदक समानरूप से विद्यमान है। अत एव जाति को सामान्य कहा जाता है। "जातिर्जातं च सामान्यं व्यक्तिस्तु पृथगात्मता" के अनुसार जाति सामान्या है। व्यक्तिका सम्बन्ध पृथगात्मता से है। इस प्रकार जब यह सिद्ध होजाता है कि प्रत्येक शब्द की यत्-किञ्चित् पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति है तो प्रकृतस्थल के ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् इन तीनों शब्दों के सम्बन्ध में भी वही न्याय घटित होना चाहिए।

उक्त तीनों शब्दों के अवच्छेदक कौन ? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीनों की ओर से कर्म्मयोगत्व-उपासनायोगत्व-आत्मविद्यात्व इन अवच्छेदकों द्वारा मिलता है, जैसा कि पूर्वकी प्राचीनदृष्टि में विस्तार से बतलाया जाचुका है। ब्राह्मण एवं आरण्यक के अवच्छेदकों के विषय में प्रकृत में विशेष वक्तव्य नहीं है। कहना है केवल उपनिषत् शब्द सम्बन्धी अवच्छेदक के विषय में। हमारे विचार से "अध्यात्मविद्यात्व,, ही उपनिषत्शास्त्र का अवच्छेदक नहीं होसकता। यदि उपनिषत् द्वारा केवल आत्मविद्या का ही निरूपण होता, तब तो प्राचीनों का मत ठीक था, परन्तु ऐसा नहीं है। कर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में, एवं उपासना प्रतिपादक आरण्यकग्रन्थों में भी उपनिषत् शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है, जब कि प्राचीनों के मतानुसार ब्रा० आर० दोनों ही ग्रन्थ अध्यात्मविद्या की मर्यादा से सर्वथा बहिर्भूत है। ऐसी स्थिति में अध्यात्मविद्यात्व

कथमपि उपनिषत् पदार्थ का अवच्छेदक नहीं बन सकता । उपनिषत् पदार्थ के यथार्थ स्वरूप परिचय के लिए ही निम्न लिखित लक्षण को ही अपनाना पड़ेगा ।

"तत्तत् कर्म्मकलापेतिकर्त्तव्यताप्रकारविशेषोपपादकत्त्वेन-
व्यवस्थितो यो विज्ञान सिद्धान्तः—सा तत्तत् कर्म्मणा उपनिषत्"
(श्रीगुरुप्रणीत-ब्रह्मविज्ञान) इति ।

"उन उन कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यताओं की उपपत्ति के आधार पर व्यवस्थित जो (मौलिक) विज्ञानसिद्धान्त है, वही उस उस कर्म्म की उपनिषत् है" इस लक्षण की प्रामाणिकता पर विश्वास करने से ही उपनिषद् पदार्थ के अवच्छेदक की सङ्गति हो सकती है।

———

घ—ब्राह्मण में उपनिषत्

ज्ञानकाण्डवत् कर्म्म-एवं उपासनाकाण्ड में भी उपनिषत् शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरणार्थ पहिले कर्म्मकाण्ड सम्बन्धी दो एक निदर्शन पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए जाते हैं। सम्पूर्ण कर्म्मकलाप पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ भेद से दो भागों में विभक्त है। जिन कर्म्मों के फलों का पुरुष (कर्म्मकर्त्ता व्यक्ति) के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, वे कर्म्म पुरुष की प्रातिस्विक सम्पत्ति बनते हुए, दूसरे शब्दों में पुरुष के लिए नियत बनते हुए—"पुरुषार्थकर्म्म" नाम से प्रसिद्ध होते हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, वाजपेयस्तोम, अतिरात्रस्तोम, अप्तोर्यामस्तोम भेदभिन्न सप्तसंस्थ **ज्योतिष्टोमयाग** (सोमयाग), राजसूय—वाजपेय-अश्वमेध—चयन—शिरोयाग-गवामयन—अङ्गिरसामयन—आदित्यानामयन आदि यज्ञकर्म्म स्वतन्त्र रूप से स्वर्गादि फल प्राप्ति के साधन बनते हुए—"पुरुषार्थ" कर्म्म हैं। इन कर्म्मों से यज्ञकर्त्ता पुरुष की अर्थसिद्धि (अभीष्टफलावाप्ति) होती है। एवं अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध विष्णुक्रम, वात्सप्र, वसिष्ठयाग, पिण्डपितृयज्ञ आदि अवान्तरकर्म्म क्रत्वर्थकर्म्म हैं। पुरुषार्थ कर्म्म को "क्रतु" कहा जाता है। उक्त अवान्तर अङ्गकर्म्मों से इन पुरुषार्थरूप क्रतुओं का स्वरूपसंपन्न होता है, दूसरे शब्दों में अग्न्याधानादि अङ्गकर्म्म क्रतु के लिए हैं, इन का साक्षात् सम्बन्ध यज्ञकर्त्ता पुरुष के साथ न होकर क्रतु के साथ होता है, अतएव इन अङ्गकर्म्मों को क्रत्वर्थ कर्म्म (क्रतुरूप पुरुषार्थ कर्म्म के स्वरूप संपादन करने वाले कर्म्म) कहना न्याय संगत होता है।

पुरुषार्थ कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता भिन्न है, क्रत्वर्थ कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता पृथक् है। दर्शपूर्णमास एक क्रत्वर्थ कर्म्म है। इस की स्वरूपनिष्पत्ति के लिए भी व्रतग्रहण, अपांप्रणयन, इध्मसंनहन, पुरोडाशसम्पादन पात्रासादन, पात्रप्रतपन, पात्रप्रोक्षण, हविर्ग्रहण, ब्रह्मवरण, आदि अवान्तर अनेक कर्म्म करनें पड़ते हैं। इन अवान्तर अनेक कर्म्मों से एक क्रत्वर्थकर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं ऐसे ऐसे अनेक क्रत्वर्थकर्म्मों से एक पुरुषार्थकर्म्म की सिद्धि होती है। इन सब कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता का पार्थक्य तो इन कर्म्मों के भेद से ही सिद्ध है। इस भिन्नता का कारण वही उपनिषत् है। नियत विज्ञान-सिद्धान्त की भित्ति पर ही तत्तत्

कर्म्मकलाप की इतिकर्त्तव्यता प्रतिष्ठित है। "अमुककर्म्म अमुक प्रकार से क्यों किया जाता है?" उत्तर वही विज्ञानसिद्धान्त है। वही तत्तत्कर्म्मों की उपनिषत् है।

"तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोऽनुवाक्यावन्तो यजतयः"

(का०श्रौ० १।२।६।)

"उपविष्टहोमा स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः" (का०श्रौ० १।२।७)।

इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार खड़े खड़े वषट्कार पूर्वक (इन्द्राय वौषट्-इत्यादिरूप से) आहुतिदेना यागकर्म्म है, एवं बैठकर स्वाहापूर्वक आहुतिदेना होमकर्म्म है। इस भेद का क्या मूल? क्या उपपत्ति? उत्तर वही औपनिषद विज्ञानसिद्धान्त। अग्न्यादि देवताओं के लिए स्वाहा पूर्वक, अग्निष्वात्तादि पितरों के लिए स्वधा पूर्वक, इन्द्र के लिए वौषट् पूर्वक, मनुष्यों के लिए नमः पूर्वक ही आहुति क्यों दी जाती है? उत्तर वही उपनिषत्। अमुक कर्म्म अमुक रूप से ही करना चाहिए, तभी वह फलप्रद हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्यों? इत्यादि सब जिज्ञासाओं को शान्त करने वाला, हमारे अन्तरात्मा से स्वभावतः निकलने वाले क्यों? का एकमात्र समाधान वही विज्ञानसिद्धान्तरूप उपनिषत् है। तत्तद् विज्ञान सिद्धान्त के आधार पर ही तत्तत् कर्म्मकलाप सुप्रतिष्ठित हैं। जिस कर्म्म का जो मूलभूत सिद्धान्त है, वही उस कर्म्म की उपनिषत् है। यज्ञकर्म्म में दीक्षित यजमान को सत्यभाषण ही करना चाहिए, पयोव्रती ही रहना चाहिए, शकट से ही हविर्ग्रहण करना चाहिए, अग्निष्टोम नाम की ज्योतिष्टोमसंस्था में आग्नेय वार्ध्रीनस अज पशु का ही आलम्भन (संज्ञपन-मारण) करना चाहिए, यज्ञशाला प्राक्प्रवणा, अथवा उदक्प्रवणा भूमि में ही होनी चाहिए, यज्ञकर्त्ता द्विजाति को शूद्र से सम्भाषण नहीं करना चाहिए, इत्यादि विषयों का समुचित समाधान करने वाला प्रकृतिसिद्ध, अतएव सुव्यवस्थित नित्यविज्ञान सिद्धान्तरूप उपनिषत् ही है। उपनिषत् शब्द इसी अर्थ में निरूढ है। स्वयं उपनिषत् शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट कर रहा है। "उप[1]-नि[2]-षत्[3]" इन तीनों विभागों का क्रमशः "उपपत्ति[1]-निश्चय[2]-स्थिति[3]" यह अर्थ है। उपपत्तिज्ञान से उस कर्म्म में निश्चयभाव (दृढविश्वास)

उत्पन्न होजाता है। तदनन्तर उस कर्म में स्थितिभाव (तत्परता-कर्मप्रवणता) का उदय होता है। उपनिषत् ज्ञान का उसे फल मिल जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि जिस उपपत्ति ज्ञान के प्रभाव से जो कर्त्तव्य कर्म्म कर्त्तव्यत्वेन मनुष्य के हृदय में दृढमूल होजाता है, वह उपपत्तिज्ञान ही उस कर्त्तव्यकर्म्म की उपनिषत् है।

"अर्थलोलुप पश्चिमीराष्ट्रों के प्रबल वेग से बढते हुए शस्त्रास्त्रीकरण से निकट भविष्य में ही महासमर छिड़नें वाला है, इस लिए अभी से सस्ते भाव में वस्तुएं खरीदलो" इस उपनिषत् के आधार पर एक उपनिषद्वेत्ता व्यापारी वस्तुक्रय करलेता है। एवं समर के समय उसे आशातीत सफलता मिलजाती है। "युद्ध के कारण तत्तद्राष्ट्रों के साथ होने वाला वस्तुओं का क्रय-विक्रय अवरुद्ध होजाता है, फलतः देशों का व्यापार शिथिल हो जाता है। इसी लिए वस्तुओं की महर्घता (महगांई) अवश्यंभाविनी है। अतएव लाभ होना स्वाभाविक है।" युद्ध के समय क्यों लाभ होगा ? इस की यही उपनिषत् है। इस उपपत्ति से दृढनिश्चयी बन कर व्यापारी उस कर्म्म में स्थित होजाता है। इस औपनिषत् ज्ञान का फल उसे मिल जाता है। जिस के कि प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे शेखावाटी के कलकत्ता-बम्बई निवासी मारवाड़ी श्रेष्ठ (सेठ) ही पर्य्याप्त हैं।

उपपत्ति द्वारा जो विषय निश्चितरूप से आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है। उपपत्ति (उप) पूर्विका वह निश्चित (नि) प्रतिपत्ति (षत्), चित्त का "इदं कर्त्तव्यमेव" यह विश्वास ही उपनिषत् है। "उप (उपपत्तिद्वारा) नि (नितरां निश्चयेन वा) सीदति (तत्र कर्म्मणि तत्परभावेन प्रतिष्ठितोभवति" बस उपनिषत् शब्द की यही यथार्थ व्युत्पत्ति है। उपनिषद्ज्ञानपूर्वक, विज्ञानानुमोदित निश्चयज्ञानपूर्वक जो कर्म्म किया जाता है, उस में अधिक बल रहता है। ऐसे मनुष्य को विश्वास रहता है कि मैं अमुक कर्म्म व्यर्थ नहीं कर रहा, अपितु उपनिषत् से कर रहा हूं। ऐसे दृढनिश्चयी का यह कर्म्म अवश्य ही बलवत्तर हो जाता है। उपनिषत् शब्द के इसी उक्तार्थ-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"नाना तु विद्या चाविद्या च। स यदेव विद्यया करोति,
श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"
(छां० उप० १।१।१०) इति।

तत्तत् कर्म्मविषयक पूर्णज्ञान "विद्या है। कर्म्म में प्रवृत्ति का मुख्य एवं पहिला साधन विद्या ही है। कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का ज्ञान ही प्रकृत में विद्या शब्द से अभिप्रेत है। एवं उस कर्म्म में श्रद्धाभाव की उत्पत्ति के लिए उपनिषद्ज्ञान (उपपत्तिज्ञान) अपेक्षित है। "यदि विद्या-**श्रद्धा-उपनिषत्** इन तीनों का एक कर्म्म में समन्वय हो जाता है, दूसरे शब्दों में जो व्यक्ति **विद्या** (कर्म्मेतिकर्त्तव्यता सम्पादक कर्म्म विषयक ज्ञान), **श्रद्धा** मनोयोग) **उपनिषत्** (उपपत्तिज्ञान) पूर्वक कर्म्म करता है तो उस का वह कर्म्म निःसन्देह बल-वत्तर होता हुआ यथावत् संपन्न हो जाता है।" उक्त छान्दोग्य श्रुति का यही तात्पर्य है। अध्यात्मविद्यात्व को ही उपनिषत् का अवच्छेदक माननें वाले, दूसरे शब्दों में ईश-केन-कठादि उपनिषदों को ही उपनिषत् शब्द का वाचक माननें वाले महानुभावों से क्या हम यह पूछ सकते हैं कि पूर्व की छान्दोग्य श्रुति में उपात्त उपनिषत् शब्द का क्या भवदभिमत अर्थ है? क्या वहां का उपनिषत् शब्द ईश-केनादि का वाचक है? नहीं तो फिर किस आधार पर, एवं क्यों आपके मत का आदर किया जाय। अस्तु विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा है, अतः दो एक उदाहरण बतला कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म" (शत० १।७।१।५) के अनुसार यज्ञकाण्ड का ही नाम विद्यासापेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्म है। दान एवं तप का भी इसी प्रवृत्तिकर्म्म में अन्तर्भाव है। प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद भेद भिन्न पंचप्रकृतिविशिष्ट यज्ञप्रजापति के पञ्चावयव सर्वहुतयज्ञ के आधार पर वितत हमारा वैधयज्ञ (मनुष्यों के द्वारा कियाजानें वाला यज्ञ) भी "पाङ्क्तो वै यज्ञः" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अग्निहोत्र[1], दर्शपूर्णमास[2], चातुर्मास्य[3], पशुबन्ध[4], ज्योतिष्टोम[5] भेद से पांच ही भागों में विभक्त है। हमारा वैधयज्ञ पाङ्क्त (पञ्चावयव) ही क्यों है? इस
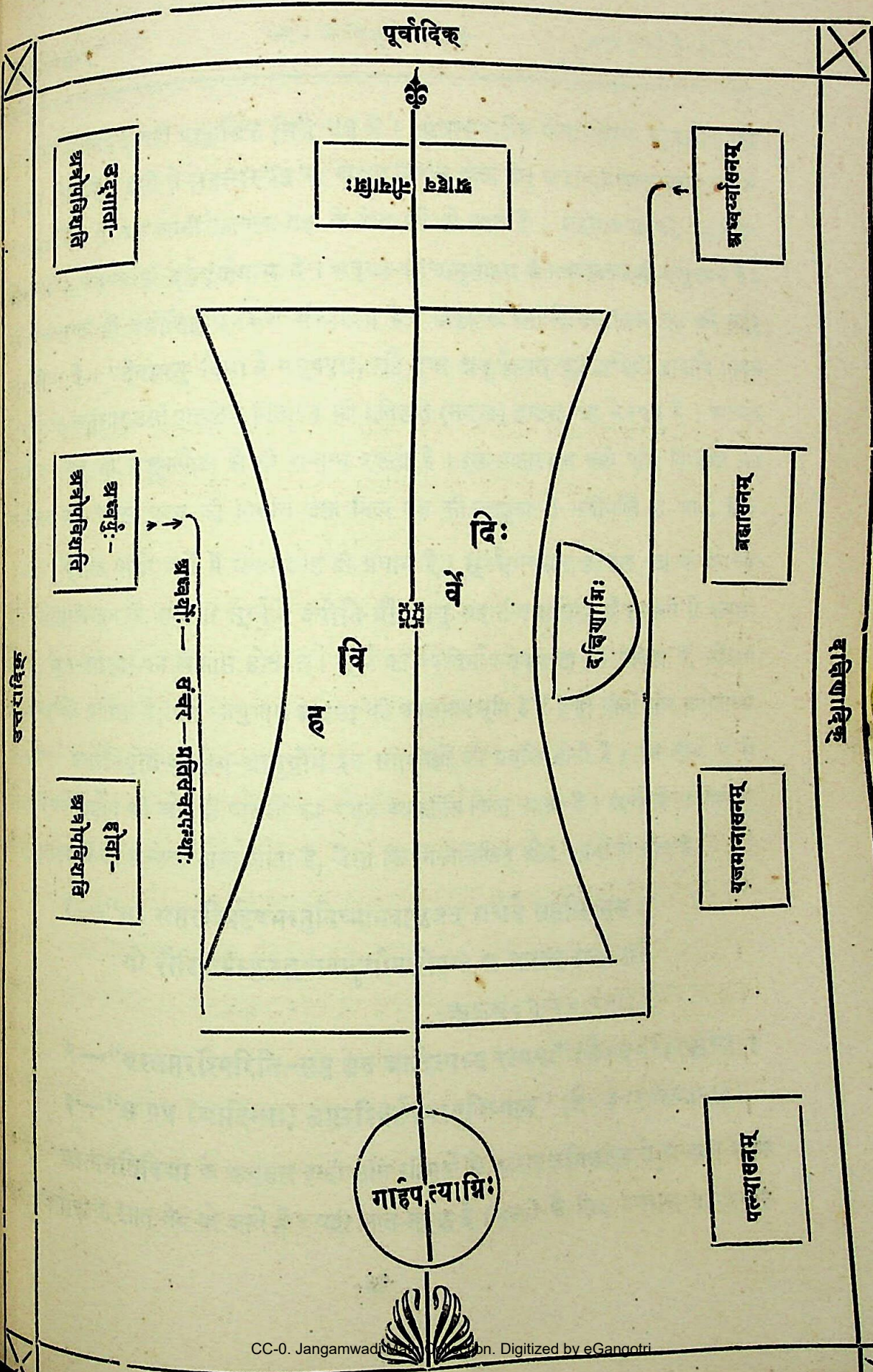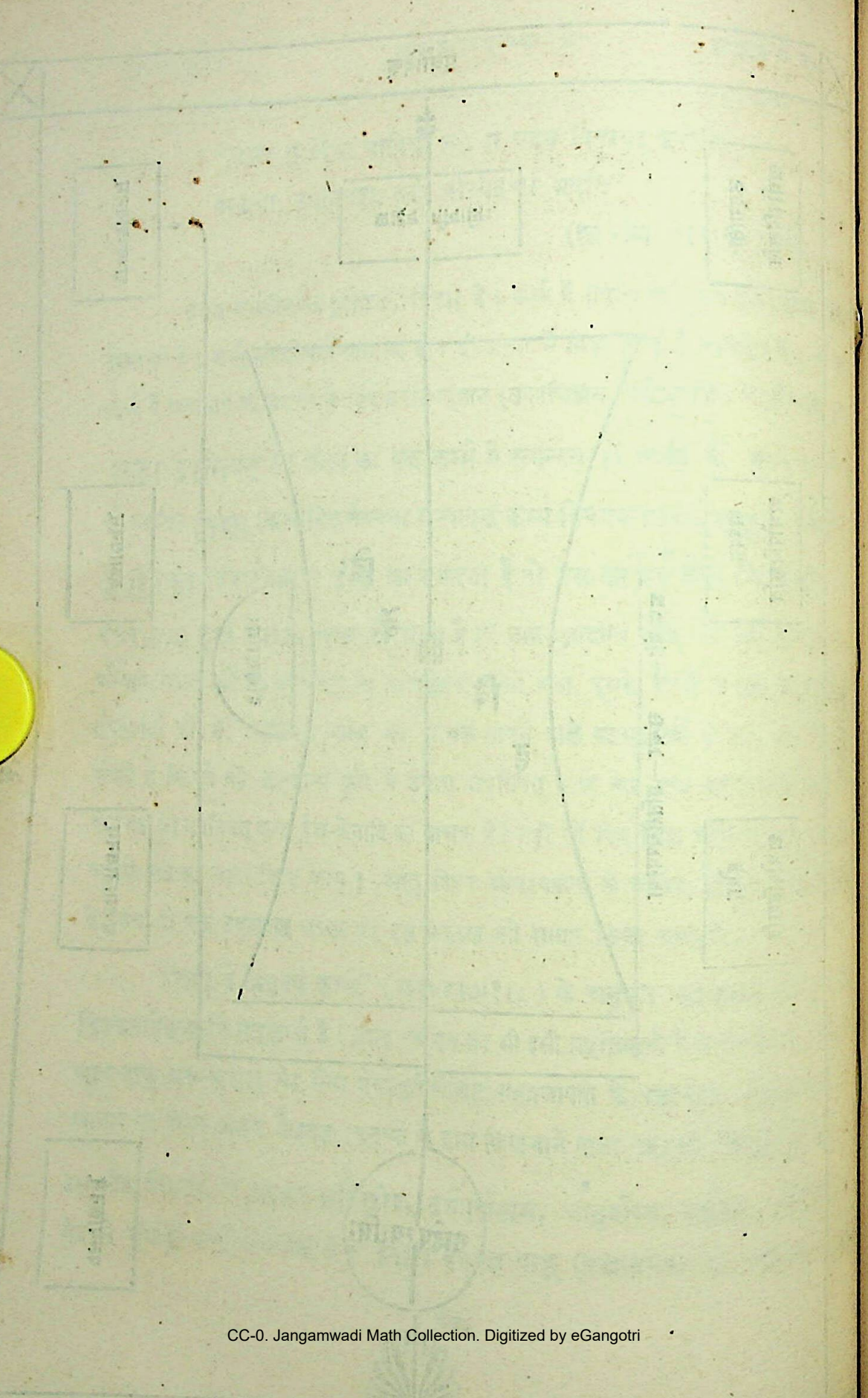
प्रश्न की उपनिषत् वही प्राकृतिक नित्य यज्ञ है। संवत्सराग्नि में पारमेष्ठ्य ऋतसोम की आहुति होती है। इसी से संवत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। अहोरात्र-पक्ष ऋतु-अयन संवत्सर भेद से उस अग्नीषोमात्मक यज्ञ के पांच पर्व हो जाते हैं। अहोरात्रयज्ञ ही "अग्निहोत्र" है। पक्षयज्ञ ही दर्शपूर्णमास है। ऋतुयज्ञ ही चातुर्मास्य है। अयनयज्ञ ही पशुबन्ध है। एवं संवत्सरयज्ञ ही ज्योतिष्टोम किंवा सोमयाग है। प्राकृतिक आधिदैविक नित्य यज्ञ की यही पांच विधा है। "देवाननु विधा वै मनुष्याः, यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" इत्यादि निगम सिद्धान्त के अनुसार उसी प्राकृतिक नित्ययज्ञ की प्रतिकृति (नक़ल) हमारा यह वैधयज्ञ है। अतएव प्रकृतिवत् यह भी पाङ्क्तमर्यादा से ही सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार हम क्यों पांच विधाओं का अनुगमन करें? इस प्रश्न की निवृत्ति उक्त नित्य यज्ञ की पाङ्क्तता से भलीभांति हो जाती है।

पूर्वोक्त पांचों यज्ञों में संवत्सरयज्ञ ही प्रधान है। सूर्य्य भगवान् ही इस यज्ञ के प्रवर्त्तक हैं। मनोताविभाग के अनुसार सूर्य्य में ज्योति-गौ-आयु यह तीन मनोता हैं। तीनों से क्रमशः देवता, भूत-आत्मा का विकास होता है। सूर्य्य का ज्योतिर्भाग देवप्राण की प्रतिष्ठा है, गौभाग भूततत्त्व की प्रतिष्ठा है, एवं आयुभाग आत्मा की आलम्बनभूमि है। इन्हीं तीनों सौर मनोताओं से क्रमशः ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम इन स्तोमयज्ञों की प्रवृत्ति होती है। इन तीनों में से प्रकृत में ज्योतिष्टोम की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। सूर्य्य में प्रधानरूप से सातरश्मियों का सम्बन्ध माना जाता है, जैसा कि निम्नलिखित श्रौत वचनों से स्पष्ट है।

१—"यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्त्तवे सप्तसिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥"
(ऋक्सं० २।१२।१२)।

२—"यस्सप्तरश्मिरिति—सप्त ह्येत आदित्यस्य रश्मयः" (जै०उ० १।२९।८)।

३—"स एष (आदित्यः) सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्" (जै०उ० १।२८।२)।

आत्मगतिविद्या के अनुसार इन्हीं सात रश्मियों के कारण शनिकक्षा से सम्बन्ध रखने वाले यमलोक के सात भेद हो जाते हैं। यही सात नरक हैं। इन्हीं के लिए भगवान् बादरायण

ने—"अपि च सप्त" (शा० द० ३।१।१५।) यह कहा है। आगे जाकर २८ नक्षत्रों के सम्बन्ध से ७ के २८ नरक होजाते हैं*। प्रकृत में इस प्रपञ्च से यही बतलाना है कि सप्तरश्मियों के कारण सौरज्योतिर्भाग भी सात ही भागों में विभक्त होजाता है। ऐसी स्थिति में नित्य सौर ज्योतिष्टोम यज्ञ सप्तसंस्थ बन जाता है। वैध सप्तसंस्थ ज्योतिष्टोम की उपनिषत् यही सप्तसंस्थ नित्य ज्योतिष्टोम यज्ञ है। इन सातों ही अग्निज्योतियों में पारमेष्ठ्य सोम की आहुति होती रहती है; अतएव इन सातों की समष्टिरूप ज्योतिष्टोम को **सोमयाग** कहा जाता है।

पुरुषार्थकर्म्मरूप सोमयज्ञ के अङ्गभूत **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य** में अन्न-सोम की आहुति होती है। यज्ञपरिभाषा में यज्ञियआहुतिद्रव्यरूप अन्न को "हवि" कहा जाता है। अत एव उक्त तीनों यज्ञों की समष्टि को 'हविर्यज्ञ" नाम से व्यवहृत किया जाता है। इसी को क्षुद्र (छोटा) यज्ञ होने से, एवं क्रत्वर्थकर्म्म होने से "इष्टि" शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है। पशु की हृन्मेदरूपा वपा भी सोममयी ही है। अतः तत्प्रधान **पशुबन्ध** को भी हम सोमयाग में अन्तर्भूत मान सकते हैं। एवं शुद्धरूप से उपलब्ध **सोमवल्ली** का सोमरस तो साक्षात् सोम ही है। इसी से ग्रहयज्ञापरपर्यायक **सोमयाग** निष्पन्न होता है। इस प्रकार **अन्नरस-वपा-वल्लीसोम** भेद से एक ही सोमयज्ञ **इष्टि-पशु-सोम** भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाता है। इसी आधार पर वैधयज्ञ के भी यही तीन विभाग मानलिए जाते हैं। इन तीनों वैधयज्ञों की उपनिषत् वेही तीनों प्राकृतिक यज्ञ हैं। इन तीनों वैधयज्ञों के लिए भिन्न भिन्न वेदिएं बनाई जातीं हैं। वे तीनों वेदिएं क्रमशः **हविर्वेदि-पाशुकवेदि-महावेदि** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन में मध्य की पाशुकवेदि में **विहृताग्नि** और होता है। इस की प्रतिष्ठा **शामित्रशाला** है। इसी में पशु का परिपाक होता है। पाशुकवेदि को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, हविर्वेदि एवं महावेदि के स्वरूप पर दृष्टि डालिए।

हविर्यज्ञ में यज्ञस्वरूपसंपादक **वेदि, आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीयागार, पत्नीशाला, गार्हपत्यागार, यजमान, यजमानपत्नी, होता, अध्वर्यु, उद्गाता,**

*इस विषय का विशदविवेचन श्राद्धविज्ञानान्तर्गत "आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्" में देखना चाहिए।

स्रुवा, इध्म, बर्हि, पुरोडाश, ध्रुवा, जुहू, उपभृत् इत्यादि सामग्रिएं होती हैं। इन्हीं सब के समन्वय से हविर्यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। इन सब की उपनिषत् (मौलिक उपपत्ति) के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। अतः प्रकृत में स्थालीपुलाकन्याय से एक दो विषयों की उपनिषदों पर ही प्रकाश डालना पर्याप्त होगा। वैध हविर्वेदि की उपनिषत् क्या है? इस प्रश्न के समाधान से पहिले वेदि का स्वरूप समझलेना आवश्यक होगा। हविर्वेदि का संक्षिप्त स्वरूप निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

परिलेख से यह स्पष्ट होरहा है कि वेदि का अंस (स्कन्ध) रूप अग्रभाग संकुचित है, एवं श्रोणिस्थानीय पश्चिमभाग विस्तृत है। वेदि के पूर्वभाग में प्रतिष्ठित आहवनीयकुण्ड चतुष्कोण (चौकोर) है। पश्चिमभागस्थ गार्हपत्यकुण्ड गोलाकार है। दक्षिणभागस्थ दक्षिणाग्निकुण्ड अर्द्ध-चन्द्राकार है। प्रश्न उपस्थित होता है कि हविर्यज्ञसंस्था का ऐसा स्वरूप क्यों? इस का उत्तर है "पुरुषयज्ञ"। पार्थिव नित्य हविर्यज्ञ से पुरुषसृष्टि (पार्थिवप्रजासृष्टि) होती है। पुरुष साक्षात् यज्ञ है। अन्नाहुति से रेत उत्पन्न हुआ है, रेत की आहुति से पुरुष उत्पन्न हुआ है—(देखिए तै० उपनिषत्)। इधर इस वैधयज्ञ द्वारा प्राकृतिक नित्ययज्ञवत् नवीन दिव्यपुरुष (दैवात्मा) उत्पन्न किया जाता है। नवीन दिव्यपुरुष ठीक पुरुष यज्ञ की प्रतिकृति है। अतएव जैसा स्वरूप इस यज्ञमूर्त्ति पुरुष का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इस वैधयज्ञ का बनाया जाता है। पुरुषयज्ञसंस्था में शिरोभाग (मस्तक) आहवनीयकुण्ड है। सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के लिए इसी आहवनीयाग्नि में सायं-प्रातः अन्नाहुति दी जाती है। दूसरे शब्दों में वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रिय सौर देवताओं के लिए शिरोरूप आहवनीयकुण्डस्थ मुखरूप आहवनीयाग्नि में ही अन्नरूप हवि की आहुति दी जाती है। आहुतिस्थान होने से ही पुरुष का शिरोभाग "आहूयते यत्रसोमः-(अन्नं)" इस निर्वचन के अनुसार आहवनीय नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः। पूर्वोऽर्धो वै शिरः।
पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्य कल्पयति" (शत० १।३।३।१२।)
"मुखमेवास्य (वैधयज्ञ य) आहवनीयः (अग्निः)" (शत० ३।५।३।२।)।

आहवनीयस्थानीय पुरुष का शिरोभाग वास्तव में चतुष्कोण है। **ललाटपटल** सामने का भाग है। दोनों कर्णपटिएं (कनपटिएं) पार्श्व के दो भाग हैं। एक पटल पृष्ठभाग में है। इस प्रकार मस्तक की चतुष्कोणता भलीभांति संपन्न होजाती हैं। यहां दिव्यसौरअग्नि (प्राणाग्नि) प्रतिष्ठित है। इसी उपनिषत् के आधार पर वैधयज्ञ में भी आहवनीयकुण्ड शरीर (धड़) रूप वेदि के पूर्व भाग में चतुष्कोण ही बनाया जाता है।

पार्थिवअग्नि की मूलप्रतिष्ठा **मूलाधार** (मूलग्रन्थि-ब्रह्मग्रन्थि) है। यह **कुण्डलिनी** के सम्बन्ध से गोलाकार है। इसी में मलाधिष्ठाता पार्थिव **अपानाग्नि** प्रतिष्ठित है। यह अग्निकुंड शरीर के पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित है। इसी उपनिषत् के आधार पर पुरुषयज्ञ के प्रतिकृतिस्वरूप इस वैधयज्ञ में भी शरीररूप वेदि के पश्चिम भाग में गोलाकार ही **गार्हपत्यकुण्ड** बनाया जाता है।

पुरुष के दक्षिणपार्श्व में चतुर्विध अन्नों का परिपाक करनें वाला **वैश्वानर** अग्नि प्रतिष्ठित हैं। यही स्थान आयुर्वेद में **"आमाशय"** नाम से प्रसिद्ध है। यहां प्रतिष्ठित रहने वाला अग्नि ही **"जाठराग्नि"** कहलाता है। यह अर्द्धभाग में, अर्द्धचन्द्राकाराकारित स्थान में ही प्रतिष्ठित है। दक्षिणाग्नि कुण्ड की यही उपनिषत् है। पुरुषप्रतिष्ठित जाठराग्निकुण्डवत् वैधयज्ञ में भी दक्षिणाग्निकुण्ड अर्द्धचन्द्राकार ही बनाया जाता है। पुरुषसंस्था में इस से अन्न का परिपाक होता है, अत एव तत् स्थानीय इस दक्षिणाग्नि में ही अन्नस्थानीय हविर्द्रव्य का परिपाक किया जाता है। इसी परिपाक सम्बन्ध से यह दक्षिणाग्नि **"श्रपणाग्नि"** नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस वैधयज्ञ से दैवात्मा की उत्पत्ति के लिए **प्रजनन** कर्म्म ही किया जाता है, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। प्रजननकर्म्म **योषा-वृषा** के दाम्पत्यलक्षण मिथुनभाव पर निर्भर है। इसी मिथुनसंपत्ति के लिए वेदि को **योषा** की प्रतिकृति मानागया है, एवं अग्नि को वृषा की प्रतिकृति माना गया है। योषाप्राणप्रधाना **स्त्री** वही उत्तम मानी जाती है, जिस का पश्चिमार्द्ध (श्रोणी प्रदेश-नितम्बप्रदेश) विपुल हो, एवं पूर्वार्द्धभाग संकुचित हो। क्योंकि वेदि योषात्मिका स्त्री की प्रतिकृति है, अतएव वेदि का श्रोणिस्थानीय पश्चिम प्रदेश विपुल बनाया जाता है, पूर्वप्रदेश

संकुचित बनाया जाता है । वेदि स्वरूप की इसी उपनिषत् का प्रतिपादन करती हुई ब्राह्मण-श्रुति कहती है—

"योषा वै वेदिर्वृषाग्निः । परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते । मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते । तस्मादभितोऽग्निमंसा ऽउन्नयति । सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्, मध्ये संह्वारिता, पुनः पुरस्तादुर्व्वी । एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति - पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा, मध्य सङ्ग्राह्या-इति" (शत० १।२।३।१५-१६-) ।

हमारे इस वैधयज्ञ की मूलभित्ति जहां पुरुष है, वहां पुरुषयज्ञ की उपनिषत् आधिदैविकयज्ञ है । आधिदैविक यज्ञ में भूपिण्ड गार्हपत्यकुण्ड है, इस में रहने वाला आङ्गिरस अग्नि ही गृहपति कहलाता है । दूसरे शब्दों में इस गृहपति अग्नि के सम्बन्ध से ही भूलोक गार्हपत्य कहलाता है । पुरुष की मूलग्रन्थि का इसी भूलोक से सम्बन्ध है । भूलोक वर्त्तुलवृत्तवत् है । अतएव मूलाधार संस्था भी वर्त्तुलवृत्तवत् ही है । पुरुष का मूलाधार क्यों गार्हपत्य कहलाता है? एवं वह वर्त्तुलवृत्तवत् क्यों है? इस की उपनिषत् यही भूलोक है ।

आन्तरिक्ष्य ऋताग्नि दक्षिणदिक् में प्रतिष्ठित है । यह अर्द्धभागावच्छिन्न होने से अर्द्धचन्द्राकाराकारित है । पार्थिव ओषधि-वनस्पति का परिपाक इसी ऋतात्मक दक्षिणाग्नि से होता है । पुरुष के दक्षिणभाग में उदररूप अन्तरिक्षलोक में यही अग्नि प्रतिष्ठित होता है । पुरुष का दक्षिणपार्श्वस्थ जाठराग्नि क्यों अर्द्धचन्द्राकाराकारित है? इसे अन्नाग्नि क्यों कहा जाता है? इस की उपनिषत् यही आन्तरिक्ष्य दक्षिणाग्नि है ।

द्युलोक आहवनीय है । खगोलीय ४ स्वस्तिकों के सम्बन्ध से यह चतुष्कोण है । इस में सौरसावित्राग्नि प्रतिष्ठित है । पारमेष्ठ्य सोम की इस में निरन्तर आहुति होती रहती है, अतएव इसे आहवनीयाग्नि कहा जाता है । पुरुष का शिरोभाग स्वस्वस्तिकभावयुक्त द्युलोक की प्रतिकृति होने से चतुष्कोण है, एवं इस में प्रतिष्ठित वही सौर अग्नि आहवनीयाग्नि है । पुरुष का मस्तक आहवनीयकुण्ड क्यों कहलाता है? इस की उपनिषत् यही द्युलोक है ।

मस्तक में चार कपाल प्रधान हैं। प्रत्येक में दो दो कपाल हैं। इस प्रकार सम्भूय आठ कपाल होजाते हैं। इन आठों कपालों के मध्य में मस्तिष्क (भेजा) रूप पुरोडाश प्रतिष्ठित रहता है। शिरोऽवस्थित प्राणदेवताओं में इस अष्टाकपाल पुरोडाश की निरन्तर आहुति रहती है। इसी उपनिषत् के आधार पर इस वैधयज्ञ में भी मृण्मय (मिट्टी के) आठकपालों में ही पुरोडाश का परिपाक किया जाता है, एवं शिरःस्थानीय आहवनीय में ही प्राकृतिक प्राणदेवताओं के लिए समन्त्रक स्वाहा पूर्वक इस पुरोडाश की अध्वर्युद्वारा आहुति दी जाती है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> "शिरो ह वाऽएतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाशः। स यान्येवेमानि शीर्ष्णः-
> कपालानि, एतान्येवास्य कपालानि। मस्तिष्क एव पिष्टानि।
> तद्वाऽएतदेकमङ्गम्। एकं सह करवाव, समानं करवावेति।
> तस्माद्वाऽएतदुभयं सह क्रियते" (शत० १।२।१।२।) इति ॥

इस प्रकार आधिदैविक (प्राकृतिक) यज्ञ आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुषयज्ञ) की उपनिषत् है, एवं आध्यात्मिक यज्ञ आधिभौतिकयज्ञ (मनुष्य कृत वैधयज्ञ) की उपनिषत् है। वैधयज्ञ का अमुक स्वरूप क्यों है? इस का उत्तर पुरुष है, पुरुष का अमुक स्वरूप क्यों है? इस का उत्तर आधिदैविकयज्ञ है। इस यज्ञ, एवं पुरुष यज्ञ की समता को लक्ष्य में रखकर ही-"पुरुषो वै यज्ञः" (शत० १०।२।१।२।) "पुरुषसम्मितो यज्ञः" (शत० ३।१।४।२३।) इत्यादि कहा जाता है।

आहवनीय चतुष्कोण ही क्यों होता है? वेदि के पूर्वभाग में ही वह क्यों प्रतिष्ठित किया जाता है? गार्हपत्य गोलाकार क्यों होता है? वेदि के पश्चिमभाग में ही इस का निर्म्माण क्यों होता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर वही पूर्वोक्ता पुरुषयज्ञोपनिषत् है। प्राकृतिक यज्ञविज्ञान हमें सिखलाता है कि आहवनीय पूर्व में ही बनाना चाहिए, एवं उसे चतुष्कोण ही रखना चाहिए। यदि इस से विपरीत किया जायगा तो यज्ञसंपत्ति विच्छिन्न होजायगी। इस प्रकार जब हम उपपत्ति द्वारा आध्यात्मिक एवं आधिदैविक यज्ञसंस्थाओं के वास्तविक रहस्य को जान लेते हैं तो यज्ञेति-

कर्त्तव्यता प्रतिपादक तत्तद् विशेष धर्म्मों पर हमारी दृढ आस्था होजाती है। प्राकृतिक नियमों के आधार पर व्यवस्थित विज्ञान सिद्धान्त हमें इन कर्म्मकलापेतिकर्त्तव्यता सम्बन्धी प्रकार विशेषों को नतमस्तक बनाकर माननें के लिए बाध्य कर देता है। जब हमें उपपत्ति ज्ञान होजाता है तो—"ऐसा ही क्यों करैं, हम भी मनुष्य हैं, ईश्वर ने हमें भी बुद्धि प्रदान की है? हम क्यों नहीं स्वबुध्यनुसार कर्म्म करैं" इस प्रकार की प्रतिनिवेशरूपा बुद्धि का स्वत एव निराकरण होजाता है, एवं पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ हम उस कर्त्तव्य कर्म्म में जुट जाते हैं। यह तो हुआ हविर्वेदि का संक्षिप्त विवेचन। अब चलिए सोमयाग सम्पादिका महावेदि की ओर।

"प्रकृतिसिद्ध नित्य हविर्यज्ञ से पुरुषयज्ञ का स्वरूप संपन्न हुआ है। एवं इस यज्ञमूर्ति पुरुष की प्रतिकृति (नकल) हमारा यह वैधयज्ञ है" यह कहा जाचुका है। इस प्रकृतिसिद्ध नित्य हविर्यज्ञ का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। याम्योत्तर (ध्रुवप्रोत दक्षिणोत्तर) रेखा को मध्यस्थ बना कर भूपिण्ड के ठीक मध्य में से भूपिण्ड के दो विभाग कर डालिए। इस विभाजन से भूपिण्ड का सूर्य्याभिमुख अर्द्धभाग सौरतेज से अनुगृहीत हो जायगा, एवं विरुद्धदिक्स्थ आधाभाग तमः प्रधान रह जायगा। भूपिण्ड का जो अर्द्धभाग सूर्य्य की ओर रहता है, उस में सूर्य्य से आने वाला प्रवृक्त (उच्छिष्ट) सौरतेज प्रतिष्ठित हो जाता है। बलवत् सौरतेज के आगमन से तद्देशावच्छिन्न पार्थिवआग्नेय तेज अपना स्वातन्त्र्य खो बैठता है। पृथिवी के प्रातिस्विक आग्नेयप्राण की स्वतन्त्र सत्ता तो सूर्य्य से विरुद्ध दिक् में रहने वाले अर्द्ध भूपिण्ड में ही रहती है। भूपिण्ड के दक्षिण भाग में आन्तरिक्ष्य वायव्य ऋताग्नि प्रतिष्ठित रहता है, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। इसी ऋताग्नि में उत्तरदिक्स्थ ऋतसोम की आहुति होनें से ऋतु का स्वरूप संपन्न होता है। इसी से ओषधि-वनस्पत्यादि अन्नों का परिपाक होता है। इस प्रकार भूपिण्ड भुक्त सौरप्राण, पार्थिव प्रातिस्विक आग्नेयप्राण, तिर्य्यक् बहने वाला दक्षिणस्थ याम्यप्राण इस रूप से एक ही भूपिण्ड में तीन स्थितिएं हो जाती हैं। सम्पूर्ण भूपिण्ड हविर्वेदि है। सूर्य्याभिमुख रहनें वाला सौरतेजोमय अर्द्धभूपिण्ड आहवनीयकुण्ड है। स्वस्तिक भावयुक्त सौरतेज के सम्बन्ध से इसे भी चतुष्कोण ही माना गया है। इस में प्रतिष्ठित सौर

अग्नि आहवनीयाग्नि है। सूर्य्यविरुद्धदिक् में प्रतिष्ठित अर्द्धभूपिण्ड गार्हपत्यकुण्ड है। प्रातिस्विक भू तत्व की प्रधानता से इसे वर्त्तुल वृत्त माना गया है। इस में प्रतिष्ठित पार्थिव प्रातिस्विक अग्नि गार्हपत्याग्नि है। दक्षिणस्थ याम्याग्निमण्डल दक्षिणाग्निकुण्ड है, तत्र प्रतिष्ठित ऋताग्नि दक्षिणाग्नि, किंवा अपणाग्नि है। यह है हविर्यज्ञसंस्था का संक्षिप्त निदर्शन, एवं हविर्वेदिका स्वरूप निदर्शन। इसी की प्रतिकृति पुरुष है। पुरुष का सर्वाङ्ग शरीर हविर्वेदि है। उधर सम्पूर्ण भूपिण्ड हविर्वेदि है। दोनों में आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि आदि की व्यवस्था समान है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

"अग्निर्भूस्थानः" (या०निरुक्त.........) के अनुसार भूपिण्ड अग्निमय है, अग्निप्रधान है। यह अग्निपदार्थ भूत एवं प्राण भेद से दो प्रकार का माना गया है। इन दोनों में भूताग्नि मरणधर्म्मा है, प्राणाग्नि अमृतभावापन्न है। भूताग्नि से भूपिण्ड का निर्माण हुआ है, एवं प्राणाग्नि से भूमहिमा का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला प्राणाग्नि ही भूपिण्ड से बाहर निकल कर अपने विशकलन स्वभाव से भूपिण्ड से बड़ी दूर तक, भूपिण्ड के चारों ओर एक विस्तृत मण्डलरूप में परिणत होता है। जहां तक इस पार्थिव अमृताग्निरूपप्राणमण्डल की व्याप्ति रहती है, वहां तक महिमामय पृथिवीलोक की सत्ता मानी जाती है। सामरूप प्राणमण्डल की समाप्ति ही ऋग्रूपा भूपिण्ड की समाप्ति है। अत एव उक्त साममण्डल की अन्तिम सीमा को उद्गचसाम एवं निधनसाम नामों से व्यवहृत किया गया है। वैज्ञानिक महर्षियों का यह पूर्णपरीक्षित सिद्धान्त है कि भूगर्भ से निकला हुआ पार्थिव प्राणाग्नि पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर स्थित सूर्य्य पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है। वहीं तक अग्निप्रधाना पृथिवी की सत्ता मानी गई है। सूर्य्य देवता इस महिमामण्डल से संसृष्ट है। दूसरे शब्दों में पृथिवी (प्राणमयी अमृतापृथिवी) सूर्य्य के साथ संलग्न है। सप्तद्वीप विभाग क्रम के अनुसार महिमापृथिवी का अन्तिम भाग पारमेष्ठ्य आपोमय पुष्करपर्ण के सम्बन्ध से "पुष्करद्वीप" नाम से प्रसिद्ध है। *पुराण के मतानुसार पृथिवी के इसी पुष्करद्वीप में सूर्य्य

* पृथिवी के सात द्वीप, सात लोक, सात पाताल, सात समुद्र, सात वायु, सात आकाश

भगवान् प्रतिष्ठित हैं। "अत्र ह वा (पृथिव्यां असावग्र आदित्यआस" (शत० ४।२।४।५।८।) यह श्रौत सिद्धान्त ही उक्त पुराणसिद्धान्त का मूल आधार है।

पूर्व कथन से यह सिद्ध होजाता है कि पृथिवीविवर्त्त भूपिण्ड एवं भूमण्डल भेद से दो भागो में विभक्त है। भूपिण्ड जहां हविर्वेदि है, वहां महिमामय भूमण्डल महावेदि है। पृथिवी वेदि है, महापृथिवी महावेदि है। हविर्वेदि में आहुति द्रव्य अन्नरूप हवि है, इस से हविर्यज्ञ संपन्न होता है। महावेदि में आहुति द्रव्य सोमतत्त्व है, इस से सोमयाग निष्पन्न होता है। यही महावेदि स्तौम्यत्रिलोकी, उख्यात्रिलोकी, पुष्करपर्ण, आदि विविध नामों से व्यवहृत हुई है। इसी के लिए–"यावती वै वेदिस्तावतीपृथिवी" (शत० ३।७।२।१।) यह कहा गया है। इस महावेदिरूपा महापृथिवी में वषट्कारविज्ञान के अनुसार ३३ अहर्गण माने गये हैं। इन में आरम्भ के १६ अहर्गणपर्यन्त प्राणाग्नि की प्रधानता है, एवं १७ से ऊपर ३३ वें अहर्गणपर्यन्त अमृतसोम का साम्राज्य है। मध्य के १७ वें अहर्गण में अग्नि-सोम दोनों का समन्वय होता है। दूसरे शब्दों में सत्रहवें अहर्गण में स्थित पार्थिव अमृताग्नि में १७ से ऊपर रहने वाला सोम निरन्तर आहुत होता रहता है। इसी सोमाहुति के सम्बन्ध से यह सप्तदशस्थान–"आहवनीय" नाम से प्रसिद्ध है। इस दाह्यसोमाहुति के प्रभाव से ही दाहक पार्थिव अग्नि प्रज्ज्वलित होकर २१ वें अहर्गणपर्यन्त व्याप्त होजाता है। यही यज्ञमूर्त्ति वामनविष्णु का त्रिविक्रम है। जैसा कि शतपथविज्ञानभाष्यादि में स्पष्ट कर दिया गया है। २१ वें अहर्गणपर्यन्त वितत उस महावेदि के गर्भ में १५ वें अहर्गण से आरम्भ कर २१ वें अहर्गणपर्यन्त एक स्वतन्त्र स्थान माना गया है। इसी प्रदेश को "उत्तरावेदि" कहा जाता है। महावेद्यन्तर्गत इस उत्तरावेदि का १७ हवां स्थान ही आहवनीयकुण्ड है। वेदि की अन्तिम सीमा पर प्रतिष्ठित अथर्ववेदीयस्कम्भ की प्रतिष्ठा रूप सूर्य्य इस प्राकृतिक सोमयाग का "यूप" है। यही सूर्य्यरूप यूप प्राकृतिकयज्ञ पुरुष की शिखा है। इसी उपनिषत् के आधार पर यज्ञप्रभव द्विजातिमात्र को अपने आप को यज्ञपुरुषरूप समझने की भावना दृढ करने के लिए शिखा रखने का आदेश है।

कौन से हैं? वे इस भूपिण्ड पर ही हैं, अथवा अन्य किसी लोक में? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए– "पुराणरहस्य" नामक ग्रन्थ देखना चाहिए।

सप्तदशस्तोमावच्छिन्न आहवनीय से नीचे की ओर आठ प्रकार का आन्तरिक्ष्यधिष्ण्याग्नि (नाक्षत्रिकाग्नि) प्रतिष्ठित है। १७ से ऊपर के आकाशायतनरूप कलश में सोमरस भरा हुआ है। यही इस नित्ययज्ञ का हविर्द्धानमण्डप है। १५ वें अहर्गण से नीचे, एवं ९ वें अहर्गण से ऊपर के प्रदेश में बलप्रद वायुमूर्त्ति ऊर्क्रस भरा हुआ है। उक्त धिष्ण्याग्नि की प्रतिष्ठा यही स्थान है। यही स्थान इस प्राकृतिक यज्ञ का सदोमण्डप है। पूर्वोक्त सोमाहुति के अधिष्ठाता क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-बृहस्पति नामक चार प्राणदेवता हैं। पार्थिवाग्नि के द्वारा ही दिव्यदेवताओं का (सौर प्राण का) आहवनीय से सम्बन्ध होता है। अत एव अग्नि को देवताओं का आह्वाता (आह्वान-कर्त्ता-बुलाने वाला) माना गया है। आह्वाता अग्नि ही इस यज्ञ के होता नाम के ऋत्विक् है। गतिधर्म्मा वायु के द्वारा ही सोमाहुति से प्राणदेवताओं का यजन होता है, वायु की प्रेरणा से ही सोम आहवनीय में आहुत होता है। इसीलिए वायुदेवता इस नित्ययज्ञ के (आहुति देने वाले) अध्वर्यु हैं। आदित्य (इन्द्रनाम से प्रसिद्ध सौर दिव्यप्राण) द्वारा आहवनीय में आहुतिसोम ज्योतिरूप में परिणत होकर इस ज्योतिर्भाग का संपूर्ण त्रैलोक्य में वितान होता है। वितान ही गान है। इसी आधार पर सामगान के प्रवर्त्तक आदित्यदेवता इस नित्य यज्ञ के उद्गाता माने गये हैं। बृहस्पति नामक ब्रह्म के द्वारा उक्त सब ऋत्विजों का सञ्चालन होता है, अत एव बृहस्पति इस यज्ञ के ब्रह्मा माने गये हैं।

पूर्वोक्त भूपिण्ड (जिस में कि अग्नित्रयोपेता हविर्यज्ञ संस्था सर्वात्मना प्रतिष्ठित है) इस महावेदि का गार्हपत्य बन जाता है। दूसरे शब्दों में सूर्य्य सम्मुख रहने वाला, अतएव सौर-प्राण से युक्त भूपिण्ड का आहवनीयरूप अर्द्धभाग इस महावेदि का गार्हपत्य मान लिया जाता है। इसी महायज्ञ से सम्पूर्णविश्व (स्तौम्यत्रैलोक्य) का सञ्चालन हो रहा है। यह तो हुई आधिदैविकयज्ञसंस्था की निरुक्ति। अब क्रम प्राप्त आध्यात्मिक महायज्ञ को भी सामने रख लीजिए।

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि पुरुष का शिरोभाग हविर्यज्ञोपनिषत् के अनुसार आहवनीय है। आहवनीयरूप शिरोभाग से आरम्भ कर सूर्य्यकेन्द्रपर्य्यन्त एक नियत मार्ग में सौरप्राण की व्याप्ति रहती है। एक निमेष (पलक) में जितना समय लगता है, उतने समय में

पुरुष का यह विद्युन्मूर्त्ति आयुस्स्वरूपरक्षक सौरप्राण अपने प्रभव सूर्य्यस्थान के साथ तीन बार सम्बन्ध करता है। पुरुष के ब्रह्मरन्ध्र से सूर्य्यरन्ध्र पर्य्यन्त एक नियत मार्ग बना हुआ है। इसी मार्ग को उपनिषदों नें "महापथ" नाम से व्यवहृत किया है। प्रत्येक पुरुष के स्वस्वस्तिक के साथ यह महापथ नियत, एवं सर्वथा विभक्त है। इस महापथ को ही आध्यात्मिक यज्ञ की महावेदि समझना चाहिए। साथ ही में इस में भी वह संस्थाविभाग ठीक वैसा ही समझना चाहिए, जैसा कि महायज्ञ में था। सौरसंस्था में प्रतिष्ठित सोम इस में निरन्तर आहुत होता रहता है। इसी यज्ञ के प्रभाव से पुरुष शिरोभागस्थित दिव्यप्राण महापथात्मिका महावेदि के द्वारा निरन्तर सूर्यकेन्द्र से बद्ध रहता हुआ, सूर्य्य में रहने वाले आयुतत्व को प्राप्त करता हुआ जीवनधारण में समर्थ रहता है। आयुसूत्र विच्छेदक, अवसानलक्षण याम्यवायु के आक्रमण से जिस दिन उक्त सम्बन्ध विच्छिन्न होजाता है, उसी क्षण आयुसूत्र के टूट जाने से पुरुष का आयुर्म्मय आत्मा अध्यात्मसंस्था से उत्क्रान्त होजाता है, यही इस आध्यात्मिक यज्ञ का अवसान काल है। यह यज्ञ जीवनपर्यन्त निरन्तर होता रहता है, अतएव इसे "अहरहर्यज्ञ" कहा जाता है। इसी यज्ञ के प्रभाव से प्रत्येक पुरुष का इन्द्रप्राण स्वर्गोपलक्षित सूर्य्य के साथ प्रतिक्षण सम्बन्ध करता रहता है। इसीं नित्य प्रतिष्ठित आयुर्मूलक अहरहर्यज्ञका स्वरूप निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते। अहरहः सन्तिष्ठते। अहरहरेनं-
स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते। अहरहरेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति"
(शत० ९।४।४।१५।) इति।

उक्त प्राकृतिक आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक यज्ञ के आधार पर ही हमारे इस आधिभौतिक वैध ज्योतिष्टोम का वितान होता है। यहां प्रकृतिवत् महावेदि हविर्वेदि से संलग्न ही बनाई जाती है। महावेदि के गर्भ में ही उत्तरावेदि का निर्म्माण होता हैं। वहीं आहवनीय बनाया जाता है। प्रकृतिवत् यहां भी हविर्वेदि के आहवनीय को इस महावेदि का गार्हपत्य माना जाता है। यही याज्ञिक परिभाषा में "नूतनगार्हपत्य" नाम से प्रसिद्ध है। एवं हविर्वेदिका गार्हपत्य "पुराणगार्हपत्य" नाम से व्यवहृत किया जाता है। ऊर्ध्वस्थान में यहां उदुम्बरी (गूलर

की शाखा) है। धिष्ण्याग्नि के स्थान में आठ धिष्ण्याग्निएं हैं। हविर्द्धानमण्डपस्थ सोम के स्थान में सोमांशु (सोमवल्ली के खण्ड) हैं। सूर्य्य के स्थान में महावेदि के अन्त में (सर्वान्त में) काष्ठ का यूप है। ऋङ्मय अग्नि, यजुर्मय वायु, साममय आदित्य, वेदत्रयीमय बृहस्पति के स्थान में यहां भी ऋग्वेदीहोता, यजुर्वेदीअध्वर्यु, सामवेदी उद्गाता, त्रैविद्यब्रह्मा नाम के यज्ञस्वरूप सम्पादक चार ऋत्विक् हैं। पार्थिवप्रजापति के स्थान में यज्ञफलभोक्ता सपत्नीक यजमान है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि जैसा वहां है, ठीक वैसा ही यहां है। हविर्वेदि का आहवनीय महावेदि संस्था में गार्हपत्य क्यों मानलिया जाता है? यूप सब के अन्त में ही क्यों प्रतिष्ठित किया जाता है? हौत्र – आध्वर्यव – औद्गात्रादि कर्म्म होता–अध्वर्यु–उद्गाता द्वारा ही क्यों कराए जाते हैं? धिष्ण्याग्नि की प्रतिष्ठा सदोमण्डप में ही क्यों की जाती है? यहीं उदुम्बरी क्यों खड़ी की जाती है? इत्यादि सारे प्रश्नों का एकमात्र समाधान वही पूर्वप्रतिपादिता नित्ययज्ञमूला यज्ञोपनिषत् है। हम अपनी ओर से मनमाना कुछ नहीं करते, अपितु प्रकृतिमण्डल में होने वाले नित्य यज्ञ में नित्य प्राणदेवता जैसा कुछ कर रहे हैं, अपने वैधयज्ञ में हम ठीक वैसा ही कर रहे हैं–"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" (शत० ३।१।१) "देवानां वै विधामनु मनुष्याः (शत० ६।७।४।९)। जो महानुभाव उक्त उपनिषद्विज्ञान को समझने में असमर्थ रहते हुए, अभिनिवेश में पड़ कर पूर्वोक्त सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए श्रुतिस्मृति सम्मत प्राचीन पद्धतिपथ का तिरस्कार करते हुए, यज्ञ को एकमात्र हवाफिल्टर का ही साधक समझते हुए नवीन नवीन मनमानी पद्धतिएं गढनें का साहस कर वैठते हैं, उन उच्छृंखल पथभ्रष्ट यज्ञाभिमानियों का वह यज्ञ कर्म्म–"व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषम्" (शत० १।४।१।३५) इस के अनुसार मानुषभाव के समावेश से सर्वथा समृद्धि रहित बनता हुआ इष्टजनकता के स्थान में अभ्युदय नाश का कारण बनजाता है। यज्ञ की प्रत्येक इतिकर्त्तव्यता की उपनिषत् सुदृढ भित्ति पर प्रतिष्ठित है। उस से विरोध करना प्रकृति से विरोध करना है। अस्तु उक्त सन्दर्भ से प्रकृत में हमें यही वतलाना है कि कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थ में तत्तत्कर्मों के साथ साथ ही 'विज्ञानोपनिषत् का उल्लेख रहता है।

प्रत्येक कर्म्म सोपपत्तिक ही निरूपित हुआ है। इन्हीं सब कारणों से विज्ञानानुमोदित, अत एव सत्यप्रतिपत्ति के हेतुभूत निश्चित सिद्धान्त को ही हम उपनिषत् पदार्थ का अवच्छेदक माननें के लिए तय्यार हैं। साथ ही में इस उपनिषत् का कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थ के साथ घनिष्ट सम्बन्ध मानना न्यायसंगत हो जाता है।

इति-ब्राह्मणग्रन्थेषु - उपनिषच्छब्दसमन्वयः

१

———•———

८—आरण्यक में उपनिषत्*

ब्राह्मणभाग से सम्बन्ध रखने वाले उपनिषत्तत्व का दिग्दर्शन कराया गया। अब क्रमप्राप्त **आरण्यकग्रन्थ** के साथ रहने वाले उपनिषत्तत्व के सम्बन्ध का संक्षेप से विवेचन किया जाता है। अध्यात्मविद्यात्व को ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक माननें वाले स्वयं प्राचीनों ने भी आरण्यक के साथ उपनिषत् शब्द का सम्बन्ध माना है। भगवान् शङ्कराचार्य ने वेदान्त भाष्य में एक स्थान पर—"अरण्यमियान्नपुनरेयात्-इत्युपनिषत्" (शा०सू०शां०भाष्य……………) यह कहा है। ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-सन्यास भेद से आश्रममर्यादा चार भागों में विभक्त है। "सम्यग्रूप से **ब्रह्मचर्याश्रम** के अनुष्ठानानन्तर यथाकालप्राप्त **गृहस्थाश्रम** का अनुष्ठान करने के पश्चात् एक गृहस्थी **वानप्रस्थाश्रम** के अनुष्ठान के लिए सर्वपरिग्रहों को छोड़कर जब एक बार आरण्यगामी बन जाय, (जङ्गल में चला जाय) तो फिर उसे (अरण्य से) वापस नहीं लौटना चाहिए" पूर्व वाक्य का यही फलितार्थ है। प्राचीनों के मतानुसार ब्राह्मणभाग का गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध है, आरण्यक भाग का वानप्रस्थाश्रम से, एवं उपनिषद्भाग का संन्यासाश्रम से सम्बन्ध है। परन्तु पूर्ववाक्य आरण्यक के साथ भी ("इत्युपनिषत्" यह कहता हुआ) उपनिषत् का सम्बन्ध बतलाता हुआ उन के स्वीकृत मत को छिन्न भिन्न कर डालता है। "एक बार जङ्गल में जाकर वापस लौटने से आत्मसंकल्प में शिथिलता आजाती है, आश्रममर्यादा भङ्ग हो-जाती है। वानप्रस्थाश्रम की उपनिषत् (मौलिक सिद्धान्तभित्ति) तो यही है कि एक बार चला गया सो चला गया। यदि वह पुनः वापस लौटता है तो वानप्रस्थसम्बन्धी आरण्यकोपनिषत् के विरुद्ध जाता है।" उक्त वाक्य का यही तात्पर्य्यार्थ है। इस तात्पर्य्यार्थ से पाठकों को मान लेना पड़ेगा कि स्वयं प्राचीनों नें भी उपनिषत् शब्द का प्रयोग कई स्थानों में मौलिक विज्ञान सिद्धान्त के अभिप्राय से किया है।

अपिच पूर्वकथनानुसार—"नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदो तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" इत्यादि रूप से स्थान स्थान पर श्रुतियों नें कर्म्ममात्र के साथ उपनिषत् का सम्बन्ध माना है। कार्यकारणरहस्यज्ञान विद्या है, कार्य के साथ जिस अथर्वा-

सूत्रद्वारा आत्मा का सम्बन्ध होता है, वही श्रद्धा है, एवं तन्मूलभूत कार्य का फल के साथ सम्बन्ध परिज्ञान ही उपनिषत् है। धारणा-ध्यान-समाधि इन तीनों के एकत्र संयम से जैसे योगज सिद्धि प्राप्त होती है, इसी प्रकार विद्या-श्रद्धा-उपनिषत् इन तीनों के समन्वय से जो कर्म्म किया जाता है, वह वीर्यवत्तर बनता हुआ अवश्य ही सफल होता है। आप (प्राचीन) कहते हैं—"उपनिषत् शब्द अध्यात्मविद्या में ही निरूढ है"—उधर श्रुति के कथनानुसार उपनिषत् का ज्ञान साधारण के साथ सम्बन्ध है। दोनों में से किस का सिद्धान्त प्रामाणिक माना जाय, इस का निर्णयभार उन प्राचीनों पर ही छोड़ा जाता है। हम तो निःसन्दिग्धरूप से इस सम्बन्ध में यह कहने के लिए तय्यार हैं कि उपनिषत् शब्द लोक-वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण भावों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। साधारण से साधारण मनुष्य का कर्म्म भी कोई न कोई उपनिषत् रखता है। पाश्चात्यभाषा में जिस के लिए 'प्रिन्सिपिल' (Principle) शब्द प्रयुक्त हुआ है, यावनीभाषा जिस अर्थ में 'उसूल' शब्द प्रयुक्त करती है, छन्दोभाषा (वेदभाषा) में उसी अर्थ में "उपनिषत्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रत्येक कर्म्म का कोई न कोई प्रिन्सिपिल होता है, उसूल होता है, उपनिषत् होती है। प्रिन्सिपिल के आधार पर किया हुआ कर्म्म, किंवा उसूल के आधार पर किया हुआ कर्म्म ही सुप्रतिष्ठित बनता हुआ सफल होसकता है, यह कौन नहीं जानता।

इसप्रकार—"यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया उपनिषदा०"—"अरण्यमियात् पुनरेयादित्युपनिषत्"—"तस्योपनिषदहरिति, तस्योपनिषदहमिति" (बृ०आ०उ०६।५।) इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों के आधार पर प्रतिष्ठित—"तत्तत् कर्म्मेति कर्त्तव्यताविशेषोपपादकविज्ञानसिद्धान्त में ही उपनिषत् शब्द निरूढ है" यह सिद्धान्त पूर्व के सन्दर्भ से भली भांति सिद्ध होजाता है। यह सब कुछ होने पर भी अभी इस सम्बन्ध में एक आक्षेप और बच जाता है। उस का निराकरण कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

इति—आरण्यकग्रन्थेषु-उपनिषच्छब्दसमन्वयः

२

च—उपनिषत् में उपनिषत्*

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक निगमशास्त्र के चिरकाल से १-संहिता, २-विधि, ३-आरण्यक, ४-उपनिषत् यह चार विभाग चले आरहे हैं। विज्ञान-स्तुति-इतिहास-प्रतिपादक संहिताभाग को छोड़ कर शेष तीनों क्रमशः कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड के प्रतिपादक माने जाते हैं। उपनिषत् शब्द सदा सर्वदा से वेद के अन्तिम भाग में ही प्रयुक्त देखा एवं सुना जाता है। इसी आधार पर औपनिषत् ज्ञान को वेदान्त दर्शन ने "वेदान्त" (वेद का अन्त भाग) नाम से व्यवहृत किया है। "सर्वे वेदान्ता व्याख्याताः" इस सुप्रसिद्ध वाक्य का—"सर्वा उपनिषदो व्याख्याताः" यही अर्थ समझा जारहा है। व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, लौकिकव्यवहार इन पांचों शक्तिग्राहकों में–"शक्तिग्राहक शिरोमणेर्लोकव्यवहारस्य" इस सिद्धान्त के अनुसार वृद्धव्यवहार रूप लोकव्यवहार को ही शक्तिग्राहकता में विशेष महत्त्व दिया गया है। एवं उपनिषत् शब्द के सम्बन्ध में यह लौकिक वृद्धव्यवहार ज्ञानकाण्डप्रतिपादिका अध्यात्मविद्या को ही एकमात्र उपनिषत् का अवच्छेदक बतला रहा है। ऐसी अवस्था में सर्वसम्मत, एवं सर्वमान्य उक्त लोकव्यवहार के सर्वथा विरुद्ध विज्ञानसिद्धान्त को उपनिषत् का अवच्छेदक बतलाना कैसे सङ्गत हो सकता है? फलतः उपनिषत् पदार्थ के अवच्छेदक के सम्बन्ध में बतलाया गया पूर्व का सन्दर्भ केवल कल्पना ही रह जाती है" पूर्व प्रतिपादित उपनिषदर्थ के सम्बन्ध में यही आक्षेप हमारे सामने उपस्थित होता है। आक्षेप यथार्थ है। यदि साधारण विषय होता तो ऐसी स्थूलअविद्या (मोटी भूल) को स्थान ही नहीं मिलता। "उपनिषत् वेद का चौथा भाग है, उपनिषद्ग्रन्थ वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषच्छास्त्र अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक है। इस सनातन व्यवहार का न तो आज तक किसी ने विरोध किया, न इस सिद्धान्त का आज ही विरोध हो रहा, न भविष्य में ही इस सर्वसम्मत वृद्धव्यवहार का विरोध करने का कोई साहस कर सकता। हम स्वयं उपनिषद्ग्रन्थों को अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक मान रहे हैं, जैसा कि पूर्व के मङ्गलरहस्य में विशद रूप से बतलाया जाचुका है—(देखिए उ०भा०भू०मं०र०पृ०सं० ३।……)। साथ ही में पूर्व की विज्ञानदृष्टि में अब तक कहीं यह कहा भी नहीं है कि उपनिषद्ग्रन्थ अध्यात्मविद्या के

प्रतिपादक नहीं हैं। हैं—और अवश्य हैं। हमारा विरोध तो केवल अध्यात्मविद्यात्व को ही उपनिषत् का पदार्थतावच्छेदक माननें के साथ है। उपनिषदों में अध्यात्मविद्या है, यह दोनों को सम्मत है। विरोध केवल आंशिकरूप से है। आप के विचारानुसार अध्यात्मविद्या ही उपनिषत् है, हम अध्यात्मविद्या के साथ भी उपनिषत् शब्द का सम्बन्ध मानते हैं। पूर्व कथनानुसार विज्ञानशास्त्र की सम्मति से विज्ञानसिद्धान्त को ही उपनिषत् शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। चाहे वह विज्ञान सिद्धान्त आत्मविद्या सम्बन्धी हो, अर्थ विद्या का मूलाधार हो, अथवा कर्म्मविद्या की प्रतिष्ठा हो। "यदि उपनिषत् शब्द की विज्ञानसाधारण में ही प्रवृत्ति है तो फिर अध्यात्मविद्याप्रतिपादक वेद का चौथा भाग ही उपनिषत् शब्द से क्यों व्यवहृत हुआ, विज्ञान सिद्धान्त से प्रतिपद पर सम्बन्ध रखने वाला वेद का ब्राह्मणभाग, एवं आरण्यक भाग उपनिषत् शब्द से क्यों व्यवहृत नहीं हुआ"? बस इस सम्बन्ध में अब एकमात्र यही प्रश्न शेष रह जाता है। इस के समाधान के लिए निम्न लिखित पङ्क्तियों पर ध्यान देना आवश्यक होगा।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के ब्राह्मणभाग के विधि—आरण्यक—उपनिषत् यह तीन प्रसिद्ध विभाग हैं, जैसा कि पूर्व की प्राचीनदृष्टि में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इन तीनों में जो पहिला विधि भाग है, वही आज दिन विद्वत् समाज में 'ब्राह्मण" नाम से प्रसिद्ध है। विधि आज्ञामात्र है। "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"—"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" इत्यादि रूप से ब्राह्मणभाग में अनुज्ञाधारा प्रवाहित रहती है, अतएव इसे "विधि" नाम से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत होता है। यह विधिश्रुतिएं आरभ्याधीता, अनारभ्याधीता, सामान्या भेद से तीन भागों में विभक्त हैं।

सम्पूर्ण कर्म्मकलाप क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ भेद से दो भागों में विभक्त है। यज्ञकर्म्म पुरुषार्थकर्म्म है, यज्ञस्वरूपसंपादक यज्ञार्थकर्म्म क्रत्वर्थकर्म्म हैं। क्रत्वर्थकर्म्मों से प्रधान कर्म्म सुसंपन्न होता है। प्रधान कर्म्म से स्वर्गादि फलों की प्राप्ति होती है। यह प्रधान कर्म्म यज्ञकर्त्ता यजमान पुरुष का स्वर्गादि फलों के साथ सम्बन्ध कराता है, अभीष्टार्थ को संपन्न करता है, अत

एव यह कर्म्म पुरुषार्थ कहलाता है। प्रधान कर्म्मरूप इस पुरुषार्थकर्म्म का आदेश करने वाली श्रुति ही "अनारभ्याधीता" नाम से व्यवहृत होती है। एवं क्रत्वर्थकर्म्म का आदेश करने वाले विधिवचन "आरभ्याधीन" नाम से प्रसिद्ध हैं। एक में स्वर्ग इष्ट है, दूसरे में लिङर्थ इष्ट है। किसी कर्म्म के आरम्भक्रम के (सिलसिले के) बिना जो विधि हमारे सामने आती है, वह स्वतन्त्ररूप से विहित होती हुई "अनारभ्याधीता" कहलाती है। उदाहरणार्थ—"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इत्यादि विधिश्रुतिएं किसी कर्म्म के अङ्गों की परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। अपितु यह दर्शपूर्णमास-ज्योतिष्टोम-सन्ध्योपासन आदि स्वतन्त्र (अङ्गीकर्म्म) कर्म्मों का आदेश करतीं हैं। ऐसे विधिवचन किसी अन्य कर्म्म के अङ्गभाव का प्रतिपादन नहीं करते, अपितु प्रधान कर्म्मस्वरूप पुरुषार्थ का ही निरूपण करते हैं। यजमान जिस इष्ट (अभिलषितफल) की प्राप्ति के लिए यज्ञ करता है, उक्त श्रुतियों का उसी इष्ट के साथ सम्बन्ध है।

उपर्युक्त अनारभ्याधीत विधिवाक्यों के प्रकरण में (अनारभ्याधीत विधि कर्म्मों के स्वरूप संपादक) मध्य मध्य में ओर ओर जो विधिवाक्य आजाते हैं, वे सब 'आरभ्याधीत' नाम से प्रसिद्ध हैं। अनारभ्याधीत विधिवाक्यों के आरम्भ होजानें पर इन के मध्य मध्य में यथावसर अवान्तरकर्म्मद्योतक इन विधि वाक्यों का आरम्भ होता है, अत एव अङ्गकर्म्म सूचक यह अवान्तर मध्यपतित विधिवचन 'आरभ्याधीत' नाम से व्यवहृत हुए हैं। दूसरे शब्दों में प्रधानकर्म्म के आरम्भ में पढ़ेजानें के कारण भी इन वचनों को आरभ्याधीत कहा जासकता है। उदाहरणार्थ "दध्ना जुहोति"—"अपउपस्पृशति"—"अपः प्रणयति"—प्रवराय आश्रावयति"—"गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति"—"पवित्रे करोति"—"स्रुचौ सम्मार्ष्टि" वषट्कृते जुहोति"-'सान्तपनेभ्यो मरुद्भ्यः सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति" यह सब आरभ्याधीत विधिवचन हैं। इन सब से दर्शपूर्ण मासादिरूप अनारभ्याधीत कर्म्मों का स्वरूप निष्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में हम इन आरभ्यातीत कर्म्मों को अवश्य ही क्रत्वर्थकर्म्म कह सकते हैं। "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य में जो लिङर्थ है, उसकी इतिकर्त्तव्यता पूरी करने के लिए ही उक्त

आरभ्याधीत विधिवचन प्रवृत्त होते हैं। पानी से आचमन करना, अपां प्रणयन करना, गार्हपत्य में हवि का परिपाक करना, पानी में कुशा डालना, यह सब अङ्गकर्म्म हैं। इन के संपन्न हुए बिना अङ्गीभूत दर्शपूर्णमास का स्वरूप कथमपि संपन्न नहीं हो सकता।

तीसरा विभाग है सामान्यविधियों का। "कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"—"स्वाध्यायान् मा प्रमद"—"देवपितृकार्याभ्यां मा प्रमद"—"अहरहर्भूतेभ्यो बलिं दद्यात्"—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—"अनृतं मा ब्रूयाः"—"सत्यं वद"—"धर्म्मं चर" इत्यादि वचन सामान्यविधि कोटि में प्रविष्ट हैं। किसी फल की आकांक्षा न करते हुए यावज्जीवन निष्काम कर्म्म करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करो, कभी मिथ्याभाषण न करो, इत्यादि रूप से मनुष्यमात्र से सम्बन्ध रखने वाले सामान्य कर्म्मों का उपदेश देनें वाले उक्त वचन अवश्य ही सामान्यविधि कोटि में माने जासकते हैं।

इस प्रकार अनारभ्याधीत, आरभ्याधीत, सामान्याधीत भेद से विधि वचनों के तीन व्यवस्थित विभाग होजाते हैं। इन तीनों हीं विधियों की उपनिषत् (मौलिकविज्ञान सिद्धान्त, उपपत्ति, उसूल) भिन्न भिन्न हैं। दर्शपूर्णमास से स्वर्ग कैसे मिलता है? सन्ध्या का क्या फल है? इत्यादि पुरुषार्थ कर्म्मों की उपनिषत् भिन्न हैं। दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए सान्नाय्य की ही आहुति क्यों दी जाती है? आचमन क्यों किया जाता है? अपां प्रणयन से क्या लाभ है? पानी में दर्भ क्यों डाले जाते हैं? इत्यादि क्रत्वर्थ कर्म्मों की उपनिषत् भिन्न हैं। एवं सत्यभाषण, अहिंसा, सर्वभूतरति, भूतयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, अतिथियज्ञ इत्यादि सामान्य कर्म्मों की उपनिषत् पृथक् हैं। इन तीनों विधियों में आरभ्याधीत विधिएं असंख्य हैं। प्रत्येक का स्वरूप बतलानें वाली उपनिषदें भी अनन्त हैं। अतएव बोधसौकर्य्य के लिए उन आरभ्याधीत कर्म्मों की उपनिषदों का तत्तत् क्रत्वर्थ कर्म्मों के साथ ही प्रतिपादन कर दिया जाता है। अपांप्रणयन, आचमन, प्रोक्षण, पुरोडाशश्रपण, पवित्रीकरण, पात्रासादन, पात्रप्रतपन, हविर्ग्रहण, इध्मसन्नहन, अग्निसमिन्धन, होतृप्रवरण, पुरोडाशसम्पादन, आज्यविलापन, गोदोहन, वेदिसम्पादन, अग्निमन्थन, दक्षिणादान आदि आदि जितनें भी क्रत्वर्थकर्म्म हैं, उन सब की

उपनिषदें उन उन कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता के साथ साथ ही (ब्राह्मणग्रन्थों में) प्रतिपादित हैं। इन सब के स्वरूपज्ञान के लिए तो ब्राह्मणग्रन्थों का पर्य्यालोडन ही अपेक्षित है। प्रकृत में उदाहरण के लिए केवल अप उपस्पर्श (आचमन) कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता, एवं इस की उपनिषत् का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

पूर्णिमातिथि (पूर्णिमोत्तर प्रतिपत्) में पौर्णमासेष्टि होती है, एवं अमोत्तर प्रतिपत् में दर्शेष्टि की जाती है। यह दोनों ही एक प्रकार से पुरुषार्थकर्म्म हैं। अनारभ्याधीत विधि से सम्बन्ध रखने वाले हैं। दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए सन्नाय्य दिया जाता है। इस सन्नायद्रव्य सम्पादन के लिए प्रथम दिन में-"इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ देवो वः सविताप्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे" (यजु०सं०१।१) इत्यादि मन्त्र से पलाशशाखा द्वारा वत्स (गोवत्स) निवारण पूर्वक गोदोहन कर्म्म किया जाता है। दूसरे दिन प्रतिपत् को प्रातःकाल ही यज्ञकर्त्ता यजमान सब से पहिले व्रतोपायन कर्म्म करता है। आहवनीयकुण्ड एवं गार्हपत्यकुण्ड दोनों के मध्य में खड़ा होकर यजमान—"अग्ने! व्रतपते! व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" (यजुःसं०१।५।) यह मन्त्र बोलता हुआ दोनों अग्नियों की साक्षी में व्रत ग्रहण करता है। गार्हपत्याग्नि पार्थिव-अग्निस्थानीय है, एवं आहवनीय अग्नि सौरदिव्याग्निस्थानीय है। इन दोनों के मध्य में खड़े होने की उपनिषत् यही है कि यज्ञद्वारा स्वर्गलोकावाप्ति साधक नया दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है। इस के ग्रन्थिबन्धन से बद्ध यज्ञकर्त्ता यजमान का कर्म्मभोक्ता मानुषात्मा इस शरीर के छूट जाने पर सप्तदशस्थानीय नाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होजाता है। अभी प्राप्तआयुभोगपर्य्यन्त यजमान को पृथिवीलोक में रहना है, साथ ही में स्वर्ग्याग्निरूप आहवनीय के साथ भी सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। इन दोनों फलों की सिद्धि के लिए दोनों अग्नियों के मध्य में खड़े होकर ही व्रतग्रहण करना उचित है। अपिच व्रतपति अग्नि आन्तरिक्ष्य है, जैसा कि ई०उ०भा०द्वि०-खण्ड के त्रयीवेद प्रकरण में बतलाया गया है। इस आन्तरिक्ष्य व्रतपति अग्नि की सम्पत्ति प्राप्ति के लिए भी, दूसरे शब्दों में व्रतपति अग्नि की साक्षी में व्रतग्रहण करने के अभिप्राय से भी गार्हपत्यरूप पृथिवी, आहवनीयरूप द्युलोक के मध्यरूप अन्तरिक्ष में खड़े होकर व्रतग्रहण करना

उचित होता है। उक्त मन्त्र बोलता हुआ यजमान पानी का आचमन करता है। आचमन करना ही व्रतोपायन कर्म्म है। अग्नि के मध्य में खड़े होकर क्यों अप उपस्पर्श (आचमन) रूप व्रतोपायन कर्म्म किया जाता है ? इस की उपनिषत् बतलाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"व्रतमुपैष्यन्—अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ्तिष्ठन्नप-उपस्पृशति । तद्यदप उपस्पृशति–(तदुच्यते)–अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वाऽआपः। मेध्यो-भूत्वा व्रतमुपायानि-इति। पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो व्रत-मुपायानि–इति। तस्माद्वा अप उपस्पृशति" (इत्युपनिषत्)"

(शत० १।१।१।१।) इति ॥

"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" (बृ०आ०उपनिषत्) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार हमारा आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय है। मनप्राणवाङ्मय आत्मा के काम यत्न-श्रम यह तीन धर्म्म हैं। कामना मन का व्यापार है, यत्न (कृति-चेष्टा) प्राण का व्यापार है, श्रम वाग्व्यापार है। सृष्टिसाक्षी मनप्राणवाङ्मय प्रजापति की सृष्टि के मूलाधार यही तीन व्यापार हैं। अतएव इन्हें सृष्टि के सामान्य अनुबन्ध माना जाता है। परस्पर में सर्वथा विभिन्न सभी सृष्टियों में उक्त तीनों व्यापारों का समन्वय नितान्त अपेक्षित है। अत एव सृष्टिकर्म्मप्रतिपादिका सभी श्रुतियों के आरम्भमें—"प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवास। सोऽकामयत बहु स्याम्, प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्" इत्यादिरूप से काम-तप-श्रम भावों का ही निर्देश रहता है। यही कारण है कि ईश्वर प्रजापति के अंशभूत जीवप्रजापति के सम्पूर्ण कर्म्म उक्त तीनों व्यापारों के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। हम सर्वप्रथम कामना करते हैं, कामना के अनन्तर तदनुकूला चेष्टा होती है, यह चेष्टा ही प्राणव्यापार है। हस्तादि इन्द्रियों का व्यापार वहिर्व्यापार है, यही श्रम है। लकवे का रोगी उठने का यत्न करता है। उस में प्राणव्यापार होता है, परन्तु हाथ पैर काम नहीं देते। इस में श्रम का अभाव है।

उक्त तीनों व्यापारों का यदि एक ही कर्म्म से सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में कामना

का जैसा स्वरूप होता हैं, तदनुरूप ही यदि तप एवं श्रम होता है तो उस कर्म्म में पूर्ण सफलता मिलती है। तीनों को एक मार्ग में रखने से आत्मा का धरातल अविच्छिन्न रहता है। तीनों एकरूप से काम करते हैं, यही आत्मा का ऋजुभाव (सीधापना समानधरातलता) है। इन तीनों में मन प्रधान है। यदि मनोमूला कामना की अपेक्षा से प्राणमूल तप, एवं वाङ्मूल श्रम विभिन्न मार्ग में चले जाते हैं तो मन क्षुब्ध होता हुआ चञ्चल बन जाता है। चञ्चल, अतएव अस्थिर मन में सौरप्राणदेवसमष्टिरूप विज्ञान (बुद्धि) तत्व का प्रतिविम्ब यथावत् प्रतिष्ठित नहीं होता। कारण-स्पष्ट है। पानी का पात्र यदि हिलता रहता है तो उस पर सूर्य्य का प्रतिविम्ब पूर्णरूप से विकसित नहीं होता। यदि आदर्श (काच) वत् पात्र स्थिर रहता है तो उस में सूर्य्यप्रतिविम्ब का पूर्ण विकास हो जाता है। ऐसे पूर्ण प्रतिविम्ब भाव के लिए आधारपात्र की स्थिरता, समानधरातलता, एवं एकरूपता सर्वथा अपेक्षित है। आत्मसंस्था में ऐसा होना तभी सम्भव है, जब कि मन-प्राण-वाक् इन तीनों आत्मकलाओं को समानमार्ग की अनुगामिनिएं बनाया जाय। ऐसा अकुटिल आत्मा विज्ञान प्रतिविम्ब की पूर्णता से पूर्ण ज्योतिर्म्मय रहता है, अत एव ऐसे पुरुषधौरेय 'महात्मा' नाम से पुकारे जाते हैं। ठीक इस के विपरीत जो पुरुष कामना ओर रखते हैं, करते कुछ ओर हैं, कहते कुछ और ही हैं, उनके आत्मा के मन—प्राण—वाक् यह तीनों अवयव सर्वथा विरुद्ध दिशाओं में जाते हुए आत्मस्वरूप को कुटिल बनादेते हैं। तीनों अवयवों के विरुद्धगामी होजाने से मनोमय आदर्श क्षुब्ध होजाता है। ऐसे कुटिल-विषमधरातलयुक्त आत्मा पर विज्ञान का विकास नहीं होने पाता। उन का आत्मा दुष्ट है। अतएव ऐसे अन्यथागामियों को "दुरात्मा" कहा जाता है। इसी आत्मविज्ञान को लक्ष्य में रखकर अभियुक्त कहते हैं—

> मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम्।
> मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्म्मण्यद् दुरात्मनाम् ॥

आत्मा में कुछ ओर है, कहते कुछ ओर हैं, करते कुछ ओर हैं, यही अनृतभाव है। ऋजु सत्यमार्ग है, सत्यभाव ही ऋत है। ऋतभावशून्य (सत्यभावशून्य) आत्मा अनृत है। अनृत-तत्व ही वाक् का मूल है। जिस प्रकार मूल (जड़) के व्यक्त हो जाने पर (उसके भूगर्भ से बाहर

निकल जाने पर) वृक्ष सूख जाता है, एवमेव अनृतरूप वाङ्मूल के व्यक्त होजाने से (अनृत-भाषण से) आत्मरस सूख जाता है। इसी अनृतविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१— "अथ योऽनृतं वदति, यथाग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेत्-एवं हैनं जासयति। तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति, श्वः श्वः पापीयान् भवति। तस्मात् सत्यमेव वदेत्" (शत० २।२।२।१९।)

२—*"समूलो वा एष परिशुष्यति, योऽनृतमभिवदति" (प्र०उ०६।)

"तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत् सत्यम्। स हेश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्त्तिर्भवितोः। पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदति। अथैतन्मूलं वाचो यदनृतं। तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति, स उद्वर्त्तत, एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति, स शुष्यति, स उद्वर्त्तते। तस्मादनृतं न वदेत्, दयेत त्वेतेन" इति। (ऐ०आ०२।३।६)।

यह अनृतभाग अविद्यारूप पाप्मा है। इस से आत्मा अपवित्र होजाता है। एवं साथ ही में विजातीय आवरण के कारण इस पर दिव्य संस्कारों का भी आधान नहीं होता। +"सत्यसंहिता वै देवाः—अनृत संहिता मनुष्याः" (शत० १।१।३।) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार ऋततत्व का प्रथमज मनुष्य अवश्य ही अनृतसंहित है। आत्मा की सृष्ट्युन्मुख तीनों कलाओं में से मनःकला सर्वान्तरतम है। अनृतभाषण से इसी कला पर विशेष आघात होता है। मिथ्याभाषण से विचार दूषित होजाते हैं, भावना कलुषित होजाती है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर— "तेन पूतिरन्तरतः" यह कहा गया है। अनृतसंहित (झूठ बोलने का अभ्यासी) मनुष्य इसी अनृतभाव के कारण अमेध्य एवं अपवित्र बना रहता है। किसी दूसरे दिव्य संस्कार का मन के साथ संगम न होना ही मन की अमेध्यता है। एवं कलुषितभावों का समावेश होजाना ही अपवित्रता है। संस्कारग्रहणायोग्यता, एवं विचारकालुष्य ही क्रमशः अमेध्य, एवं अपवित्रभाव हैं।

*इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रश्नोपनिषद्हिन्दीविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

+इस निगमश्रुति का विशद विवेचन शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य में निकल चुका है।

यज्ञकर्ता यजमान वैधयज्ञद्वारा दिव्यलोकस्थ सौर देवताओं का अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध कराना चाहता है। परन्तु अनृतमूलक अमेध्य एवं अपवित्र भाव के कारण उन देवताओं का संस्काराधान नहीं होता। इस दोष को हटाने के लिए ही मन्त्रपूत पानी का आचमन किया जाता है। पानी में दोनों गुण हैं। वस्त्र चिकना है, अतएव वह अमेध्य एवं अपवित्र है। पानी चिकनाहट को दूर कर वस्त्र को पवित्र बना देता है। वस्त्र पवित्र होगया, परन्तु अभी मेध्य नहीं बना। अभी इसमें वर्ण (रंग) संस्कारग्रहणयोग्यता का समावेश नहीं हुआ। इसके लिए भी पानी का ही आश्रय लेना पड़ेगा। वस्त्र को पानी में डाल दीजिए, उसी समय वह मेध्य (संगमनीय) होता हुआ, रंगसंस्कार का अपने ऊपर आधान कर लेगा। दोषमार्जन करने के कारण पवित्र, एवं संस्काराधानयोग्यता सम्पादन करने के कारण मेध्य गुण से युक्त पानी के आचमन से (मन्त्रशक्ति के सहयोग से) आत्मा अवश्य ही मेध्य एवं पवित्र होजायगा। ध्यान रहै, साधारण अयज्ञिय अमन्त्रक पानी में उक्त अतिशय कदापि नहीं है। है—परन्तु अत्यल्पमात्रा में। मन्त्रवाक् ही इस अतिशय को विकसित करने में समर्थ है। देवता त्रिसत्य हैं। अतएव अप उपस्पर्श भी तीन ही वार किया जाता है। व्रतोपायन कर्म्म की यही संक्षिप्त उपनिषत् है।

इसी प्रकार—

"अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्। तत् प्रथमेनैतत् कर्म्मणा सर्वमाप्नोति। यद्वास्य होता वा० नाभ्यापर्याति, तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति"

(शत० १।१।१।१८।)

"पानी से सब कुछ व्याप्त है। (अपांप्रणयन करता हुआ यजमान) इस प्रथम कर्म्म से ही सब कुछ प्राप्त करलेता है। अपि च यजमान के यज्ञस्वरूप सम्पादक होता, अध्वर्यु-आदि ऋत्विक् मनुष्यसुलभदोष से यदि किसी यज्ञफल को प्राप्त करने में असमर्थ रहजाते हैं, तो वह भी इस अपांप्रणयन कर्म्म से सब कुछ प्राप्त होजाता है" अपांप्रणयन कर्म्म की यही उपनिषत् है। इसी प्रकार पूर्व में जिन कुछ एक क्रत्वर्थ कर्म्मों का

दिग्दर्शन कराया गया है, उन सब की उपनिषदें निम्नलिखितरूप से तत्तत् कर्म्मपद्धति के साथ ही निरूपित हैं।

१—"वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी०" (श० १।१।२।४)।

२—"तं श्रपयति। न वाऽएतस्य मनुष्यः श्रपयिता, देवो ह्येषः०" (शत० १।२।२।१४)।

३—"पवित्रे करोति। अयं वै पवित्रो योऽयं पवते०" (शत० १।१।३।१-२-)।

४—"द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति० द्वन्द्वं वै वीर्यं, द्वन्द्वं वै मिथुनम्" (शत० १।१।१।२२)।

५—"देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गात्०" (शत० १।२।२।३)।

६—"यज्ञो वा अनः। भूमा वा अनः। ++। तस्मादनस एव०" (शत० १।१।२।७)।

७—"समिन्धे सामिधेनीभिर्होता। तस्मात् सामिधेन्यो नाम" (शत० १।३।२।१)।

८—"अथार्षेयं प्रवृणीते। परस्तादर्वाक् प्रवृणीते। परस्ताद्ध्य०" (शत० १।४।२।३-४)।

९—"स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति० शिरो वा एतद्यज्ञस्य०" (शत० १।२।१।१)।

१०—"यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्–तदस्या आहरन्त्याऽ०" (शत० १।६।५)।

११—"ते होचुः–हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै। तां विभज्य०" (शत० १।२।५)।

१२—"तद्धैकेऽनुदितेः अहर्वै देवाः० यशोह भवति०" (शत० २।८।४)।

१३—"स एष यज्ञो हतो न ददक्षे, तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयन्०" (शत० २।२।२)।

उक्त उपनिषत् (मौलिक उपपत्तिएं) क्रमशः १–प्रोक्षण, २–पुरोडाशश्रपण, ३–पवित्रीकरण, ४–पात्रासादन, ५–पात्रप्रतपन, ६–हविर्ग्रहण, ७–अग्निमन्थन, ८–होतृप्रवरण, ९–पुरोडाशसम्पादन, १०–आज्यविलापन, ११–गोदोहन, १२–वेदिसम्पादन, १३–अग्निमन्थन, १४–दक्षिणादान इन कर्म्मों के साथ सम्बन्ध रखतीं हैं। इन सब का विशद विवेचन शतपथभाष्य में द्रष्टव्य है। पूर्व प्रकरण से बतलाना हमें यही है कि अङ्गभूत आरभ्याधीत क्रत्वर्थ कर्म्मों की उपनिषदें उन उन कर्म्मों के साथ ही उपात्त हैं। इन क्रत्वर्थकर्म्मोपनिषदों का ब्राह्मणभाग में ही अन्तर्भाव है। अतएव–"यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेनगृह्यन्ते" इस सर्वसम्मत न्याय के अनुसार इन उपनिषदों का ब्राह्मणशब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता

है। कर्मकाण्ड प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थ के साथ उपनिषत् है अवश्य, परन्तु कर्म्मप्रधानता के कारण तद्वाद न्यायानुसार उन्हें—'**उपनिषत्**' शब्द से व्यवहृत करने का अवसर ही नहीं आता। ब्राह्मणभाग सम्बन्धिनी उपनिषदों का उपनिषत् शब्द से ग्रहण क्यों नहीं हुआ? ब्राह्मणभाग इन उपनिषदों के सम्बन्ध से ब्राह्मणशब्द व्यवहार उपनिषत् शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं हुआ? इस का यही उक्त समाधान है।

यह तो हुई आरभ्याधीत क्रत्वर्थ कर्म्मों की उपनिषदों की व्यवस्था। अब क्रमप्राप्त अनारभ्याधीत पुरुषार्थकर्म्मसम्बन्धिनी उपनिषदों का विचार कीजिए। **दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य**, ग्रहयाग, **राजसूय, वाजपेय, चयन** आदि यज्ञकर्म्म पुरुषार्थ कर्म्म हैं। इन की उपनिषदें महाविज्ञान से सम्बन्ध रखतीं हैं। अतएव इनमें से कुछ एक कर्म्मों की उपनिषदों का (जिन की कि उपनिषत् प्रधान रूप से कर्म्म की ओर झुकीं हुई हैं) तो निरूपण स्वयं ब्राह्मणभाग में ही कर दिया गया है। उदाहरणार्थ **वरुणप्रघासेष्टि** नाम के पुरुषार्थ कर्म्म को ही लीजिए।

आठ वसु (८), ग्यारह रुद्र (११), बारह आदित्य (१२), प्रजापति (१), वषट्कार (१) यह ३३ दिव्यप्रजा हिरण्यगर्भप्रजापति (सूर्य्य) से उत्पन्न हुई। उत्पन्न होते ही वह प्रजा वरुण देवता के पाश में बद्ध होगई। वरुण पानी के देवता हैं। पानी भूतभाग है, प्राण देवभाग है। प्राणरूप देवता भूत के साथ नित्य सम्बद्ध हैं। इन अनेक विध प्राणों में से आप्य प्राण (अब्भूत में रहने वाले प्राण) का ही नाम वरुण है **वर्षाऋतु** में (जब कि सम्पूर्ण भूमण्डल आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट रहता है) सजातीय सम्बन्ध के कारण प्रकृतिमण्डल में वरुणदेवता (आप्यप्राण) का साम्राज्य रहता है। वर्षाकाल में उत्पन्न **ओषधि-वनस्पतियों** में वरुण प्राण व्याप्त रहता है। वर्षाऋतु में (आषाढ शुक्ल एकादशी से आरम्भ कर कार्त्तिक शुक्ल एकादशी पर्य्यन्त) भूमण्डल वरुणगृह (आप्यमण्डल) में निवास करता है। इतने कालतक आग्नेय इन्द्रप्रधान ज्योतिर्म्मय प्राणदेवताओं की सुषुप्ति मानी जाती है। देवता सौर हैं, सूर्य्य इन्द्र प्रधान है, इन्द्र ज्योतितत्व है। इस ज्योतिर्घनइन्द्र एवं वरुण में परस्पर में अश्रमाहिष्य (सहजवैर) है। इन्द्र पूर्व दिशा के लोकपाल हैं, वरुण पश्चिम दिशा के दिक्पाल हैं। वारुण आप्यप्राण बलमद होता हुआ असुर

है, ऐन्द्र ज्योतिर्मयप्राण बुद्धिप्रद बनता हुआ देवता है। वर्षा में वरुण की कृपा से असुरों का साम्राज्य रहता है। देवताओं का बल अभिभूत रहता है। यही देवताओं का सोना है। इस काल में प्रजा जो अन्न खाती है, वह भी वारुण आसुरप्राणप्रधान ही रहता है। इस अन्न की शरीराग्नि में आहुति होनें से अन्नरसमय पुरुष (भूतात्मा) दोषाक्रान्त हो जाता है। इन्द्रशपि नाम से प्रसिद्ध उत्साह बढ़ानें वाली ऊर्जाशक्ति (Energy) वरुण के आक्रमण से शिथिल होजाती है। इसी आधार पर **"वर्षासु दोषा कुप्यन्ति"** (अष्टाङ्गहृदय) यह प्रसिद्ध है। बर्साती अन्न, एवं बर्साती वायु शरीर को जकड़ देता है। यही वरुणपाश का बन्धन है। इसी को दूर करने के लिए, दूसरे शब्दों में अन्न में रहने वाले वारुणभाव को हटाने के लिए ही "वरुणप्रघासेष्टि" की जाती है। (देखिए—शत० २।५।२)। इसी प्रकार निम्न लिखित स्थलों में चातुर्मास्यादि कर्म्मों की उपनिषदों का भी ब्राह्मणभाग में ही निरूपण हुआ है।

१—"त्वष्टुर्ह वै पुत्र स्त्रिशीर्षा षडक्ष आस०+++तावेनमुपाद्रवतुः। तावनु-सेवं देवाः प्रेयुः, सर्वा विद्याः, सर्वं यशः, सर्वमन्नाद्यं, सर्वा श्रीः। तेनेष्ट्वा-इन्द्र एतदभवत्-यदिदमिन्द्रः। एष उ पौर्णमासस्य बन्धुः।" (शत० १।६।३)।

२—"इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार, सोऽबलीयान् मन्यमानो नास्तृषी-तीव बिभ्यन्निलयां चक्रे।+++। तेनैतां रात्रिं सहाजगाम।+++। तद्यदेष एतांरात्रिमिहापात्रसति, तस्मादमावास्या नाम" (शत१।६।४)।

३—"अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवन्ति।+++। या वै देवानां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां तच्छुनं, अथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्, तत् सीरम्०" (शत० २।६।३)।

४—"एष वै ग्रहो य एष तपति, येनेमाः सर्वाः प्रजा गृहीताः। तस्मादा-हुर्ग्रहान् गृहणीम इति चरन्ति ग्रहगृहीताः सन्त इति। वागेव ग्रहः। नामैव ग्रहः। अन्नमेव ग्रहः" (शत० ४।६।५)।

५—"देवाश्च वाऽअसुराश्च-उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ०+++। स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः। बृहस्पति र्ब्रह्म। वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति। स इदं सर्वमृङ्क्ते। तद्यथैवादो बृहस्पतिः सवितारं प्रसवायोपाधावत्" (शत० ५।१।१।)।

६—"राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। अवरं वै राजसूयम्। (श०५।१।१।)। अरण्योरग्निसमारोह्य सेनान्यो गृहान् परेत्याग्नयेऽनीकवतेऽष्ट कपालं पुरोडाशं निर्वपति। अग्निर्वैदेवानामनीकम्०" (शत० ५।३।१

७—"अग्निरेषपुरस्ताच्चीयते संवत्सरे, उपरिष्टान्महदुक्थं शस्यते। प्रजापते विस्रस्तस्याग्रं रसोऽगच्छत्। स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसत, संवत्सरः सः। अथ यान्यस्य तानि पर्वाणि०"(शत०१०।१।१।)।

उक्त उपनिषदों का क्रमशः १–पूर्णमास, २–दर्श, ३–चातुर्मास्य, ४–ग्रहयाग, ५-वाजपेय, ६–राजसूय, ७–चयन इन पुरुषार्थ कर्म्मों के साथ है। इस प्रकार अनारभ्याधीत पुरुषार्थ कर्म्मों में से भी कितने ही कर्म्मों की उपनिषदें ब्राह्मणभाग में तत्तत् कर्म्मों के साथ ही निरूपित हैं। अत. पूर्वोक्त तन्मध्यपतित न्याय से इन अनारभ्याधीत पुरुषार्थ कर्म्मों की उपनिषदों का भी ब्राह्मणभाग में अन्तर्भाव मानलिया जाता है। फलतः आरभ्याधीतविध्युपनिषदों के समान ही इन उपनिषदों का भी उपनिषच्छब्द से व्यवहार करने का अवसर नहीं आता।

अब शेष रह जाते हैं—महाविज्ञानसम्बन्धी कतिपय अनारभ्याधीत पुरुषार्थकर्म्म, एवं साधारण कर्म्म। इन उभयविधकर्म्मों की उपनिषदों को पृथक् छांट कर इन का स्वतन्त्ररूप से निरूपण किया गया है। वही स्वतन्त्रविभाग आज दिन विद्वत् समाज में "उपनिषत्" नाम से प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ **एकधनावरोध, देवस्मर** आदि अनारभ्याधीत कर्म्मों की उपनिषत् का कौषीतकि उपनिषत् में निरूपण है–(देखिए कौ०उ०२।३।४।)। "सैषात्रयीविद्यायज्ञः" (श०-१।१।४।३।) के अनुसार ऋग्-यजुः साम ही क्रमशः शस्त्र-ग्रह-स्तोत्र कर्म्म के प्रवर्त्तक बनते हुए

यज्ञकर्म्म के मूलाधार हैं। नित्य मौलिक एवं अपौरुषेय त्रयीवेद का स्वरूप प्रतिपादन करने वाली मन्त्रात्मिका शब्दराशिरूपा वेदत्रयी से ही क्रमशः हौत्र-आध्वर्यव-औद्गात्र कर्म्मद्वारा वैधयज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। पूर्वकथनानुसार पुरुष अनृतसंहित है। अतएव चर्मचक्षुओं से सर्वथा अपरोक्ष इस दिव्यकर्म्म में अनृतसंहित मनुष्य से भूल होजाना स्वाभाविक है। होता-अध्वर्यु-उद्गाता-ब्रह्मा-चारों ऋत्विक् यज्ञस्वरूपनिर्म्माता हैं। होता ऋक् का प्रवर्त्तक बनता हुआ हौत्ररूप शस्त्र-कर्म्म का, अध्वर्यु यजु का प्रवर्त्तक बनता हुआ आध्वर्यवरूप ग्रहकर्म्म का, उद्गाता साम का प्रवर्त्तक बनता हुआ औद्गात्ररूप स्तोत्रकर्म का सम्पादन करता है। एवं त्रयीविद्या का परिज्ञाता ब्रह्मा निरीक्षण करता है। यह चारों ही ऋत्विक् यज्ञकर्त्ता यजमान के दक्षिणाक्रीत प्रतिनिधि हैं। यदि प्रमादवश इन के कर्म्म में कोई अज्ञात, अथवा ज्ञात दोष होजाता है, कोई त्रुटि रहजाती है तो वितत यज्ञसूत्र विच्छिन्न होजाता है। ऋक् अग्निमय बनता हुआ भूलोक की वस्तु है, अतएव ऋग्वेदी होता से हौत्रकर्म्म में यदि कोई त्रुटि होजाती है तो प्रायश्चित्त कर्म के अधिष्ठाता ब्रह्मा "भूः स्वाहा" यह मन्त्र बोलते हुए भूलोकस्थानीय गार्हपत्याग्नि में आहुति देते हैं। यजुर्वेद वायुमय होता हुआ भुवर्लोक की वस्तु है, अतएव यजुर्वेदी अध्वर्यु से आध्वर्यव कर्म्म में यदि कोई त्रुटि होजाती है तो ब्रह्मा—"भुवः स्वाहा" यह बोलते हुए भुवर्लोकस्थानीय दक्षिणाग्नि में आहुति देते हैं। सामवेद आदित्यमय होने से स्वर्लोक की वस्तु है, अतएव सामवेदी उद्गाता के औद्गात्र कर्म्म में यदि कोई त्रुटि होजाती है तो ब्रह्मा "स्वः स्वाहा" यह बोलते हुए स्वर्लोकस्थानीय आहवनीयाग्नि में आहुति देते हैं। यदि स्वयं त्रैविद्य ब्रह्मा से अपने ब्रह्मकर्म्म में कोई भूल होजाती है तो वह स्वयं अपनी त्रुटिपूर्त्ति के लिए "भूःस्वाहा-भुवःस्वाहा-स्वःस्वाहा" यह बोलते हुए आहुति देते हैं। इस प्रकार इन आहुतियों से त्रैविद्य ब्रह्मा विरिष्ट (विनष्ट-विच्छिन्न-त्रुटित) यज्ञ का पुनः सन्धान कर देते हैं। इसी उपनिषत् के आधार पर उक्तकर्म्म—"यज्ञविरिष्टसन्धान" नाम से व्यवहृत होता है। इस कर्म्म की पद्धति का निरूपण ब्राह्मणभाग में हुआ है, एवं उपनिषत् का प्रतिपादन छान्दोग्यउपनिषत् में हुआ है—(देखिए छां० उ० ४। अ० १७खं०)।

अब चलिए साधारण कर्म्मों की ओर। पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ भेद को छोड़ दीजिए। कर्म्म

लेन कर्मसाधारण को लीजिए। कर्म किया ही क्यों जाता है? कर्म न करने से क्या हानि है? इस का उत्तर आत्मोपनिषत् है। आत्मा ज्ञान-कर्ममय है। प्रयास करने पर भी ज्ञायते-क्रियते इन दो भागों के अतिरिक्त तीसरा भाव उपलब्ध नहीं होसकता। आनन्द-विज्ञान मन इन तीनों कलाओं की समष्टि आत्मा का ज्ञानभाग है, विद्याभाग है। यह अमृतधर्म्मा है, सत् है, नित्य प्रतिष्ठित है। मन-प्राण-वाक् इन तीनों कालाओं की समष्टि आत्मा का कर्म-भाग है। यह मर्त्य है, असत् है, अतएव अनित्य है, नित्यअप्रतिष्ठित है, प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है।

"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।" (गी० ९।१९)।

"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" (शत०१०।४।१।१)।

"उभयमु-एतत् प्रजापतिर्निरुक्तानिरुक्तश्च" (शत०६।५।३।७।)

इत्यादि श्रौतस्मार्त्त वचनों के अनुसार आत्मा सचमुच ज्ञान-कर्म दोनों की समष्टि है। कहना यही है कि ज्ञानवत् कर्म्म भी इस आत्मा का स्वरूप धर्म्म है। "अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्" (शत०१०।५।२।१)–"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः" (शत०ब्रा०)–"कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः" (गीता०.......) इत्यादि के अनुसार दोनों परस्पर में अन्तरान्तरीभावसम्बन्ध से ओतप्रोत हैं। बिना ज्ञान के कर्म्म स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, एवं विना कर्म्म के ज्ञान का विकास नहीं हो सकता। यदि कर्म्म का परित्याग कर दिया जायगा तो आत्मा का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। इसी लिए ज्ञानवत् कर्म्म भी सर्वात्मना उपादेय एवं आदरणीय तत्व है।

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥" (ई० उ० २ मं०)

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि न करोति न लिप्यते" (गीता०.......)।

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥" (गी०३।५।)

इत्यादि वचन कर्म्म की अवश्येतिकर्त्तव्यता को भलीभांति प्रकट कर रहे हैं। ज्ञानकर्म्ममय सम्पूर्ण वेदशास्त्र केवल अध्यात्मविद्याशास्त्र है। कर्म्म भी आत्मा का अर्द्धभाग होनें से अध्यात्मसंस्था के गर्भ में ही प्रविष्ट है। ज्ञान भी अध्यात्म विद्या है। संदंशपतिता उपासना भी अध्यात्मविद्या है। ज्ञानकर्म्ममय इस आत्मा के कर्म्म अनारभ्याधीत, आरभ्याधीत, सामान्य भेद से तीन भागों में विभक्त हैं जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जाचुका है। तीनों की तीन ही जाति की उपनिषदें हैं। इन में से दोनों कर्म्मों की उपनिषदों का तो पूर्वकथनानुसार (ब्राह्मणभाग में निरूपण होने के कारण) ब्राह्मणग्रन्थ में ही अन्तर्भाव है। अतः उनका (ब्राह्मणभाग की प्रधानता के कारण) उपनिषद् शब्द से व्यवहार नहीं किया गया। शेष बचते हैं सामान्य कर्म्म। यह सामान्य कर्म्म निष्कामबुद्धि से किए जानें पर समत्वलयरूपा परामुक्ति के कारण बनते हुए अध्यात्म जगत् का वास्तविक उपकार करने में समर्थ होजाते हैं। अतएव तत्प्रतिपादक केवल उपनिषद्ग्रन्थ ही अध्यात्मविद्याशास्त्र नाम से प्रसिद्ध हो गया है। "यदि कर्म्ममय ब्राह्मणभाग में भी उपनिषत् है तो क्यों नहीं ब्राह्मणग्रन्थगत उपनिषदों का उपनिषत् शब्द से व्यवहार होता?" इस पूर्वप्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

अब—"आरण्यकग्रन्थ के साथ भी यदि उपनिषत् का सम्बन्ध है तो तद्गत उपनिषदों का उपनिषत् शब्द से व्यवहार क्यों नहीं होता?" एकमात्र यह प्रश्न बच जाता है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में अभी हमें कुछ नहीं कहना। क्या उपनिषत् वेद है? इस प्रश्न की मीमांसामें उक्त प्रश्न का विशेषरूप से समाधान हो जायगा। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि उपासना मूलक आरण्यकभाग को तो 'बृहदारण्यकोपनिषद्' इत्यादिरूप से स्वयं प्राचीनों नें हीं उपनिषत् के अन्तर्भूत मानलिया है। एवं आरण्यकग्रन्थों में स्पष्टशब्दों में—"अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत्" (ऐ० आर० ३।२।५।)—इत्यादि रूप से अनेक स्थलों में उपनिषत् शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि पूर्वप्रतिपादित कर्म्मकलाप की उपनिषदों का एक ही स्थान में समावेश कर दिया जाता तो हम कर्म्मस्वरूपविज्ञान से सर्वथा वञ्चित रह जाते। उन परमकारुणिक महर्षियों का

यह अनुग्रह था, जिन्हों नें हमारे बोधसौकर्य्य के लिए कर्म्मत्रयी भेद से उपनिषदों को तीन स्थानों में विभक्त कर दिया। इन में **ब्राह्मण आरण्यकभाग** की उपनिषदों का तो ब्रा० आ० की प्रधानता से ब्राह्मण-आरण्यकशब्द से ही ग्रहण हुआ, एवं अध्यात्म के चरमलक्ष्य पर पहुंचाने वाली कर्म्मोपनिषत् का उपनिषत् की प्रधानता से **"उपनिषत्"** शब्द से व्यवहार हुआ। इसी आधार पर वेद का यह चतुर्थभाग ही उपनिषत् नाम का अधिकारी बनगया। इस प्रकार उपनिषत् के पूर्वोक्त रहस्यार्थ को न समझकर केवल जाड्य श्रद्धा के आधार पर—**"उपनिषत् शब्द केवल वेद के अन्तिमभाग में ही निरूढ है, एवं अध्यात्मविद्यात्व ही इस का अवच्छेदक है"** यह मान बैठना निरी भ्रान्ति ही है।

अपिच उपनिषत् शब्द को एकमात्र **ईश-केन-कठादि** के साथ ही नित्यसम्बद्ध मानने वाले महानुभावों से हम पूंछते हैं कि यदि आपका सिद्धान्त निर्दुष्ट है तो सुप्रसिद्ध **गीताशास्त्र** उपनिषत् नाम से कैसे प्रसिद्ध हुआ। **भगवद्गीता** आज सम्पूर्णविश्व में **"गीतोपनिषत्"** नाम से प्रसिद्ध है। गीता के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में—**"इति श्रीमद्भगवद्गीतासु-उपनिषत्सु"** यह वाक्य उद्धृत रहता है साथ ही में यह भी विश्व विदित है कि गीता स्मृति-शास्त्र है। स्वयं प्राचीन भाष्यकारों नें गीता को **स्मृति** शब्द से सम्बोधित किया है-(देखिए शा० भाष्य""""")। गीता को वेद का अन्तिम भाग माननें के लिए कोई सन्नद्ध नहीं होसकता। ऐसी अवस्था में हमारा यह दृढ निश्चय है कि **विज्ञानसिद्धान्त** को उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक माने बिना प्रयत्नसहस्रों से भी आप गीतासम्बन्धिनी उक्त आपत्ति का निराकरण नहीं कर सकते। हमारे शास्त्रसिद्ध विचारों के प्रति आक्षेप प्रकट करते हुए जिस **शक्तिग्राहक-शिरोमणिवृद्धव्यवहार** को आपनें हमारे सामनें रक्खा था, उस आक्षेप का पूर्व सन्दर्भ से भली प्रकार निराकरण करते हुए गीता सम्बन्धी उसी वृद्धव्यवहार को आज हम आपके सामने रखते हैं, एवं आप से अनुरोध करते हैं कि विज्ञानसिद्धान्त को उपनिषत् पदार्थ का अवच्छेदक न मानते हुए आप अपने इस वृद्धव्यवहार एवं प्राचीनमर्यादा को सुरक्षित रखने वाले मार्ग का पहिले स्वयं अन्वेषण करें, यदि अवसर मिले तो हमें भी उस शशशृङ्गतुल्य पथ से सूचित करनें का कष्ट करें।

ब्राह्मणग्रन्थों में आरण्यक ग्रन्थों में स्थान स्थान पर "उपनिषद्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। फिर समझ में न आया कि उपनिषत् का अवच्छेदक अध्यात्मविद्यात्व ही किस आधार पर मान लिया गया। यद्यपि पूर्व में उन वचनों का उल्लेख कर दिया है, परन्तु प्रकरण संगति के लिए यहां भी उन का संग्रह कर दिया।

१—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेव—"उपनिषत्"(शत०ब्रा०१०।४।५।१)।

२—"अथादेशा "उपनिषदाम्" (शत०ब्रा०१०।४।५।१)।

३—"अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच "उपनिषत्" (ऐ०आर०३।२।५)।

अपिच उपनिषत्–आरण्यक–ब्राह्मण तीनों विभाग एकमात्र आध्यात्मिक संस्था का ही निरूपण करते हुए समान विषयक हैं। अत एव एक भाग के सम्यक् परिज्ञान के लिए इतर दोनों भागों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होजाता है। तीनों की इसी अभिन्नविषयता के कारण सुप्रसिद्ध शतपथब्राह्मण में तीनों का समावेश देखा जाता है। १०० अध्यायों में विभक्त अतएव शतपथ नाम से प्रसिद्ध इस ब्राह्मणग्रन्थ में १४ काण्ड हैं। इन में १३ काण्डों में तो यज्ञकर्म्मों का निरूपण हुआ है। यही वास्तव में ब्राह्मणभाग है। चौदहवें काण्ड में आरण्यक एवं उपनिषत् का समावेश है। शतपथ ब्राह्मण का १४ वां काण्ड ही पृथक्रूप से बृहदारण्यकोपनिषत् नाम से प्रसिद्ध है। बस इन्हीं सब कारणों से हमनें विज्ञानसिद्धान्त को उपनिषत् का अवच्छेदक माना है।

महाभारत के सुप्रसिद्ध व्याख्याता सर्वश्री नीलकण्ठ नें भी "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" (गीता० २।३९) इस श्लोक की व्याख्या में उपनिषत् शब्द के उक्त विज्ञानसम्मत अर्थ में ही अपनी सम्मति प्रकट की है। जैसा कि निम्नलिखित व्याख्या वचन से स्पष्ट होजाता है।

"सांख्ये सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या उपनिषत्। तत्र विदिते सांख्ये औपनिषदे ब्रह्मणि विषय"

(गीताव्याख्या नीलकण्ठी २।३९)

भगवान् व्यासने तो एक स्थान पर स्पष्ट ही हमारी विज्ञानदृष्टि का पूर्णरूप से समर्थन कर डाला है। जैसा कि निम्नलिखित व्यास वचनों से स्पष्ट है—

वेदस्योपनिषत् सत्यं, सत्यस्योपनिषद्दमः ॥
दमस्योपनिषद्दानं, दानस्योपनिषत्तपः ॥१॥
तपसोपनिषत्त्याग, स्त्यागस्योपनिषत् सुखम् ॥
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः, स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥२॥
(महाभारत शान्ति०मोत्त०२५१अ०११-१२श्लो०)

व्यासदेव सत्य, दम, दान, तप, त्याग, सुख, स्वग, शम भावों को उपनिषत् शब्द से व्यवहृत करते हैं। यदि प्राचीनों के मतानुसार उपनिषत् शब्द को केवल ईश-केनादि का ही वाचक मान लिया जाय तो उक्त व्यासवचन का कोई मूल्य ही न रहै।

ईश-केन-कठ-प्रश्नादि उपनिषदों में कर्म्मज्ञान का मौलिक रहस्य ही प्रधानतया निरूपित है। अतएव यह वेदान्तराशि उपनिषत् शब्द से व्यवहृत हुई है। औपनिषत् ज्ञान से हम ज्ञान-कर्म्म का मौलिक स्वरूप यथावत् समझते हुए ऐहलौकिक अभ्युदय के साथ साथ निष्काम कर्म्मयोगद्वारा पारलौकिक निःश्रेय सफल प्राप्ति में समर्थ होते हुए जीवन को कृतकृत्य बना सकते हैं। उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

इति—उपनिषच्छब्दार्थरहस्यम्

३

क्या उपनिषत् वेद है ?

क—प्रस्तावना

❀ श्रीः ❀

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

"ऋक्, यजुः, साम, अथर्व भेद से चार भागों में विभक्त ११३१ संहिताएं, विधि नाम से प्रसिद्ध इतने हीं ब्राह्मण, इतने हीं आरण्यक, इतनी हीं उपनिषदें इन सब ग्रन्थों की समष्टि का नाम ही वेदशास्त्र है। दूसरे शब्दों में संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् इन चारों का ही नाम वेद है" यह है सनातनधर्मावलम्बी विद्वानों का चिरकालिक दृढ़ विश्वास। परन्तु—"क्या उपनिषत् वेद है?" इस प्रश्न के सम्बन्ध में चिरकाल से चली आने वाली विद्वानों की उक्त दृढ श्रद्धा के सर्वथा विपरीत आज हम यह कहने का साहस करते हैं कि "उपलब्ध अनुपलब्ध संहिताग्रन्थ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषद्ग्रन्थ यह चारों ही वेद नहीं हैं"। ऐसी अवस्था में प्रकृत प्रश्न के सम्बन्ध में भी हम निःसन्दिग्ध होकर कह सकते हैं कि—"उपनिषत् वेद नहीं है"।

हमारा यह विश्वास है, विश्वास ही नहीं अपितु दृढ निश्चय है कि उक्त पङ्क्तिएं जब विद्वानों के कर्णकुहरों में प्रविष्ट होंगीं तो उस समय वे क्षुब्ध हो पड़ेंगे। आश्चर्य नहीं, क्षुब्ध होकर वे हमारे इस निबन्ध को देखना भी पाप समझने लगें। अतएव आरम्भ में ही उन नीरक्षीरविवेकी विद्वानों की सेवा में हम यह नम्र निवेदन कर देना चाहते हैं कि वे एक बार कृपा कर शान्तचित्त होकर आद्योपान्त इस निबन्ध को पढ़ने का कष्ट करें। पढ़ने के अनन्तर इस सम्बन्ध में यदि उन्हें

कुछ सन्देह हो (जिस का कि उन्हें अवसर ही नहीं मिल सकता) तो पत्र द्वारा, अथवा साक्षात् मिल कर उसे दूर करने की चेष्टा करें। हमारा विश्वास है कि हम जो कुछ लिख रहे हैं, शास्त्र-सम्मत एवं प्रमाणयुक्त होने से उस में अणुमात्र भी सन्देह का अवसर नहीं है।

कुछ एक मनचले भारतीय विद्वम्मन्यों को छोड़ कर भारतवर्ष में, क्या विदेशों में आज ऐसा एक भी संस्कृतज्ञ विद्वान् न होगा, जो कि उपर्युक्त संहिताब्राह्मणादि चारों भागों को वेद न मानता हो। उन सब की दृढ श्रद्धा के एकान्ततः विरुद्ध—'संहितादि चारों ही वेद नहीं हैं" यह कथन कैसे प्रामाणिक माना जासकता है ? इस औचित्य अनौचित्य के निर्णय का भार "वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय" ? इस प्रश्न की मीमांसा पर ही निर्भर है।

जिस प्रश्न की आज हम मीमांसा करने चले हैं, वेद अपौरुषेय हैं, अथवा ऋषिकृत?, जिस इस प्रश्न के समाधान के लिए हम प्रवृत्त हुए हैं, यह हमारे लिए एक जटिल समस्या का विषय बन रहा है। उक्त प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता, अथवा इस सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाणों का अभाव है, हमारी जटिल समस्या का यह कारण नहीं है। इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर भी मौजूद है, युक्ति, तर्क की भी कमी नहीं है। साथ ही में दृढतर प्रमाणों का भी प्राचुर्य है। फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि वेद के पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व पर कलम उठाना इस युग में अवश्य ही एक जटिल समस्या है। क्यों ? सुनिए !

वेदशास्त्र इतर शास्त्रों की अपेक्षा हम सनातनधर्मावलम्बियों के लिए (आर्यसमाजियों के लिए भी) एक निर्भ्रान्त शास्त्र है। आदि काल से यह शास्त्र हमारे लिए अन्यतम श्रद्धा का विषय बना हुआ है। वेद का अक्षर अक्षर बिना ऊहापोह के हमारे लिए सर्वथा मान्य है। वेदशास्त्र स्वतःप्रमाण है। जिस प्रकार इतर शास्त्रों के लिए वेदप्रमाण की आवश्यकता होती है, इस तरह वेद की प्रामाणिकता के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ऐसी परिस्थिति में ऐसे निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण, अपौरुषेय, परमश्रद्धास्पद वेद के सम्बन्ध में "वेद पौरुषेय हैं, अथवा ऋषिकृत" ? इस प्रश्न की मीमांसा करने मात्र से भारतवर्ष के कुछ एक आस्तिक महानुभाव, साथ ही में कुछ एक विद्वान् क्षुब्ध हो पड़ते हैं। वे अपनी चिरकालिक श्रद्धा के विपरीत एक अक्षर भी

सुनना पसन्द नहीं करते। वे नहीं चाहते कि उन के विचार मीमांसा की कसोटी पर कसे जांय।

मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार यह एक मानी हुई बात है कि किसी भी विषय पर हम तर्क-युक्ति का आश्रय लेते हुए यदि मीमांसा करने लगते हैं तो एक बार हमारी जमी हुई श्रद्धा पर थोड़ी बहुत ठेस लगती है। चाहे वह विचारमीमांसा हमें अन्त में भले ही किसी सत्यनिर्णय पर पहुंचा दें, परन्तु आरम्भ में यह विचारधारा अवश्य ही हमारे क्षोभ का कारण बन जाती है। इसी एकमात्र भय की आशङ्का से कुछ एक भारतीय श्रद्धालु विद्वान् अपने श्रद्धेय सिद्धान्तों की मीमांसा करने के लिए प्रवृत्त नहीं होते। सौभाग्य से कहिए, अथवा दुर्भाग्य से यदि हमारे जैसा व्यक्ति उन के सामने उन के श्रद्धेय विषयों की मीमांसा उपस्थित करता है तो वे उस मीमांसा को बिना सुने समझे उस मीमांसक को "नास्तिक" शब्द की उपाधि से अलङ्कृत करने से भी पीछे नहीं हटते। बस उक्त प्रश्न की मीमांसा के सम्बन्ध में यही हमारे लिए जटिल समस्या है। दूसरा कारण सुनिए! वर्त्तमान युग में यह देखा गया है कि कितनें ही विषयों पर अपने अन्तःकरण से श्रद्धा न रखते हुए भी भारतीय विद्वान् स्वार्थसिद्धि के लिए, समाज के धनिक लोगों को प्रसन्न रखने के लिए, जनसाधारण के भय से, अथवा और किसी कारण विशेष से उन अश्रद्धेय विषयों के सम्बन्ध में हां में हां, ना में ना मिलाया करते हैं। हमें कितनें हीं ऐसे महानुभावों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ कि जो **श्राद्ध, प्रतिमोपासन, ज्यौतिषशास्त्राभिमत फलादेश** आदि पर स्वतः विश्वास न करते हुए भी जनश्रद्धा को महत्व देते हुए दिखाने के लिए स्वयं भी इन कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हैं, एवं पर्य्याप्त दक्षिणा लेकर दूसरों की भी वञ्चना किया करते हैं।

भक्तमण्डली में **श्रीमद्भागवत्त** की रासपञ्चाध्यायी के सम्बन्ध में कितनीं एक रोचक कथाओं का समावेश देखा जाता हैं। जनसाधारण के चित्ताकर्षण के लिए कथावाचक महोदय मनगढन्त कई एक रोचक आख्यानों का आश्रय लिया करते हैं। साधारण जनता इन आख्यानों को वेद से भी अधिक महत्व की वस्तु समझने लगती है। ऐसी दशा में यदि कोई विद्वान् इन सर्वथा असत्य कथाओं पर टीका टिप्पणी करने लगता है तो भक्तमण्डली, एवं मण्डली के सञ्चालक कथावाचक महोदय लोकवृत्त की रक्षा के लिए, साथ ही में अपनी आजीविका की रक्षा के लिए उस सत्यवक्ता

को नास्तिक कह बैठने में कोई आपत्ति नहीं समझते। इस प्रकार विद्वान् कहलाने वाले महानुभाव भी स्वयं अपने कल्पना साम्राज्य पर अन्तःकरण से अश्रद्धा करते हुए असत्यमार्ग का अनुगमन करने में अपना गौरव समझ रहे हैं। यदि उन से कोई सत्यनिष्ठ व्यक्ति इस असत्यश्रद्धा के विपरीत कुछ कहने का साहस करता है तो वे महानुभाव अपने बचाव के लिए निम्न लिखित शास्त्रीय प्रमाण को आगे कर अपने कर्त्तव्य से छुट्टी पा लेते हैं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्व्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरेत् ॥ (गी ३।२६।)।

इस वचन का तात्पर्यार्थ समझाते हुए आप कहते हैं कि—"अज्ञानी मनुष्य अज्ञानवश स्वश्रद्धा के अनुसार जिन कर्म्मों में प्रवृत्त हो रहा है, उस को उस श्रद्धा से नहीं हटाना चाहिए। विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह अपने कर्म्मों में युक्त रहता हुआ अन्य व्यक्तियों को उन के श्रद्धानुकूल कर्म्मों में प्रवृत्त रक्खे"। ऐसी परिस्थिति में हमारा भी यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि जनसाधारण में चिरकाल से चली आने वाली —"वेद अपौरुषेय हैं" इस श्रद्धा के विरुद्ध लोकवृत्त की रक्षा के लिए एक अक्षर भी न बोलें। यही हमारी जटिल समस्या का दूसरा कारण है।

अब हम अपने जिज्ञासु पाठकों से प्रश्न करते हैं कि क्या उक्त अन्धश्रद्धारूप लोकवृत्त की रक्षा के बहाने हम भी मौन धारण करलें। यदि पाठक महोदय उत्तर में हां! कहेंगे तो हमें उसी गीता का (जो कि "न बुद्धिभेदं जनयेत्" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है)—"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति" यह सिद्धान्त उन के सामने रखना पड़ेगा। जड़श्रद्धा के उपासक कुछ एक व्यक्तियों के भय से अपने आत्मा के सत्य विचार हम नहीं रोक सकते। इस सम्बन्ध में कोई भी शक्ति हमारी प्रकृति का निग्रह नहीं कर सकती। लोकवृत्त बिगड़े, विद्वान् अप्रसन्न हों, हमें नास्तिक माना जाय, धनिकलोग अपनी भ्रूभंगी को और भी अधिक वक्र कर लें, इन सब व्यर्थ के आडम्बरों का हमें अणुमात्र भी भय नहीं है। हमारे सामने तो "मानात् सत्यं

विशिष्यते"—"सत्ये नास्ति कुतो भयम्" यह सर्वसम्मत सिद्धान्त उपस्थित हैं। सत्यतत्त्व को अपना उपास्य बना कर हम अपनें जो विचार प्रकट करने वाले हैं, यदि उन विचारों में सत्य विद्यमान है तो किसी की मिथ्या श्रद्धा के विनाश का हमें कोई भय नहीं है। हमारा, हमारा ही क्या सम्पूर्ण शास्त्रों का यह निश्चित मन्तव्य है कि मिथ्या श्रद्धा थोड़े समय के लिए भले ही लोकवृत्त की रक्षा करने में समर्थ होजाय, परन्तु अन्ततोगत्वा वह समाज के विनाश का ही कारण बनती है। भारतवर्ष में द्रुतवेग से फैलती हुई यह मिथ्या श्रद्धा हमारे बचे खुचे वैभव को जब तक सर्वनाश में नहीं मिला देती है, उस से पहिले पहिले ही सत्यास्त्र-द्वारा इस पापिनी मिथ्या श्रद्धा का हमें समूल विनाश कर देना है। हां इस सम्बन्ध में हमें यह सर्वात्मना मान्य होगा कि यदि हमारे विचारों में विद्वानों को कहीं असत्य का गंध प्रतीत हो तो वे उस का प्रतीकार करें। हम विद्वानों के युक्ति-तर्क एवं प्रमाण संगत उस प्रतीकार को शिरोधार्य करते हुए अपनी भूल पर पश्चात्ताप करेंगे। इस पाप के लिए विद्वानों के निर्णयानुसार प्रायश्चित्त करेंगे। परन्तु बिना विचार परामर्श के किसी अन्ध-श्रद्धा का अनुगमन करते हुए मौन बैठे रहना हमारे लिए सर्वथा असम्भव है।

लोग हमें नास्तिक कहेंगे, हमारे व्यक्तित्वपर अश्रद्धा करेंगे, भोली जनता में हमारे विरुद्ध बुरे विचार फैलावेंगे, क्या इस भय का भी कुछ महत्व है? सर्वथा नहीं! क्यों! स्पष्ट है। शास्त्रों के प्रति श्रद्धा रखने वाला जन समाज यथार्थग्राही, शास्त्रग्राही, कोमलश्रद्धगतानुगतिक भेद से तीन श्रेणियों में बांटा जासकता है। शास्त्रप्रतिपादित विषयों की अपनी आर्षदृष्टि से पूर्णपरीक्षा कर उनके अन्तस्तल पर पहुंचा हुआ, अथवा परीक्षाद्वारा उन विषयों के तथ्यांशोंपर पहुंचने की शक्ति रखने वाला वर्ग ही "यथार्थग्राही" कहा जायगा। शास्त्रीय वचनों पर पूर्णश्रद्धा रखते हुए, शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सत्यासत्य का निर्णय करने वाला, तदनुसार ही कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने वाला वर्ग "शास्त्रग्राही" नाम से सम्बोधित किया जायगा। संतत अर्थोपार्जन, सेवाधर्म्म (नौकरी) आदि में प्रवृत्त रहने के कारण जिसे शास्त्र के अध्ययन का अपने जीवन में अवसर ही नहीं मिलता, अतएव जो स्वयं शास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्णय में असमर्थ रहता है, जो धार्मिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में विद्वानों का ही आश्रय लेता है, जिस के कर्त्तव्य का मूल-

स्तम्भ केवल सुनी सुनाई बातें हैं, जिसने केवल अपने श्रुत विषय को ही शास्त्रीय मान कर (चाहे वह अशास्त्रीय ही क्यों न हो) उस पर अपनी श्रद्धा कर रक्खी है, ऐसा तृतीयवर्ग "कोमलश्रद्धगतानुगतिक" कहा जायगा। इस वर्ग की श्रद्धा सचमुच बड़ी कोमल होती है। एक विद्वान् ने युक्तियों के द्वारा जो कुछ इसे समझा दिया, उसी पर यह श्रद्धा करने लगेगा। यदि किसी अन्य विद्वान् ने पहिले विद्वान् से अधिक प्रबलयुक्ति वाद का आश्रय लेते हुए उसी विषय का अन्यथा प्रतिपादन किया तो वह पहिली श्रद्धा छोड़ता हुआ इस दूसरे विद्वान् के कथन पर श्रद्धा करने लगेगा।

उक्त तीनों वर्गों में से प्रथमवर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। परीक्षा साधन से वह स्वयं सत्यासत्य के निर्णय में समर्थ है। ऐसे यथार्थग्राही विद्वान् न किसी की निन्दा करते, न स्तुति करते। न उन्हें लोकापवादों में अपना अमूल्य समय नष्ट करने की ही आवश्यकता होती। दूसरा वर्ग अपनी आत्मतुष्टि के लिए प्रमाणों की अपेक्षा रखता है। यदि उस की दृष्टि में कोई विषय युक्ति-तर्क सिद्ध है, साथ ही में दृढतम शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त है तो वह उसे स्वीकार कर-लेने में कोई आपत्ति नहीं करता। ऐसे शास्त्रग्राही वर्ग के लिए हम जब अपनी विषयसिद्धि के लिए सयुक्तिक शास्त्रीय प्रमाणों का आश्रय लेते हैं तो इन विद्वानों की ओर से भी हमें निन्दा-लोकापवादि की कोई आशङ्का नहीं रह जाती। अब तीसरा वर्ग बच जाता है। कोमलश्रद्ध शास्त्रमर्म्मानभिज्ञ जिन अभिनिविष्टों ने सुनी सुनाई बातों को शास्त्रीय मान कर उन पर पूर्ण श्रद्धा कर रक्खी है, उन की इस कल्पित अशास्त्रीय श्रद्धा के विरुद्ध यदि कुछ बोला जाता है तो यह महानुभाव बड़े आवेश के साथ मर्यादा का परित्याग करके मन माने उद्गार प्रकट करते हुए जनसाधारण से प्राप्त प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वितण्डावाद का आश्रय लेकर अपने आप को धन्य समझने लगते हैं। शास्त्रों के मर्म्म को न समझने के कारण उक्त महानुभाव शास्त्रीय समाधान करने में अपने आप को सर्वथा असमर्थ पाते हुए, छिद्रान्वेषण का समाश्रय लेते हुए अस्तव्यस्त वाणी द्वारा उत्तर देने का अभिमान करते हुए—"शेषं कोपेन पूरयेत्" को अपनी आवासभूमि बनाते हैं। कहना नहीं होगा कि—"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति

तत्त्वतः" इस सिद्धान्त के अनुसार यथार्थग्राही एवं शास्त्रग्राही विद्वान् अत्यल्प संख्या में उपलब्ध होते हैं, एवं तृतीयवर्ग के महानुभाव संख्या में भी अधिक है, एवं इन की अनुयायिनी जनता भी अधिक है। यही महानुभाव हमें नास्तिकता का भय दिखलाने के लिए आगे बढ़ते हैं। आपने इन की श्रद्धा के विपरीत कुछ कहा नहीं कि इन्होंने शरभदल (टिड्डीदल) की तरह उस सत्य विषय पर आक्रमण किया नहीं। क्या इन नगण्य जीवों के भय से इन्हीं के असत्यपथ का अनुगमन करना श्रेयस्कर है? कभी नहीं! सर्वथा नहीं!! नितान्त असम्भव!!! अन्धश्रद्धालुओं के निरर्थक भय से अपने आप को बचाने के लिए सत्य तत्व की हत्या करना एक बहुत बड़ा पाप है। इसी पाप ने आर्यजाति को, आर्यसंस्कृति को, आर्यसाहित्य को आज विनाशोन्मुख बना रक्खा है। आज आवश्यकता है सत्यनिष्ठ विद्वानों की, स्पष्टवक्ता उपदेशकों की, खरे निःस्वार्थी समालोचकों की। यदि अब भी हमने "गतानुगतिको लोकः" का आश्रय लिया तो फिर आर्यसाहित्य का रक्षक भगवान् ही है।

आप हम से प्रश्न करेंगे कि "जनता की श्रद्धा के विरुद्ध कुछ भी कहना—"न बुद्धिभेदं जनयेत्" इत्यादि ईश्वराज्ञा का विरोध करना होगा। ईश्वरावतार भगवान् कृष्ण जब हमें आदेश देते हैं "कि जनता जिस मार्ग से जारही है, उसे उसी मार्ग से जाने दो। बुद्धिभेद पैदा मत करो, अन्यथा लोकसंग्रह बिगड़ जायगा। समाज तुम्हारा विरोधी बन बैठेगा। समाज की शान्ति नष्ट हो जायगी"। इस के उत्तर में हम अपनें पाठकों से प्रतिप्रश्न करेंगे कि क्या लोकसंग्रहरक्षा के लिए भगवान् हमें मिथ्या बोलने के लिए बाध्य करते हैं? यदि हां तो फिर शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। फिर तो न शास्त्रों की आवश्यकता है, न कथा की अपेक्षा है, न उपदेशकों की ही आवश्यकता है। जो जिस मार्ग से जारहा है (चाहे वह मार्ग विषम एवं पतन का कारण ही क्यों न हो) उसे उसी मार्ग से जाने देना चाहिए। क्यों? क्या आप ऐसा होना ठीक समझते हैं? क्या सत्यकाम ईश्वर हमें सत्यतत्व को छिपाने की आज्ञा देता है? क्या ईश्वर हमें इस के लिए प्रोत्साहित करता है कि हम आगे होकर सत्य का गला घोंटते हुए मिथ्याश्रद्धा का अनुगमन करें? बड़ा अज्ञान! बड़ी भूल!! महा विडम्बना!!!

हमारी दृष्टि में तो ईश्वर सदा सत्य का ही पक्षपाती रहा है। "सत्यं वद"—'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'—"स वै सत्यमेव वदेत्"—"नानृतं वदेत्"—ईश्वरीय ज्ञानकोश (वेद) से निकले हुए इन आदेशों को देखते हुए क्या ईश्वर को कभी असत्यज्ञान का उत्तेजक माना जासकता है? कभी नहीं। "न बुद्धिभेदं जनयेत्" का तात्पर्य समझने की क्या आपने कभी चेष्टा की है? इस का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि यदि एक व्यक्ति उत्पथ मार्ग से जा रहा है तो एक विद्वान् खड़े खड़े तमाशा देखा करे, और उस में बुद्धिभेद पैदा न करे। आइए उक्त आज्ञा के वास्तविक रहस्य की ओर आप को ले चलें।

सनातनधर्म्म के गर्भ में वर्ण-आश्रम-जाति-देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा के तारतम्य से अधिकारी भेद से कर्म्म नियत हैं। कर्म्म भेद से धर्म्मभेद है। यह *धर्म्मभेद ही सनातनधर्म्म का सब से बड़ा महत्व है। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्वधर्म्म का अनुगमन करता हुआ ही अपने चरम लक्ष्य पर पहुंच सकता है। अज्ञानवश यदि कोई व्यक्ति अपने आधिकारिक कर्म्म की स्तुति, एवं अन्य व्यक्ति के आधिकारिक कर्म्म की निन्दा करता है तो वह लोकसंग्रह के नाश का कारण बनता है। इसी सम्बन्ध में भगवान् आज्ञा देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह अपने स्वधर्म्म का यथाविधि पालन करता हुआ अन्यव्यक्ति के स्वधर्म्म की निन्दा न करता हुआ, उसे उसी पर आरूढ रखता हुआ बुद्धिभेद न होने दे। उदाहरण के लिए ईश्वरोपासना को ही लीजिए। आत्मा, सूर्य्य, अग्नि, इन्द्र, प्रणव, उद्गीथ, हिङ्कार, राम-कृष्णादि अवतारों की प्रतिमाएं, शालग्रामप्रतिमा, चित्रोपासना आदि भेद से उपासना अनेक भागों में विभक्त है। अब यदि कोई आत्मोपासक, किंवा प्रणवोपासक अपने मार्ग की श्रेष्ठता के अभिमान में पड़ कर रामकृष्णादिप्रतिमाओं की उपासना की निन्दा करता है तो वह ईश्वराज्ञा का विरोध करता है। कारण अधिकारी की योग्यता की अपेक्षा से उपासना के सभी प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार श्रीशङ्कराभिमत अद्वैतमार्ग, श्रीरामानुजाभिमत विशिष्टाद्वैतवाद, श्रीवल्लभाभिमत शुद्धाद्वैतवाद, श्रीनिम्बार्काभिमत

*इस विषय का विशद विवेचन—"वेदेषु धर्म्मभेदः" नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

द्वैताद्वैतवाद, श्रीमाध्वाभिमत द्वैतवाद सभीवाद शास्त्रसिद्ध, अतएव आदरणीय हैं। अपनी अपनी निष्ठा का अनन्यभाव से पालन करते हुए सभी साम्प्रदायिक ठीक रास्ते चल रहे हैं। यदि यह आपस में अपनी संप्रदाय को सर्वोत्कृष्ट, एवं अन्य सम्प्रदायों की निन्दा करते हैं तो यह बुरा है। यही बुद्धिभेद है। भगवान् इसी की निन्दा कर रहे हैं।

अपिच वर्णाश्रम मर्य्यादा के अनुसार हमारा कर्म्मकलाप ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र भेद से चार वर्णों में, एवं ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-सन्यास इन चार आश्रमों में अधिकारी भेद से सर्वथा विभक्त है। अब यदि एक ब्राह्मण अपने को सर्वोच्च वर्ण समझने का अभिमान करता हुआ इतर वर्णों को, एवं उन के कर्म्मों को नीची दृष्टि से देखता है तो वह लोकसंग्रह का विघातक बनता हुआ वास्तव में ईश्वराज्ञा का विरोधी है। एवमेव ज्ञाननिष्ठ, अतएव उत्तमाधिकारी एक सन्यासी ज्ञानगर्व से आक्रान्त बन कर कर्म्ममार्गानुयायी मध्यमाधिकारी गृहस्थी को यदि नीची दृष्टि से देखता है तो सचमुच वह ईश्वराज्ञा का विरोध करता हुआ प्रायश्चित्त का भागी बन रहा है। सनातनधर्म्मरक्षक भगवान् कृष्ण हमें आदेश करते हैं कि—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
सहजं कर्म्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत ॥
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि" ॥

हमारे इन लोकसंग्रह मूलक आदेशों को लक्ष्यमें रखते हुए विद्वान् (समझदार-बुद्धिमान्) मनुष्य का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह अपने आश्रमवर्णानुकूल अधिकारसिद्ध कर्म्म का अनुष्ठान करता हुआ इतर उन व्यक्तियों को, जो कि ज्ञान की कमी के कारण अभी नीची श्रेणी के कर्मों की योग्यता रखते हुए उन में प्रवृत्त हैं, कभी उन के अधिकृत कर्म्म से च्युत न करे। निष्कर्ष यह हुआ कि सनातनधर्म्म के अन्तर्भूत अधिकार सिद्ध उत्तम-मध्यम-प्रथम श्रेणि के जो

कर्म्म अधिकारी भेद से विभक्त हैं, उन कर्म्मों में प्रवृत्त तत्तदधिकारी परस्पर में सहयोग रखते हुए, एक दूसरे की निन्दा से सर्वथा पराङ्मुख रहते हुए अपने अपने कर्म्म का पालन करें। यदि भगवान् का यह अभिप्राय नहीं माना जायगा तो फिर विधर्म्म कोई वस्तु ही न रहेगी। एक व्यक्ति ईसाई बनता है, बनने दीजिए। एक व्यक्ति मद्यपान करता है, करने दीजिए। क्या बुद्धिभेद न पैदा करने का यही तात्पर्य्य है। ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति मिथ्याश्रद्धा में पड़ कर सत्य लक्ष्य से च्युत हो रहा है तो क्या उसे उसी अज्ञानान्धकार में पड़े रहने दिया जाय। हम तो समझते हैं कि सत्यश्रद्धा के बल पर उस की मिथ्याश्रद्धा को दूर करना ईश्वराज्ञा के विरुद्ध नहीं, अपितु अनुकूल है।

तो क्या वेद की अपौरुषेयता के सत्यासत्य की मीमांसा आरम्भ करें ? नहीं ठहर जाइए। अभी इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति और है, पहिले उस का निराकरण कीजिए। वह विप्रतिपत्ति और भी जटिल समस्या है। वेद और ईश्वर का हम सनातनधर्म्मियों की दृष्टि में समान आदर है। ईश्वरवत् वेद हमारा परम आराध्य देव है। उसे विचार की कसौटी पर कसना उस के महत्व को कम करना है।

सर्वथा दृश्यते किञ्चिन्न निर्दोषं न निर्गुणम्।
गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी ॥

इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार विश्व में जितने भी पदार्थ हैं, वे गुण एवं दोष दोनों धर्म्मों से नित्य आक्रान्त हैं, जैसा कि पूर्व के मङ्गलरहस्य में विस्तार से बतलाया जा चुका है। आप को विश्व में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं मिलेगा, जो विशुद्ध गुणमूर्त्ति, किंवा विशुद्ध दोषमय ही हो। ऐसी दशा में प्रत्येक वस्तु की गुणदृष्टि से जहां हम प्रशंसा कर सकते हैं, वहां दोषदृष्टि से उसी वस्तु की हम भरपेट निन्दा भी कर सकते हैं। संस्कृत साहित्य में सुप्रसिद्ध विश्वगुणादर्शचम्पू नामक ग्रन्थ इस के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है। स्वस्थदशा में वही भोजन अमृतमय है, सन्निपात दशा में वही विषमय है। मृत्युदोष से विमुक्त करने वाले अमृत ने ही देवासुरसंग्राम का बीज वपन किया था। प्राणघातक विष (संखिया) भी कभी कभी मात्रा से उपयुक्त होने पर जीवन सत्ता

का कारण देखा गया है। इस प्रकार इन दोनों विरुद्ध धर्म्मों के एकत्र समन्वय से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यदि बिना किसी पक्षपात के व्यापकदृष्टि से हम पदार्थों को परीक्षा की कसोटी पर कसेंगे तो गुणाभाव के कारण न वह हमारे लिए एकान्ततः अश्रद्धा का विषय रहेगा, एवं दोषभाव के कारण न वह हमारे लिए सर्वथा श्रद्धा का ही विषय रहेगा। "अमुक वस्तु आराध्य है, अमुक हेय है" यह भेद व्यवहार विचारधारा का प्रबल विरोधी माना गया है।

अपिच "यह हम से बड़ा है, यह हम से छोटा है। यह गुणवान् है, यह मूर्ख है" इस प्रकार का साधारण जनता में प्रचलित व्यावहारिक भेद भी उक्त परीक्षा से छिन्नभिन्न देखा गया है। विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि एक विद्वान् भी कई ऐसे महादोषों से आक्रान्त है, जिन के स्मरणमात्र से भी हृत्कम्प होता है। उधर जिसे हम मूर्ख समझते हैं, विचार के पश्चात् उसी में हमें किसी अलौकिक दिव्यज्योति के दर्शन होजाते हैं।

शास्त्रीयमार्ग, किंवा शास्त्रीयदृष्टि एक भिन्न पथ है, एवं सामाजिक मार्ग, किंवा व्यावहारिकदृष्टि एक भिन्न पथ है। कुछ अंशों में समानता होते हुए भी इन दोनों दृष्टियों में अधिकांश में विषमता ही देखी जाती है। व्यवहारदृष्टि के अनुसार पत्नी-माता-भगिनी-पुत्र-पिता-अनुचर-सखा आदि के स्थान सर्वथा विभिन्न हैं। उधर दार्शनिक दृष्टि के अनुसार (आत्मदृष्ट्या) सब एक ही स्थान के अधिकारी हैं। दार्शनिकदृष्टि परमार्थदृष्टि है। इस का एकमात्र लक्ष्य तत्तत्पदार्थों का वास्तविकस्वरूपज्ञान है। उधर व्यावहारिक दृष्टि का प्रधान लक्ष्य समाज का सुचारुरूप से सञ्चालन है। यदि सामाजिक व्यवहारों के साथ आप उस परमार्थदृष्टि का सम्बन्ध जोड़ देंगे तो किसी भी व्यवहार का आप विशुद्धभाव से निर्वाह नहीं कर सकेंगे। फलतः समाजव्यवस्था उच्छिन्न होजायगी। ऐसी स्थिति में हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि जिन पदार्थों पर, एवं जिन व्यक्तियों (गुरुओं) पर हमारी अनादि काल से श्रद्धा चली आरही है, उन को विचार परीक्षा की कसोटी पर बिना कसे समाजसंग्रह के लिए "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इस आभाणक को अपना मूल लक्ष्य मानते हुए अपने कर्त्तव्य कर्म्म पर दृढ रहें। भगवान् शङ्कराचार्य ने धर्म्मस्थापना की। अपने इस सिद्धान्त को चिरकाल के लिए प्रतिष्ठित रखने के लिए चारों दिशाओं में चार मठ स्थापित

कर उन गद्दियों पर अपने सुयोग्य पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य, त्रोटकाचार्य, हस्तामलकाचार्य इन चारों शिष्योंको स्थापित किया। आज तक वही आचार्यपरम्परा चली आरही है। राजशासन के दोष से यद्यपि वर्त्तमान में शङ्करमठाधीश लक्ष्य च्युत होरहे हैं। यदि वर्त्तमान आचार्यों की गुणदोष की हम मीमांसा करने बैठें तो न मालूम हमारा अन्तरात्मा किस भीषण परिणाम पर पहुंचे। यह सब कुछ समझते हुए भी लोकवृत्त की रक्षा के लिए उन आचार्यों के सामने बिना किसी परीक्षा के हमें अपना मस्तक झुका देना चाहिए। इसी प्रकार—पिता, गुरू, ज्येष्ठभ्राता, धर्म्मोपदेशक आदि के गुणदोषों की यदि हम परीक्षा करने बैठेंगे तो हमारी सारी श्रद्धा गायब हो जायगी। ऐसी अवस्था में हमारा एकमात्र यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि कौतुकी प्रजापति के कौतुकरूप गुणदोष दोनों विभूतियों का आदर करते हुए **"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"** इस श्रौत आदेश को शिरोधार्य कर पिता गुरू-आदि में गुणदृष्ट्या वही श्रद्धा रखते हुए जीवनयात्रा का निर्वाह करते चले जांय। हमारा एवं हमारे समाज का इसी में कल्याण है। हमें दोष देखने के सभी द्वार बन्द कर देने चाहिएं। तभी व्यवहारप्रधान समाज में शान्ति रह सकती है। यदि अज्ञानवश कोई साहसिक उन दोषों की मीमांसा करने के लिए आगे बढ़े तो बलात्कार से हमें उस का मुख बंद कर देना चाहिए। ठीक यही परिस्थिति गुणभाव की होनी चाहिए। **"अमुक व्यक्ति में अमुक गुण इतना विकसित है, अमुक में इतना"** इस प्रकार की गुणपरीक्षा भी सीमा का अतिक्रमण करती हुई कभी कभी लोकवृत्त की विरोधिनी बन जाती है। यदि आप किसी पदार्थ के, अथवा व्यक्ति के गुणों का अतिशय बखान करने लगेंगे तो प्रकृतिसिद्ध असुरमात्र प्रधान समाज के कितने ही व्यक्ति उस गुणातिशय के सहने में असमर्थ होते हुए उसे निन्दा का रूप देदेने में जरा भी संकोच नहीं करेंगे। ऐसा होने से आप का वह मान्य पदार्थ, किंवा पूज्य व्यक्ति लोकसंग्रह के भेद से श्रद्धा के स्थान में अश्रद्धा का भाजन बन जायगा। फलतः गुण-दोष दोनों की परीक्षा से तटस्थ रहते हुए ऋजुभाव से केवल गुणों का अनुगमन करते हुए हमें अपने कर्त्तव्य पर दृढ रहना चाहिए।

समालोचना करना इस युग का एक स्वाभाविक धर्म्म बन गया है। सभी शिक्षित अपने

आप को खरे खोटे के पूर्ण परीक्षक होने का दम भर रहे हैं। हिन्दूसमाज में जितनीं भी रीतिएं प्रचलित हैं, जो भी संस्कार विद्यमान हैं, उन सब में आज यह महानुभाव परीक्षा के गर्त में पड़ कर अपने आप को सत्योपासक समझने का दावा करते हुए बुद्धिभेद पैदा कर रहे हैं। हमारी सम्प्रदाएं बुरीं, आचार्य निकृष्ट, मन्दिर अनाचार के अड्डे, उपदेशक स्वार्थी, पण्डित रूढियों के गुलाम इसप्रकार इन अर्द्धदग्धों को सर्वत्र दोष ही दोष दिखलाई दे रहे हैं। यद्यपि हम मानते हैं कि अवश्य ही हिन्दूसमाज उक्त दोषों का विशेष रूप से उपासक बन रहा है। फिर भी इस संबन्ध में हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि आज भी हिन्दूजाति का आदर्श इतर सभ्य जातियों से कहीं बढ़ चढ़ कर है। हमें अपने दोषों को हटाने के लिए अपने घर में सहयोग का आश्रय लेना पड़ेगा। एक दूसरे के छिद्रान्वेषण से हमारा कोई उपकार नहीं होसकता। हां अपकार अवश्य होरहा है। यदि आप दोषों का अन्वेषण करने चलेंगे तो आप का भी संसार में रहना कठिन हो जायगा। आखिर समाज तो वही रहेगा। कहीं से व्यक्ति तो कर्ज में आप नहीं मंगालेंगे। दोषों के डिण्डिमघोष से यदि आप ने जनसाधारण के श्रद्धेय प्रमुख व्यक्तियों का सहयोग खोदिया तो याद रखिए आप का समाज सर्वात्मना जीर्ण शीर्ण होता हुआ अपना अस्तित्व ही खो बैठेगा। इसलिए जनता की श्रद्धा का आदर करते हुए, उपलालनों का आश्रय लेते हुए, जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करते हुए ही हमें परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए।

प्राचीन आचार्यों नें श्रद्धा का–"**दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिधारणे श्रद्धा**" यह लक्षण किया है। किसी भी पदार्थ के दोषों को देखने की जो एक मनोवृत्ति है, उस वृत्ति को रोक देने वाली जो वृत्ति है, उस वृत्ति से अपने अन्तःकरण को युक्त रखना ही श्रद्धा है। दोषों की ओर हमारा मन आकर्षित ही नहो, इसी वृत्ति का नाम श्रद्धा है। इसी वृत्ति के प्रभाव से जिस की जिस व्यक्ति पर श्रद्धा होजाती है, वह व्यक्ति उस श्रद्धेय व्यक्ति के दोषों की ओर भूल कर भी दृक्पात नहीं करता। यही नहीं, यदि अन्य तटस्थ व्यक्ति उस व्यक्ति के श्रद्धेय व्यक्ति के किसी दोष का उद्घाटन करता है तो वह श्रद्धालु उस दोष को गुणभाव में परिणत करने की ही चेष्टा करता है। इसी श्रद्धाभाव पर समाज की सत्ता सुरक्षित है। इसी श्रद्धा के बल पर चिरकाल से

प्रबल आक्रमणों को सहती हुई भी हिन्दूजाति आज तक जीवित रह सकी है। ठीक इस के विपरीत बुद्धिभेदक अश्रद्धाभाव मूलक परीक्षा ने आज उन असंख्य जातियों को स्मृतिगर्भ में विलीन कर दिया है, जो किसी समय साम्राज्य के उच्च सिंहासन पर विराजमान थीं।

हम मानते हैं कि वेद में आप दोष नहीं मानते। फिर भी आप यदि परीक्षा करना चाहते हैं, परीक्षा द्वारा गुणदोष की मीमांसा करना चाहते हैं तो हमें कहना पड़ेगा कि आप वेद पर श्रद्धा नहीं करते। "अपौरुषेय" भाव ही एक ऐसा हेतु है, जिस के प्रभाव से वेद पर आर्यसंतान की अप्रतिम श्रद्धा अनादि काल से चली आरही है। ऐसी स्थिति में श्रद्धा के मूलस्तम्भरूप अपौरुषेय भाव पर विचार उठाना अवश्य ही आर्यजाति की चिरकालिक श्रद्धा पर आघात पहुंचाना है। इसलिए अब तक वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में जैसा माना जारहा है, उसे नतमस्तक होकर मानते रहने में ही हमारा कल्याण है। फलतः "वेद अपौरुषेय हैं, अथवा ऋषिकृत"? इस प्रश्नमीमांसा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

सर्वसाधारण की इस वेदश्रद्धा का एक वेदभक्त के नाते हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं। आप तो हिन्दूजाति पर विश्राम कर लेते हैं। हमारा तो यह भी दृढतम विश्वास है कि पारसी, यहूदी, अंग्रेज, मुसलमान कोई भी व्यक्ति ऐतिहासिक दृष्टि को छोड़ कर वैज्ञानिक दृष्टि से, द्वेषभावना रखता हुआ, खण्डनबुद्धि से भी यदि इस वैदिक साहित्य को देखेगा तो उसे नत मस्तक होकर इस के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलिएं अर्पित करनी पड़ेगीं। उसे यह मानने में कोई आपत्ति न होगी कि—"वेद वास्तव में ईश्वरीय ज्ञान है। यह मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं है, अपितु शाश्वतब्रह्म की शाश्वतवाणी है। विश्वसाम्राज्य का सञ्चाल करने वाली ईश्वर की दण्डनीति है"।

"अपौरुषेय तत्व की मीमांसा से श्रद्धा पर आघात होगा" यह बात भारतीय साहित्य, विशेषतः वैदिकसाहित्य के सम्बन्ध में लेशमात्र भी घटित नहीं होती। वैदिकधर्म्म से अतिरिक्त और और जितने भी मत हैं, उन के लिए भले ही उक्त सिद्धान्त का कुछ महत्व हो। परन्तु वैदिकधर्म्म प्रतिपादक वैदिकसाहित्य के सम्बन्ध में तो हम यह दावे के साथ कह सकते हैं

कि विज्ञान का अभिमान करने वाले वैज्ञानिक ज्यों ज्यों वैदिक पदार्थों को विज्ञान की कसोटी पर कसते जांयगे, त्यों त्यों उन्हें सत्यतत्व का साक्षात्कार होता जायगा। परीक्षा से भय उसे होसकता है, जिस की जड़ें खोखलीं हों। परीक्षा से वह डर सकता है, जिसे अपने सिद्धान्त की सत्यता में सन्देह हो। तर्कवाद से वह मुंह मोड़ सकता है, जिस का साहित्य केवल कल्पना का साम्राज्य हो। यहां तो–"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः" यह घन्टाघोष है। परीक्षा के लिए ही "मीमांसा" नाम के एक स्वतन्त्र शास्त्र का आविर्भाव हुआ है। नव्यन्याय, प्राचीनन्यायादि कथाशास्त्र एक स्वतन्त्र तर्कशास्त्र (Logic) है, जिस का एकमात्र कर्म्म सत्यासत्य की परीक्षा करना ही है। यह ठीक है कि जनसाधारण के लिए यह परीक्षा उपयोगिनी नहीं बन सकती। फिर भी वस्तुतत्व के निर्णय के लिए विचार ही न किया जाय, यह आर्यसाहित्य कथमपि स्वीकार नहीं कर सकता। यही नहीं, अपितु आप्तपुरुषों का तो यह भी कहना है कि धर्म्मशास्त्र का कोई भी विधान बिना कारण के नहीं है। हमारा बहुलाभ तभी संभव है, जब कि हम धर्म्म के उस मौलिक रहस्य को जान कर ही उस में प्रवृत्त हों। इसी आशय को जाजलि के प्रति प्रकट करते हुए भगवान् दाशरथि कहते हैं —

> नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले!
> कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान् ॥ (वा॰रा॰)

इसी प्रकार भगवान् व्यास ने भी—"कारणाद्धर्म्ममन्विच्छेन्न लोकचरितं चरेत्" (म॰शा॰मो॰ २६२ अ॰५३ श्लोक) इन स्पष्ट शब्दों में हमें यह आदेश दिया है कि तुम धर्म्म के सम्बन्ध में उस के कारण को पहिचानो। केवल लोकचरित पर विश्वास मत करो। सुना सुनाया लोकवृत्त, किंवा लोकश्रद्धा धर्म्म में प्रमाण नहीं मानी जासकती। "इतर शास्त्रों की अपेक्षा वेद अपौरुषेय है" क्या केवल इस श्रद्धा पर ही वेद का महत्व अवलम्बित है? क्या एकमात्र अपौरुषेयता ही वेद की अलौकिकता में प्रमाण है? यदि आप का यही विश्वास है तो हमें कहना पड़ेगा कि आप भूल कर रहे हैं। वेद में जिन अलौकिक तत्वों का निरूपण हुआ है, वेद जिन अपूर्व गुणों का आविष्कारक है, वे वैदिकतत्व, किंवा

गुण ही वेद की अपौरुषेयता के सूचक हैं । अपनी इन लोकोत्तर वैज्ञानिक विभूतियों के कारण ही वेद ने अपौरुषेयता की उपाधि प्राप्त की है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि वेद अपौरुषेय है, इसलिए वह आदरणीय, किंवा श्रद्धा का भाजन नहीं है, अपितु वेद महत्तम विज्ञान का कोश है, इसलिए वह हमारा श्रद्धेय है, एवं इसीलिए वह अपौरुषेय कहलाया है । प्रमाण के लिए अवतारवाद को अपने सामने रखिए । भगवान् कृष्ण ने प्रकृति के नियमानुसार कंस के कारागृह में देवकी के गर्भ से जन्म लिया । आगे जाकर इन्होंने लोकोत्तर गुणों का प्रदर्शन किया । इन्हीं विभूतियों के आधार पर विश्व ने उन्हें भगवान् का अवतार माना । कृष्ण ईश्वर के अवतार थे, इसलिए उन पर श्रद्धा नहीं की गई, अपितु उन्होंने लोकोत्तर ईश्वर सदृश विभूतियों का चमत्कार दिखाया, दुष्टों का दमन किया, गीता द्वारा ज्ञान-विज्ञान का प्रसार किया । इन गुणों के कारण वे हमारे आराध्य देव बनें, एवं इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर हमनें उन्हें ईश्वर का साक्षात् पूर्णावतार माना । हमारी क्या कथा है, आरम्भ में कृष्ण की ईश्वरता में सन्देह करने वाले ब्रह्मा-इन्द्रादि देवताओं नें भी कृष्ण की उन ईश्वरीय विभूतियों का साक्षात् करने के अनन्तर ही कृष्ण को अवतार माना था । बात वास्तव में यथार्थ है । यों तो सभी मनुष्य (किंवा पदार्थमात्र) "ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार ईश्वर के अवतार हैं। परन्तु आप को, हम को कौन अवतार मानता है । यही अवस्था वेद के सम्बन्ध में समझिए । वैय्याकरणों के मतानुसार शब्द सर्वथा नित्य है, साथ ही में शब्दार्थ का सम्बन्ध भी अनादि है, जैसा कि आगे वेद प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । भारतीय ग्रन्थकारों नें नवीन कुछ नहीं बनाया है । अपितु नित्यसिद्ध ज्ञान को नित्यसिद्ध शब्दों द्वारा प्रकट किया है । ऐसी अवस्था में सभी शास्त्र तो अपौरुषेय मानें जासकते हैं । परन्तु ऐसा माना क्यों नहीं गया ? क्यों एकमात्र वेदशास्त्र ही अपौरुषेय कहलाया ? उत्तर वही आलौकिक विद्याभाव, किंवा गुणभाव है । सभी तो ईश्वर की सन्तानें हैं । फिर क्या कारण है कि उन में से कुछ को तो संसार महापुरुष कह कर उन की वन्दना करता है, कुछ के साथ सम्भाषण करने में भी अपनी मानहानि समझता है । इस महापुरुषता का परिचायक विभूतिगुण नहीं है तो और क्या है । अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए

थोड़ी देर के लिए यदि हम वेद को पौरुषेय भी मान लें, तब भी हमारी श्रद्धा में अन्तर नहीं आ-सकता। यह पौरुषेय होता हुआ भी जिन गूढ विद्याओं का निरूपण करता है, हमारी, हमारी ही नहीं विश्व की श्रद्धा का वह अवश्य ही प्रधान आलम्बन है। कुछ महानुभावों का कहना है कि यदि वेद को पौरुषेय (ऋषिकृत) मान लिया जायगा तो वेदज्ञान भ्रान्त बन जायगा। कारण मनुष्य बहुत सावधानी रखता हुआ भी भूल से नहीं बच सकता। हमारी दृष्टि में इस युक्ति का भी कोई मूल्य नहीं है, जैसा कि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

वेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय, थोड़ी देर के लिए इस झगड़े को सर्वथा दूर रखते हुए हम मान लेते हैं कि वेद हमारा परम श्रद्धेय शास्त्र है। जिस पर हमारी पूर्ण श्रद्धा है, उस की मींमांसा ही न की जाय, उसे परीक्षा से सर्वथा पृथक् रक्खा जाय, यह कौन सी बुद्धिमानी है। अन्न पर हमारी पूर्ण श्रद्धा है, वह हमारी जीवन सत्ता का कारण है तो क्या अन्न की परीक्षा न की जाय। की जाय, और अवश्य की जाय। यदि परीक्षा करने मात्र से ही हमारी श्रद्धा का उच्छेद होजाता है तो अवश्य ही वह मिथ्याश्रद्धा है, एवं ऐसी स्थिति में उसे छोड़ देने में ही हमारा कल्याण है। यदि वह श्रद्धा परीक्षा करने पर खरी उतरती है तो वह और भी दृढमूल बन जाती है। पूर्ण परीक्षा करने के पश्चात् जिस सत्य श्रद्धा का आप के अन्तःकरण में उदय होगा, उस से आप को कितना आनन्द मिलेगा, यह अनुभवरसिक परीक्षक ही जान सकते हैं। इस परीक्षित श्रद्धा के बल पर न केवल अपने धर्म्मानुयायियों की श्रद्धा को ही आप दृढ बनावेंगे, अपितु विधर्मियों को भी आप की सत्यश्रद्धा का अनुगमन करना पड़ेगा।

प्राचीन संस्कारों के वश आप अपने घर में वेदशास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं, साथ ही में अपनी सीमा के भीतर ही आपने इसे अपौरुषेय भी मान रक्खा है। परन्तु परीक्षाशून्य, अतएव दृढ विश्वास विरहित अपनी इस कल्पित श्रद्धा के बल पर आप उन व्यक्तियों की (जो कि वेद को सारशून्य ग्रन्थ समझते हैं) वेद पर न तो आप श्रद्धा ही उत्पन्न करा सकते हैं, एवं न वे आप के कथनमात्र से वेद को अपौरुषेय ही मान सकते हैं। आप को यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल व्यक्तिगत विश्वास के बल पर ही धर्म्मरक्षा सर्वथा असम्भव है। किसी बलवान् सामाजिक के,

अथवा वैज्ञानिक के विरोध करने पर समुचित उत्तर देने में आप असमर्थ रहेंगे तो जनसाधारण पर अवश्य ही इस का बुरा प्रभाव पड़ेगा। यदि हमें अपने धर्म्म से प्रेम है, यदि हम अपने धर्म्म की रक्षा चाहते हैं तो हमें उन तटस्थ व्यक्तियों के हृदय में भी धर्म्ममूलभूत वेदशास्त्र पर श्रद्धा उत्पन्न करानी पड़ेगी। यह तभी संभव है, जब कि आप युक्ति एवं तर्कसिद्ध परीक्षा द्वारा वैदिक पदार्थों का सत्य स्वरूप उन के सामने रख देंगे। जब तक हम परीक्षा से भय करते रहेंगे, जब तक हमें यह डर रहेगा कि यदि परीक्षा की जायगी तो हमारी श्रद्धा विचलित होजायगी, तब तक न तो आप स्वयं इस वैदिक साहित्य से कुछ लाभ उठा सकेंगे, एवं न दूसरों को इस ओर आकर्षित कर सकेंगे।

हम मानते हैं कि विश्व के प्रत्येक पदार्थ में गुण–दोष दोनों हैं। हम यह भी मानते हैं कि दोषमीमांसा को प्रधानता देने से लोकसंग्रह पर आघात होता है। परन्तु क्या एकमात्र इसी डर से परीक्षा का द्वार सदा के लिए बंद कर दिया जाय? क्या परीक्षा करने से हम केवल दोषों को ही फलस्वरूप अपने सामने देखते हैं? क्या परीक्षा की कसोटी गुणों की जननी नहीं है? हमारा तो यह विश्वास है कि परीक्षा करने से उस पदार्थ की सत्यता और भी अधिक दृढ बन जाती है। क्या आप को यह पता नहीं है कि परीक्षा की कृपा से ही आज उन पश्चिमी विद्वानों ने (जो कि कुछ शताब्दियों पहिले वेद को केवल ग्राम्यगीत कह कर उस का उपहास करते थे) वेद को विश्व का सर्वोच्च साहित्य मान लिया है, जैसा कि प्रारम्भिक निवेदन में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

यह परीक्षा का ही फल है कि हिन्दूजाति में अनादिकाल से प्रचलित शवदाह प्रथा की निन्दा करने वाली जातियों ने स्वयं इस प्रथा की उपादेयता मुक्तकण्ठ से स्वीकार करली है। यह परीक्षा की ही महिमा है कि आज पश्चिमी विद्वान् इतर जलों की अपेक्षा गङ्गातोय को सर्वोत्कृष्ट मानने लगें हैं। पाठक शायद यह नहीं जानते होंगें कि माता के प्रकोप को शान्त करने के लिए बिहारप्रान्त में चिरकाल से टीका लगाने की प्रथा प्रचलित थी। विरोधियों ने इस प्रथा को दूषित समझते हुए बलात्कार से उस का प्रतिषेध किया, एवं परीक्षा आरम्भ की। इस परीक्षा का परिणाम यह हुआ कि आज भारतवर्ष के घर घर में टीका प्रथा प्रचलित है। बलपूर्वक राजशासन द्वारा टीके लगाए जातें हैं। आरम्भ में विदेशियों ने कीमियागीरों का नियन्त्रण करते हुए परीक्षा आरम्भ की।

परिणाम यह हुआ है कि इसी परीक्षा के आधार पर उस अपूर्व केमेस्ट्री (Kamistry) विज्ञान का आविष्कार हुआ, जिस की तूती आज सम्पूर्ण भूमण्डल में बोल रही है। यह परीक्षा का ही चमत्कार था, जिस के बल पर अत्रिमहर्षि ने सर्वप्रथम ग्रहणविज्ञान विश्व के सामने रक्खा। यह परीक्षा की ही कृपा थी, जिस से सुप्रसिद्ध यज्ञविद्या का आविष्कार हुआ। क्या इन सब परिस्थितियों को देखते हुए हम यह कहने का व्यर्थ साहस कर सकते हैं कि परीक्षा से श्रद्धा का विनाश होजाता है, लोकसंग्रह बिगड़ जाता है। परीक्ष्य पदार्थ यदि सत्य है तो परीक्षा उस की सत्यता में चार चांद लगा देगी। यदि सत्यांश नहीं है तो वही परीक्षा हमें मिथ्यादोष से बचा लेगी। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि जो महानुभाव वेद के पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व पर विचार करने से हमें रोकते हैं, वे सचमुच वेद की अपौरुषेयता में सन्देह करते हैं। फलतः उन की यह श्रद्धा मिथ्याश्रद्धा है, दूसरे शब्दों में श्रद्धा की आड़ में घोरतम अश्रद्धा है।

त्रैगुण्यविज्ञान के अनुसार हम श्रद्धातत्व को सात्विकी, राजसी, तामसी इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। साधारण दोषों के रहते हुए भी बलवान्, एवं संख्या में अधिक गुणों की सत्ता के कारण सत्यता को लिए हुए जो श्रद्धा होती है, वही सात्विकी श्रद्धा है। जहां दोष दोष न माने जाते हों, अथवा दोष गुणरूप से दिखलाई देते हों, वह दूसरी राजसी श्रद्धा है। राजसीश्रद्धा में दोष दोषरूप से हमारे सामने नहीं आते, अपितु हम उन्हें गुण ही समझने लगते हैं। तीसरी तामसी श्रद्धा बड़ी भयानक है। हम समझ रहे हैं कि अमुक व्यक्ति में अमुक दोष विद्यमान हैं। परन्तु हम समझते हुए भी उन्हें छिपाने की चेष्टा कर रहे हैं, मन में ग्लानि है परन्तु लोकप्रतिष्ठा के दबाव से बनावटी श्रद्धा दिखला रहे हैं, यही तामसी श्रद्धा है। इस के अनुयायी ही अपनी बनावटी श्रद्धा के नाश के भय से सत्यासत्य परीक्षा का विरोध किया करते हैं। सचमुच यह श्रद्धा के स्वरूप को कलङ्कित करने वाली मिथ्याश्रद्धा है। यह तामसी श्रद्धा नानारूप धारण कर हमारे सामने आती रहती है, एवं हमारी वञ्चना करती हुई हमें सत्यमार्ग से च्युत किया करती है।

किसी वस्तु के कारण विशेष को समझे बिना ही जो उस पर हमारी श्रद्धा होजाती है, वह

भी एक प्रकार की तामसी श्रद्धा ही कही जायगी। उदाहरण के लिए गङ्गा की धारा में सर्वसाधारण की पूर्ण श्रद्धा देखी जाती है। गङ्गा को श्रद्धालु लोग पूज्यदृष्टि से देखते हैं। क्या इस सम्बन्ध में हम यह प्रश्न नहीं कर सकते कि गंगा के पानी में हमारी ऐसी उत्कट श्रद्धा क्यों होगई? अन्य नदियों की अपेक्षा गङ्गा के जल में ही ऐसा क्या अलौकिक गुण है, जिससे हम उसे "ब्रह्मद्रवी" (पिघला हुआ ब्रह्म) कहने लग गये। आप कहेंगे, शास्त्रों ने ऐसा ही लिखा है, ऐसा ही माना है। शास्त्रोपदेश से ही हम गङ्गा पर श्रद्धा करने लगे हैं। तो क्या शास्त्रकारों से उक्त प्रश्न नहीं किया जासकता? शास्त्रकारों नें इस में ऐसी कौन सी अलौकिकता देखी, जिस से वे इसे साक्षात् ब्रह्म का द्रुतरूप कहने लग गये। विश्व की परिक्रमा लगाने वाले, विदेशियों के (कल्पित) मतानुसार आदिकाल में सुमेरू की उपत्यकाओं में अपना आवासस्थान बनाने वाले उन श्रद्धेय महर्षियों को क्या यह मालूम न था कि हिमालय से गल गल कर बहने वाला तुषार जल ही गङ्गा है? क्या उन्हें यह विदित न था कि ब्रह्म एक निराकार आत्मतत्त्व है। उस में त्रिकाल में भी कोई विकार नहीं होसकता। फिर उन्होंनें हठात् यह कैसे कह डाला कि ब्रह्म ही पिघल कर गंगाजल रूप में परिणत हुआ है? गंगास्नान से बड़े बड़े अघ क्षणमात्र में नष्ट होजाते हैं, उन्होंने यह किस आधार पर कह डाला।

इस प्रकार हमारे धार्मिक विश्वासों के प्रति उक्तरूप से नास्तिकों का तर्कजाल जब हमारे सामने आता है तो हमारे चित्त में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होजाता है। हम नहीं जानते कि गंगा में वह अलौकिकगुण कौन सा है, जिस के आधार पर ऋषियों नें उस पर हमारी श्रद्धा उत्पन्न करादी। साथ ही में हम उन महामहर्षियों की वाणी पर भी अविश्वास नहीं कर सकते, जिन्होंनें लोककल्याण के लिए ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया था। जिन महर्षियों नें अपने अनन्तकाल की तपश्चर्या से दिव्यदृष्टिद्वारा आत्म-परमात्म जैसे सुसूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार किया था, जिन ऋषियों की दिव्यवाणी आज भी हमें मन्त्रमुग्ध बना रही है, जिन ऋषियों की सत्य निष्ठा से सम्पूर्ण विश्व का मानव समाज चकित होरहा है, उन ऋषियों के—"तुम गंगा को पापनाशिनी समझो, यह साक्षात् द्रुत ब्रह्म है" इस आदेश पर भी हम अविश्वास नहीं कर सकते। इस

प्रकार एक ओर ऋषियों की वाणी पर दृढ विश्वास, दूसरी ओर नास्तिकों का तर्कजाल। बतलाइए ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय। यदि बिना रहस्यज्ञान के यों ही श्रद्धा करते जाते हैं तो नास्तिक लोग और भी अधिक आक्रमण करने लगते हैं। भोली जनता में इन की ओर से यह विषम वातावरण उत्पन्न किया जाता है कि यह तो सनातनधर्म्मियों का केवल ढकोसला है। भला कहीं पानी में स्नान करने से भी पापों का क्षय हुआ है। यदि ऐसा हो, तब तो गंगा में रहने वाली सब मछलियों को सीधे परामुक्तिधाम में पहुंच जाना चाहिए। भला कौन बुद्धिमान ऐसी मिथ्या कल्पनाओं पर विश्वास करेगा। कहना नहीं होगा कि ऐसे प्रचारों से आज दृढ श्रद्धालु भी धीरे धीरे श्रद्धा से च्युत होते जारहे हैं। इसी आधार पर क्या हम यह नहीं कह सकते कि बिना रहस्यज्ञान के केवल शब्द प्रमाण के आधार पर जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह एक प्रकार से तामसी श्रद्धा ही है। यह ठीक है कि सर्वसाधारण अध्ययन द्वारा इन रहस्यों को नहीं जान सकते। परन्तु देश में ऐसे रहस्य वेत्ता विद्वानों का होना परम आवश्यक है, जो कथाद्वारा, व्याख्यानद्वारा, शिक्षापद्धति के द्वारा, सामयिक भाषामय ग्रन्थ प्रचारद्वारा, उन रहस्यों से जनता को परिचित कराते हुए नास्तिकों के तर्कवाद का समूलविनाश करने के लिए सर्वदा कटिबद्ध रहें। आज कोमलश्रद्ध, एवं इने गिने शास्त्रग्राही विद्वान् भी इन रहस्यों से अपरिचित हैं। दुर्भाग्य से इन्हीं के हाथ में आज धर्म्म की बागडोर है। इस का क्या परिणाम होरहा है? किस प्रकार जनसाधारण धर्म्मश्रद्धा से विमुख होता जारहा है? किस जघन्यता के साथ बर्बरलोग धर्म्म पर एवं तत्प्रवर्त्तक ऋषियों की विमल कीर्त्ति पर आक्रमण कर रहे हैं, यह सब प्रकट है।

नास्तिक वर्ग को थोड़ी देर के लिए छोड दीजिए, आस्तिक वर्ग का ही विचार कीजिए। संदेह होना मनुष्य का एक सहजसिद्ध धर्म्म है। "ऐसा क्यों करें? ऐसा न करनें से क्या हानि है? शास्त्रों में अमुक तत्व को इतना महत्व क्यों दिया"? यह जिज्ञासा स्वाभाविकी है। जिज्ञासुओं की ओरसे धार्मिक आदेशों के प्रति जब क्यों? का प्रश्न उठाया जाता है तो हमारे कोमलश्रद्ध, एवं शास्त्रग्राही विद्वान् संतोषप्रद समाधान करने के स्थान में उस जिज्ञासु के प्रति क्रोध प्रकट करने लगते हैं, उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। क्या यह उचित है? क्या इसी का नाम सभ्यता

है ? हमें यह कहलेने दीजिये कि पश्चिमी शिक्षा ने नास्तिकवाद नहीं फैलाया है, अपितु रहस्यानभिज्ञ हमारे देश के विद्वान् ही इस नास्तिक भाव के मूल कारण हैं। विज्ञानप्रधाना पश्चिमी शिक्षा के संसर्ग से जिज्ञासा को प्रोत्साहन अधिक मिल रहा है, उधर विद्वान् समाधान करने के स्थान में जिज्ञासुओं का तिरस्कार करने में ही अपनी विद्वत्ता की रक्षा समझ रहे हैं। इन्हीं विद्वानों की कृपा से विज्ञानप्रधान वेदशास्त्र भारतीय नवयुवकों की दृष्टि में सर्वथा व्यर्थ की वस्तु बन रही है। केवल गंगा ही क्या, **श्राद्ध, अवतार, मूर्त्तिपूजन, संस्कार** आदि सभी धर्म्मादेश आज संदेह के स्थल बन रहे हैं। तामसी श्रद्धा के अनुयायी उन विद्वानों से हम पूंछते हैं कि आप कब तक इस मिथ्या श्रद्धा के बल पर अपने गन्धर्व नगर की रक्षा कर सकेंगे। अस्तु प्रकृतस्थल में हमें उक्त पङ्क्तियों से केवल यही कहना है कि रहस्यज्ञानात्मक मूल कारण को बिना जाने जो श्रद्धा उत्पन्न होजाती है, वह परिणाम में घातक बनती हुई एक प्रकार की तामसी श्रद्धा ही है।

तामसी श्रद्धा का एक यह भी रूप है कि ऋषियों नें कहा कुछ और है, उस का आशय और ही कुछ समझ कर, उस स्वाभिमत आशय पर श्रद्धा करली गई है। इस श्रद्धा के मूल में अज्ञान है। शास्त्राध्ययन की कमी से हमनें ऋषि के आदेश को उलटा समझ लिया है। उसी का जनसाधारण में प्रचार होगया है। अब वही मिथ्या विषय इस प्रकार श्रद्धा का विषय बन गया है कि उस के विरुद्ध बोलना आज नास्तिकता मानी जाने लगी है। सचमुच ऐसी विपरीत श्रद्धा अवश्य ही तामसी श्रद्धा है। उदाहरण के लिए **गयाश्राद्ध** को ही लीजिए। इस सम्बन्ध में ऋषि ने कहा है कि **"गयाश्राद्ध करन से प्रेतात्मा की मुक्ति होजाती है"**। अवश्य ही यह आदेश सर्वथा सत्य है। परन्तु आत्मविद्या से सर्वथा शून्य गया स्थान के कुल पुरोहितों नें उक्त आदेश का यह तात्पर्य समझा है कि गयाश्राद्ध करने के पश्चात् **पार्वणश्राद्ध**, एवं **वार्षिकश्राद्ध** करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इन के इस मिथ्या प्रचार से जनसाधारण का यह विश्वास होगया है कि गयाश्राद्ध करने के पश्चात् वार्षिकश्राद्धादि करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन अन्धश्रद्धालुओं को यह पता नहीं है कि गयाश्राद्ध किसी अन्य आत्मा के लिए किया जाता है, एवं पार्वणवार्षिकश्राद्ध अन्य आत्मा की तृप्ति का कारण है। गयाश्राद्ध से **हंसात्मा** नाम से प्रसिद्ध प्रेतात्मा

की मुक्ति होती है, एवं पार्वण वार्षिक श्राद्ध से महानात्मा नाम से प्रसिद्ध प्रेतात्मा की तृप्ति होती है। *दोनों कर्म्म सर्वथा विभक्त हैं। परन्तु आज यह कहना अशास्त्रीय माना जारहा है।

दूसरा उदाहरण वायु है। बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से वायु की दो अवस्थाएं मानी गई हैं। जिस वायु का त्वगिन्द्रिय से स्पर्शरूप प्रत्यक्ष होता है, जिस वायु के आघात से वृक्षादि कम्पित होते रहते हैं, जिस वायु से मेघखण्डों का इतस्ततः संचार होता है, जो वायु पुरोवात (पुरवाई-पूर्व की हवा) रूप धारण कर पर्जन्य की सहायता से वृष्टि का कारण बनता है, वह बाह्य वायु है। इसी को सङ्केत भाषानुसार "वात" कहा गया है। दूसरा आभ्यन्तरवायु सूक्ष्म है, प्राणात्मक है। इसी प्राणवायु के आघात से श्वास-प्रश्वास का संचार होता है। उठना बैठना-चलना-फिरना-जंभाई लेना-उबासी आना आदि शरीर की जितनी भी चेष्टाएं हैं, उन सब की आधारभूमि यह प्राणवायु ही है। भगवान् कणादने इन दोनों वायुओं की पूर्ण परीक्षा की है। बाह्य वायु की परीक्षा समाप्त करने के अनन्तर आभ्यन्तर प्राणवायु की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए आचार्य कहते हैं—

१—"संज्ञाकर्म्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्"

२—"प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्म्मणः" (वै० दर्शन२अ०।१आ०।१८-१९सू०)

इन सूत्रों का मीमांसा सम्मत तात्पर्य यही है कि—"प्रत्यक्षदृष्ट चेष्टाएं हीं आभ्यन्तर प्राणवायुओं को मानने में मुख्य कारण है। क्यों कि हम अपनी शारीर चेष्टाओं को प्रत्यक्ष में होते देख रहे हैं"। इसी शास्त्र सिद्ध अर्थ को लक्ष्य में रख कर आयुर्वेद ने भी चेष्टा-द्वारा प्राणवायु की सत्ता का ही अनुमान लगाया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट हो-जाता है—

"सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः" (सूत्रस्थान१७अ०।११२श्लो०)। परन्तु उक्त तामसी श्रद्धा की कृपा से आगे जाकर कैसा अर्थ का अनर्थ हुआ है, यह भी देखिए।

*इस विषय का विशद विवेचन श्राद्धविज्ञान में देखना चाहिए।

"संस्कृतभाषा में तत्तत् पदार्थों के घट पट आदि जो संस्कृत नाम उपलब्ध होते हैं, उन्हीं से परमेश्वर की सिद्धि होती है। यह नाम ही परमेश्वर की सत्ता में प्रमाण हैं। क्योंकि (हम तो इन नामों के रखने वाले हैं नहीं, एवं नाम उपलब्ध होते हैं फलतः) इन नामों का कर्त्ता ईश्वर से अतिरिक्त और कोई नहीं होसकता। जब कि ईश्वर द्वारा रक्खे हुए सभी नाम संस्कृत भाषा में हैं, (अन्य भाषाओं में नहीं) तो यह सिद्ध होजाता है कि अर्थ समझने की शक्ति इन (ईश्वरप्रणीत) संस्कृत शब्दों में ही है, इतर भाषाशब्दों में नहीं। इतर भाषाओं में अर्थबोध कराने की शक्ति न रहने पर भी शक्तिभ्रम से लोग उन का अर्थ समझ लेते हैं"।

इस प्रकार सहज सिद्ध वायुप्रकरण का गला घोंट कर व्याख्याताओं नें दोनों सूत्रों की उक्त व्याख्या करते हुए इन से ईश्वर सिद्धि की है। क्या ईश्वर सिद्धि के लिए अन्य साधन न थे? क्या संकेतमात्र से ईश्वर सिद्ध होगया? क्या इस विपरीत श्रद्धा को हम तामसी श्रद्धा नहीं कह सकते?

इसी तामसी श्रद्धा का एक विवर्त्त और है। ऋषियों नें कोई बात अन्य अभिप्राय से कही है, परन्तु साधारण मनुष्यों नें ऋषियों की उक्ति का और ही अभिप्राय समझ लिया हो, ऐसा भी देखा गया है। शब्द वहीं हों, अर्थ दूसरा लगा दिया हो—यह पूर्व की तामसी श्रद्धा थी। शब्द, वही हों, अभिप्राय उन का कुछ और हो, अभिप्राय समझ लिया गया हो कुछ और का और ही, यह प्रकृत की तामसी श्रद्धा है, जैसा कि निम्न लिखित उदाहरण से स्पष्ट होजायगा।

वेद को ऋषियों नें अपौरुषेय कहा है, यह बात निर्विवाद है। इसी आधार पर जनसाधारण ने वेद की अपौरुषेयता पर श्रद्धा की है। वेद को अपौरुषेय मानना युक्ति सिद्ध है, तर्कसिद्ध है, प्रमाणसिद्ध है, ऋषिसम्मत है। साथ ही में विश्व का कोई भी विचारशील विद्वान् परीक्षा करने के अनन्तर वेदतत्व के इस अपौरुषेयत्व का प्रतिवाद भी नहीं कर सकता। किसी भी प्रमाण, युक्ति, तर्क, परीक्षा से वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता। साथ ही में वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करने वाले प्रमाण परीक्षादि का आगे वेद प्रकरण में हम विस्तार से दिग्दर्शन भी कराने वाले हैं।

यह सब कुछ मानते हुए भी हम यह कहने में कोई आपत्ति नहीं समझते कि सकल साधारण ने वेद की अपौरुषेयता का जैसा स्वरूप समझ रक्खा है, अथवा "वेद अपौरुषेय है" इस आदेश वाक्य का (वेदतत्व का स्वरूप न समझते हुए अपौरुषेयता का) जो अभिप्राय मान रक्खा है, वह नितान्त अशुद्ध है। दूसरे शब्दों में वेद की अपौरुषेयता पर जो जनसाधारण की एक श्रद्धा देखी जाती है, वह निरी तामसी श्रद्धा ही है।

आरम्भ में हमारे ऊपर जो यह आक्षेप लगाया गया था कि यदि तुम इस प्रश्न की मीमांसा करोगे तो लोकसंग्रह बिगड़ जायगा। इसी आक्षेप के प्रत्युत्तर के लिए तामसी श्रद्धा का स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित करना पड़ा। हम भी लोकसंग्रह के पक्षपाती हैं। परन्तु लोक-संग्रह की आड़ में जब हमारी मौलिकता नष्ट होरही है, जब मिथ्या श्रद्धा के नाते स्वार्थी लोग स्वार्थ सिद्धि में प्रवृत्त होरहे हैं, धर्म्म की दुहाई देकर कतिपय नरराक्षस धर्म्म के नाम पर जब अधर्म्म का प्रचार कर रहे हैं तो ऐसी अवस्था में वह लोकसंग्रह हमारा क्या हित साधन कर सकता है। लोक कैसे हैं, उन का संग्रह कैसा भयावह है, क्या आप यह विचार करेंगे। कुछ कुचक्री स्वार्थसिद्धि के लिए अपना एक गिरोह बना कर धर्म्म-शास्त्र-ईश्वर के नाम पर मन माना अत्याचार करते रहें। इन अत्याचारियों के ताण्डव नृत्य से सनातन संस्कृति का मूलोच्छेद होता रहै, और फिर भी हम इस लुटेरी सम्प्रदाय को लोकसंग्रह जैसे पवित्र शब्द की उपाधि से विभूषित किए रहें। असंभव, कदापि नहीं। यदि इस नाशक पद्धति का ही नाम लोकसंग्रह है तो हम जल्दी से जल्दी इस का विनाश देखना चाहते हैं। एक बार लोकसंग्रह बिगड़ जाय, तब भी कोई चिन्ता नहीं। फिर नया संगठन होगा, फिर से धर्म्म का संस्कार होगा। लोग अपनी विलुप्त प्राय संस्कृति का वास्तविक महत्त्व फिर से समझेंगे।

सम्माननीय बन्धुओ !

आज तामसी श्रद्धा ने हमारे वास्तविक स्वरूप को आवृत कर रक्खा है। इस अन्धश्रद्धा से क्या क्या अनर्थ हुए, होरहे, एवं होंगे, यह एक गम्भीर एवं विचारणीय विषय है। हम अन्य धर्मों की समालोचना करते रहें, इस से पहिले हमें अपने घर की सफाई करनी होगी। हमें अपने धार्मिक विश्वासों को परीक्षा की कसोटी पर कसना होगा। हम जिस मार्ग पर श्रद्धा से चलते हैं,

उस के सत्यासत्य का निर्णय करना होगा। परीक्षा द्वारा हमें यह देखना होगा कि हमारी श्रद्धा सत्य है, अथवा मिथ्या। यदि इस परीक्षा से हमारी श्रद्धा को विजयश्री मिली तो हमारा विश्वास और भी अधिक दृढमूल बन जायगा। इस परीक्षा में यदि हम किसी अंश में अनुत्तीर्ण होगए तो बिना अभिनिवेश के हमें वह अंश बाहर निकाल फैंकना पड़ेगा। हमें तो यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि वर्त्तमान युग में सनातनधर्म्म में कितनी हीं असत्य श्रद्धाओं का समावेश होगया है। तभी तो अहोरात्र धर्म्म-धर्म्म-चिल्लाते हुए भी हम अवनति की ओर अग्रसर होरहे हैं। यदि धर्म्म का—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः" यह लक्षण है, यदि धर्म्म के सम्बन्ध में—"धर्म्मो रक्षति रक्षितः" इस सिद्धान्त में कुछ भी सचाई है तो फिर क्यों हम धर्म्म की उपासना करते हुए भी गिरते जारहे हैं ? अवश्य ही उस कारण का अन्वेषण करना पड़ेगा। उस का प्रधान साधन होगा विज्ञानदृष्टि से धार्म्मिकतत्त्वों का परीक्षण। इसी सदुद्देश्य को सामने रखते हुए आज हम अपने वेदशास्त्र की अपौरुषेयता-पौरुषेयता का विचार करने के लिए सन्नद्ध हुए हैं। हमें विश्वास है कि यह मीमांसा हमें तामसी श्रद्धा से निकालती हुई अवश्य ही अभ्युदय निःश्रेयसमूला सात्त्विकी श्रद्धा की ओर हमारे अन्तःकरणों को प्रवृत्त करेगी।

ख—विषयप्रवेश

"परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः" (शत० १४।६।१।१।२) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पदार्थ की स्थिति वास्तव में होती कुछ और ही है, एवं दीखती कुछ और ही है। यह न्याय वेद की इस अपौरुषेयता के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होरहा है। प्रकरण के आरम्भ में उद्धृत वेद के चारों भाग सर्वथा अपौरुषेय हैं।

जिस प्रकार पुराण, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, योग, वैशेषिक, सांख्य, वेदाङ्ग, स्मृतिएं, धर्म्मसूत्र आदि ग्रन्थ व्यास–गोतम–जैमिनि–व्यास–पतञ्जलि–कणाद–कपिल–पाणिनि–यास्क–मनु–याज्ञवल्क्य–वसिष्ठ–भरद्वाज आदि महापुरुषों द्वारा बनाए जाने के कारण (पुरुषों से विरचित होने के कारण) पौरुषेय नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् भेद से चार भागों में विभक्त वेदशास्त्र को किसी भी पुरुषविशेष ने नहीं बनाया है। वेद के बनाने वाले का नाम सर्वथा अज्ञात है। इसी आधार पर हम वेद को नित्य, एवं अपौरुषेय मानने के लिए तय्यार हैं।

यदि आप प्रश्न करें कि जिस प्रकार पुरुषों के बनाए हुए पुराण न्यायादि शास्त्रों में बुद्धिपूर्वक वाक्य रचना हुई है, तथैव वेद में भी हमें वाक्यरचना का सन्निवेश बुद्धिपूर्वक ही उपलब्ध होता है। साथ ही में अन्य शास्त्रों के अनुसार वेद में भी बनाने वाले भृगु-वसिष्ठ-अङ्गिरा-अत्रि-मरीचि आदि ऋषियों का नामोल्लेख देखते हैं। इस प्रकार इतर पौरुषेय शास्त्रों की तरह समान धर्म्म रखने वाला यह वेद भी क्यों नहीं पौरुषेय ही मान लिया जाय। यह बात कैसे मानी जासकती है कि एक लम्बा चौड़ा ग्रन्थ अपने आप बन कर हमारे सामने उपस्थित होगया। यदि पुरुषरचनानुकूल सारे धर्म्मों के रहते हुए भी इसे अपौरुषेय माना जाता है, तो फिर अन्य पौरुषेय शास्त्रों नें क्या अपराध किया है? क्यों नहीं उन्हें भी अपौरुषेय मान लिया जाय? स्वागतम् !!! इन प्रश्नों की परीक्षा करने केलिए ही तो हम प्रवृत्त हुए हैं।

प्रश्न करना उचित है, परन्तु वह प्रश्न कहीं प्रश्न की अपेक्षा न रखता हो। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि प्रश्न करना बुरा नहीं है, परन्तु उस प्रश्न में प्रश्न की जिज्ञासा को अव-

काश नहीं मिलना चाहिए। अर्थात् हमारा प्रश्न ऐसा होना चाहिए कि फिर उस प्रश्न के प्रश्नतल पर किसी प्रकार के आघात होने की संभावना ही न रहे। "भूल देखना भूल नहीं है, किन्तु भूल देखने में भूल नहीं होनी चाहिए" इस सिद्धान्त को सामने रखते हुए ही हमें किसी विषय के विचार में प्रवृत्त होना चाहिए। केवल जड़वाद को उत्तेजना देने वाली पश्चिमी शिक्षा के संसर्ग से आज हमारे भारतीय नवयुवकों के, तत्शिक्षकों के, एवं शिक्षाप्रवर्त्तक पश्चिमी विद्वानों के बौद्ध जगत् में स्थिरता लक्षण विचार परामर्श का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। किसी भी विषय के सत्यासत्य निर्णय के सम्बन्ध में इन महानुभावों नें—"चट मंगनी, पट व्यात्र" वाली किंवदन्ती अक्षरशः चरितार्थ कर रक्खा है। विषय के अन्तस्तल पर पहुंचने की न इन की वृत्ति है, न इस वृत्ति की यह आवश्यकता ही समझते हैं। आप किसी भी धार्मिक विषय के सम्बन्ध में इन से प्रश्न कीजिए, तत्काल आप को उत्तर मिल जायगा। जैसे इन का जीवन धार्मिक विचारों में, धर्म ग्रन्थों के अध्ययन में ही व्यतीत हुआ हो। वह उत्तर भी कैसा ?—'अन्धेर नगरी अबूझ राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा" इस लोकोक्ति को सर्वथा चरितार्थ करने वाला। सभी धार्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी अविकल निर्दुष्ट देहेन्द्रियों से आपने—"सब व्यर्थ है, सब ढोंग है, सब स्वार्थियों की स्वार्थलीला है, ऐसे व्यर्थ के कार्यों में कभी समय का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए. इन शास्त्रीय अड़ङ्गों का हमारे दैनिक जीवन में कोई उपयोग नहीं है, राष्ट्र की समुन्नति में इन धर्म्माज्ञाओं से कुछ भी उपकार संभव नहीं है" इत्यादि कतिपय समाधान वाक्य कण्ठस्थ कर रक्खे हैं। भूल देखना मात्र इन का कर्त्तव्य है, फिर चाहे इन के भूल देखने में असंख्य भूलें भरीं पड़ीं हों। आप के उक्त सदुत्तरों की मूल प्रतिष्ठा क्या है ? यह भी जान लीजिए। "हम भी मनुष्य हैं। हमनें भी चिरकाल पर्यन्त श्रम कर के शिक्षा प्राप्त की है। हमारे पास भी बुद्धि है। बस जो बात हमारी समझ में बैठे, जो विज्ञान (जड़विज्ञान-भौतिकविज्ञान-क्षणिक विज्ञान) से सिद्ध हो, वही बात माननी चाहिए। जो बात हमारी समझ में न बैठे, किंवा जो प्रकृति (Nature) के विरुद्ध हो, उसे नहीं मानना चाहिए"।

अपने इसी अभिनिवेश में पड़ कर वेद के सम्बन्ध में भी इन की ओर से यही विचार उपस्थित किए जाते हैं कि "वेद एक सामयिक साहित्य ग्रन्थ है। शब्दरचना मनुष्य का ही कर्म्म माना जा सकता है। फलतः यह वेद पौरुषेय हैं, ऋषिकृत हैं। जिस युग में यह वेद बने थे, उस युग में इन का भले ही कोई उपयोग हुआ होगा। परन्तु जब विज्ञान के प्रभाव से आज सर्वथा युगपरिवर्त्तन होगया है तो ऐसे वैज्ञानिक युग में उस सामयिक साहित्य की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती"।

इस प्रकार वेद के सम्बन्ध में उक्त विचार प्रकट करने वाले उन सभ्य महानुभावों से हम निवेदन करेंगे कि प्रकृति देवी का वास्तविक स्वरूप आपने जितना सुविज्ञेय समझ रक्खा है, वास्तव में वह उतना ही दुर्विज्ञेय है। आरम्भ के ब्राह्मण वचन के अनुसार वस्तु का स्वरूप रहता कुछ और ही है, दिखलाई देता कुछ और है। सहसा उस के याथातथ्य का निर्णय कर डालना बड़ी भारी भूल है। प्रत्येक पदार्थ को देखने के लिए हमारे पास विज्ञानदृष्टि, अन्तर्दृष्टि, बाह्यदृष्टि भेद से तीन साधन हैं। प्रत्येक पदार्थ की स्वयं पूर्ण परीक्षा कर, उस के द्वारा किसी सत्य निर्णय पर पहुंचना विज्ञानदृष्टि है। इस के अनुयायी विद्वानों को हमनें पूर्व में "यथार्थग्राही" शब्द से सम्बोधित किया है। जिन परीक्षकों नें, जिन साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों नें शब्द द्वारा विज्ञानदृष्टि से परीक्षित पदार्थों का जो स्वरूप परिचय, हमारे सामने रक्खा है, वही शब्दराशि शास्त्र है। इस शास्त्रप्रमाण के आधार पर पूर्वापर का पूर्ण समन्वय करते हुए बुद्धिद्वारा वस्तु को देख कर, उस के सत्यस्वरूप को देखना ही अन्तर्दृष्टि है। इसी दृष्टि के अनुयायियों को हमनें "शास्त्रग्राही" कहा है। एवं अपनी चर्म्मचक्षुओं से किसी पदार्थ का निर्णय कर डालना बाह्यदृष्टि है। ऐसे ही महानुभाव कोमलश्रद्ध कहे जाते हैं। इन तीनों दृष्टियों में से विज्ञानदृष्टि को थोड़ी देर के लिए हम छोड़ते हैं। केवल अन्तः—बहिर्दृष्टियों की ओर आप का ध्यान आकर्षित करते हैं।

आंख-कान-नाक-जिह्वा-त्वचा-आदि के आधार पर किसी विषय का परिज्ञान करना ऐन्द्रियक ज्ञान है, यही बाह्यदृष्टि है। साधारण जनसमाज अधिकांश में इसी दृष्टि का अनुगमन करता है। एवं अन्तःकरणावच्छिन्न (मनोयुक्त) बुद्धिपूर्वक उस पदार्थ को देखना अन्तर्दृष्टि हैं।

विद्वत्समाज अधिकांश में इसी दृष्टि का पक्षपाती है। यह एक सिद्ध विषय है कि साधारण मनुष्य किसी पदार्थ का स्वयं जैसा स्वरूप मानता है, विचारशील विद्वान् की दृष्टि में वह स्वरूप सर्वथा अश्रद्धेय है। एवं एक विद्वान् किसी वस्तु का जैसा स्वरूप बतलाता है, उस पर जनसाधारण का विश्वास नहीं होता। फलतः विद्वानों की अन्तर्दृष्टि, एवं सामान्य जनों की बाह्यदृष्टि में प्रायः विरोध ही रहता है। इसी दृष्टिविरोधमूलक मतविरोध का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गी० २।६९।)।

उदाहरण के लिए जनसामान्य का यह विश्वास है कि—"पृथिवी नीचे है, उस के ऊपर आकाश है, एवं वह आकाश नीला है, पृथिवी मटिया रंग की है। पृथिवी समतल है, किन्तु आकाश अर्द्धगोलाकार है। हमारे मस्तक से ऊपर की ओर का भाग ऊंचा है, पैरों के नीचे का भाग नीचा है"। उधर अन्तर्दृष्टि के अनुयायी विद्वानों का कहना है कि 'आकाश के गर्भ में पृथिवी प्रतिष्ठित है, एवं पृथिवी के परमाणु-परमाणु में आकाश व्याप्त होरहा है। न कोई किसी के ऊपर है, न कोई किसी के नीचे है। अथवा दोनों दोनों के नीचे हैं, एवं दोनों दोनों के ऊपर हैं। पृथिवी वर्तुलवृत्ता है, आकाश का कोई आकार नहीं है। अतएव उस का क्षेत्रमान भी अशुद्ध है। पृथिवी का अपना प्रातिस्विक वर्ण (रंग) सर्वथा कृष्ण (काला) है। आकाश स्वच्छ है, नीरूप है। उत्तरध्रुवप्रदेश हमारे लिए ऊंचा स्थान है, दक्षिणध्रुव प्रदेश हमारे लिए नीचा स्थान है।"

उक्त दोनों दृष्टियों में से विद्वानों की अन्तर्दृष्टि ही सत्य मानी जायगी। यही अवस्था वेद के अपौरुषेयत्व की समझिए। बाह्यदृष्टि को प्रधानता देनें वालों की समझ में भले ही अपौरुषेयत्व का रहस्य न आवे, परन्तु अन्तर्दृष्टि के उपासक विद्वानों की दृष्टि में वेद की अपौरुषेयता पूर्णपरीक्षित, अतएव सर्वथा सत्य है। वर्त्तमानयुग के विद्वान् भी तो दोनों दृष्टियों की तुलना में अन्तर्दृष्टि को ही सत्य मानते हैं। जनसाधारण का विश्वास है कि पृथिवी स्थिर है, सूर्य्य एवं ग्रह पूर्व से

पश्चिम की ओर जारहे हैं। परन्तु अन्तर्दृष्टि को सत्य मानने वाले पश्चिमी विद्वान् भी सूर्य्य की स्थिरता पर विश्वास करते हुए पृथिवी को चल मानते हैं, एवं ग्रहों का पश्चिम से पूर्व में जाना स्वीकार करते है। बतलाइए कौन सा पक्ष प्रबल रहा ?

साथ ही में यह भी निर्विवाद है कि बाह्यदृष्टि से सम्बन्ध रखनें वाले पदार्थ बहुत ही कम संख्या में उपलब्ध होते हैं, एवं अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ अनन्त हैं। पदार्थों में भिन्न भिन्न शक्तिंए रहतीं हैं। उन शक्तियों की परीक्षा आप बहिर्दृष्टि से कभी नहीं कर सकते। परन्तु उन शक्तियों की सत्ता आप भी स्वीकार करते हैं। अपने विज्ञान भवन का हीं निरीक्षण कीजिए। पोप के युग में बहिर्दृष्टि को ही प्रधानता दी जाती थी। केवल कल्पित मिथ्या श्रद्धा का ही साम्राज्य था। फलस्वरूप अन्तर्दृष्टि रखने वाले सैंकड़ों विद्वान् बलिदान की वेदि पर भेंट चढ़ा दिए गए थे। क्या उस युग की साधारण जनता उन विद्वानों की अन्तर्दृष्टि पर विश्वास करती थी ? कभी नहीं। उस युग में कौन इस बात पर विश्वास कर सकता था कि बेतार के तार से (Wireless Telegrafice) हजारों कोसों पर बैठे हुए बात चीत की जासकती है। परन्तु आज वही जनता परीक्षा की कृपा से प्रत्यक्ष में इस घटना को देखती हुई विश्वास करने लग गई है। क्या वैज्ञानिक यह दावा कर सकते हैं कि उन्होंनें सभी अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष कर लिया। नहीं तो फिर अतीन्द्रिय-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले हमारे इस वेदापौरुषेयत्व पर बिना सोचे समझे क्यों आक्षेप किया जाता है।

आप जिन पदार्थों की सत्यता बाह्यदृष्टि पर अवलम्बित मानते हैं, हमारे विचार सें तो उन के लिए भी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है। अन्तर्दृष्टि को एकान्ततः छोड़ देने पर विशुद्ध बाह्यदृष्टि तो भ्रमज्ञान की जननी बन जाती है। इस परिस्थिति से क्या आप यह मान लेने के लिए तय्यार नहीं हैं कि दोनों दृष्टियों में अन्तर्दृष्टि ही अधिक प्रभाव रखती है ? इसी आधार पर हम यह सिद्धान्त स्थिर मान सकते सकते हैं कि एक ही पदार्थ अन्तर्दृष्टि, एवं बहिर्दृष्टि भेद से जहां दो प्रकार का दिखलाई दे, वहां अन्तर्दृष्टि से दृष्ट तत्व को सत्य मानना चाहिए, एवं बहिर्दृष्टि से दृष्ट स्वरूप को मिथ्या समझना चाहिए। कारण स्पष्टतम है। आत्मसत्य का बुद्धि द्वारा अन्तःकरण

के साथ सम्बन्ध होता है। अन्तःकरण (मन) का सत्य ही इन्द्रियों में आता है। इन्द्रियदृष्टि ही बहिर्दृष्टि है। इन्द्रियों की अपेक्षा हमारा मन आत्मसत्य के सन्निकट है। फलतः इस से देखा हुआ विषय इन्द्रियदृष्टि की अपेक्षा अवश्य ही निर्भ्रान्त होता है। बस इन्हीं सब कारणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बहिर्दृष्टि से देखा गया वेद का पौरुषेयत्व सर्वथा मिथ्या है, एवं अन्तर्दृष्टि की कसोटी पर कसा हुआ वेद का अपौरुषेयत्व सर्वथा निर्भ्रान्त है।

एक बात पर हम पाठकों का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। वह यही है कि जिन सेन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध से दोनों दृष्टिएं काम करतीं हैं, उन के सम्बन्ध में तो अन्तर्दृष्टा विद्वानों का निर्णय प्रमाण बन जाता है। परन्तु कितनें हीं पदार्थ ऐसे हैं कि जिन में केवल अन्तर्दृष्टि का ही अधिकार रहता है। अतीन्द्रिय सभी पदार्थ इस कोटि में अन्तर्भूत हैं। ऐसे विशुद्ध अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में विद्वानों में भी परस्पर मत भेद होजाता है, जो कि मतभेद दार्शनिक मर्य्यादा के अनुसार सर्वथा शास्त्रसिद्ध है। वेद का अपौरुषेयत्व भी अतीन्द्रियमात्र से ही सम्बन्ध रखता है, फलतः इस के सम्बन्ध में भी यदि हमें मतभेद उपलब्ध होंगे, तो उन का हमें आदर करना पड़ेगा।

पूर्व में हमने कहा है कि वस्तु ज्ञान के सम्बन्ध में विज्ञानदृष्टि, अन्तर्दृष्टि, बहिर्दृष्टि इन तीन दृष्टियों का उपयोग होता है। इन तीनों की मूलभित्ति श्रुति-स्मृति-लोकवृत्त यह तीन विभाग हैं। प्रत्यक्ष परीक्षा विज्ञानदृष्टि है, यही श्रुति है। प्रत्यक्षदृष्टिरूप श्रुति का अनुगमन करने वाली दृष्टि स्मृति है, जैसा कि आगे के—'श्रुतिशब्दमीमांसा" प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। तीसरी लौकिकदृष्टि है। जहां तक लौकिक दृष्टि से अन्तर्दृष्टि का विरोध न होता हो, वहां तक वह सत्य है, अन्यथा त्याज्य है। अन्तर्दृष्टि का दर्शन से सम्बन्ध है, विज्ञानदृष्टि विज्ञान है। विज्ञान निर्भ्रान्त तत्व है। उस में "इदमित्थमेव" का साम्राज्य है। फलतः विज्ञान सिद्धान्तों में मतभेद का अवसर नहीं आता। विज्ञान का जहां सत्ता से सम्बन्ध है, वहां दर्शन का भाति से सम्बन्ध है। दर्शन दर्शन है। यहां परीक्षा का अभाव है। द्रष्टा की योग्यतानुसार भातिमूलक दर्शन में तारतम्य संभव है। फलतः दर्शन में मतभेद होना स्वाभाविक बन जाता है। इसी

आधार पर भारतीय दर्शन ६ भागों में विभक्त माने गए हैं, जैसा कि ईशोपनिषदादिभाष्यों में निरूपित है। यह ६ स्वतन्त्र मत हैं, परन्तु ६ ओं का एकीकरण विज्ञान में होजाता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होजाता है कि सूचीकटाहन्याय का समादर करते हुए पहिले अन्तर्दृष्टि-मूलक वेदापौरुषेय सम्बन्धी दार्शनिकों के मत प्रस्तुत किए जांय, अनन्तर विज्ञानदृष्टि का आश्रय लेते हुए निश्चित सिद्धान्त की मीमांसा की जाय।

यदि अस्मत् सदृश कोई व्यक्ति वेद की अपौरुषेयता पर कलम उठाता है तो सनातन-धर्म्मावलम्बी विद्वान् क्षुब्ध हो जाते हैं, और कहने लगते हैं कि यह व्यक्ति नास्तिकता का प्रचार कर रहा है। परन्तु इन कोमलश्रद्ध भोले बन्धुओं को यह पता नहीं है कि स्वयं उन्हीं के शास्त्रों में (दर्शनों में) इस प्रश्न पर पर्याप्त वादविवाद हुआ है। स्वयं दर्शनशास्त्र ही इस सम्बन्ध में अपना कोई निश्चित सिद्धान्त वतलाने में असमर्थ हैं. बोलिए! ऐसी विषम परिस्थिति में आप की श्रद्धा को अखण्ड रखने के लिए किस उपाय का अवलम्बन किया जाय? हम तो जब अपनें शास्त्रों के मतों को उठा कर देखते हैं तो सहसा यह विचार करने लगते हैं कि ऐसे उलझन के विषय को सर्वथा छोड ही दिया जाय। वेद के जिस नित्यानित्य को लेकर दुर्धर्ष विद्वानों के परस्पर विरोधी वीसों मत जब हमारे सामनें आते हैं, तो हमारे जैसे नगण्य इस सम्बन्ध में क्या निर्णय कर सकते हैं। फिर भी आप्तकाम ईश्वर भी जब सृष्टि करते करते नहीं थकता, तो सहज सिद्ध वाणी की गति कैसे रोकी जा सकती है। "ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः" इस सूक्ति के अनु-सार हम भी इस सन्वन्ध में अपने टूटे फूटे विचार क्यों न अपनें सहयोगियों के समक्ष उपस्थित करें।

"वेद ईश्वरकृत है, वेद ऋषियों की पवित्र वाणी है, वेद से ईश्वर का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, वेद अग्नि-वायु-आदित्य से उत्पन्न हुए हैं" इन सब प्रवादों को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। पहिले इस वात पर विचार कीजिए कि भारतीय दार्शनिकों के वेदपौरुषेयत्वा पौरुषेयत्व के सम्बन्ध में क्या विचार हैं?

—०—

आदर्श से पिछड़ गया है, परन्तु यह किस की कृपा है ? इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत की इस हीनदशा का एकमात्र कारण उन कुटिल राजनैतिक विद्वानों की कुटिलता ही है, जिन का कि एकमात्र उद्देश्य अपनी अर्थलालसा को तृप्त करना है। हमारे उन अबोध बालकों को आज आरम्भ से ही यह सिखलाया जाता है कि—"तुम्हारे पूर्वज असभ्य थे, जंगली थे, लौह, ताम्र, अग्नि, सूर्य्य आदि जड़ पदार्थों के उपासक थे, विज्ञानशून्य थे। तुम्हें सर्वप्रथम सत्यता का पाठ हम पढ़ा रहे हैं। हमारे संसर्ग से तुम मानवजीवन के रहस्य को समझ रहे हो। तुम्हारे पास अपने घर क कोई मौलिक साहित्य नहीं है"। कहना नहीं होगा कि इस भीषण शिक्षायन्त्र से यन्त्रित, साथ ही में कुछ एक भौतिक सर्वनाशक आविष्कारों से उपलालित हमारे यह होनहार युवक अपने मौलिक साहित्य से वञ्चित रहते हुए आदर्श को भुलाते जारहे हैं। उन्हीं राजनैतिकों की कृपा से अर्थसमस्या को हल करने में अहोरात्र त्रस्त भारतवर्ष के पास आज इतना समय ही नहीं है कि वह अपनी प्राचीन संस्कृति के दर्शन कर सके। हमें अपने बचपन की उन घटनाओं का अच्छी तरह स्मरण है, जो कि भारत की वास्तविकता के बचे खुचे आलोक थे। लोग हरे वृक्ष के नीचे खड़े रह कर शपथ खाना पाप समझते थे, परसम्पत्ति का अपहरण करना आदर्श के विरुद्ध मानते थे। जो व्यक्ति अपने मुख से एक बार जो कुछ कह देता था, उसे यथाशक्ति निभाने में वह सदा सतर्क रहता था। इन २० वर्षों के भीतर भीतर इस देश के आदर्श का जो पतन हुआ है, वह अवश्य ही हमारे सर्वनाश की पूर्वसूचना है। आज लिखित स्टाम्पों का भी कोई मूल्य नहीं। असत्यमार्ग को अपनाना आज बुद्धिमानी समझी जारही है। एक दूसरे का सर्वस्व स्वाहा करना आज का आदर्श बन रहा है। क्यों ? उत्तर वही। जब तक उक्त महापुरुषों के द्वारा आविष्कृत उक्त जहरीले गेस का प्रभाव इस देश में न फैला था, तब तक यह देश अपने आदर्श में कैसा बढ़ा चढ़ा था ? इस का व्यवहार कितना सत्य था ? इन प्रश्नों का समाधान उन पश्चिमी विद्वानों से पूंछिए, जिन्होंने पक्षपात रहित बन कर इस सम्बन्ध में अपने सत्य-विचार प्रकट किए हैं।

१—सुप्रसिद्ध विद्वान् स्टेबो (!Stabo) कहते हैं—"They are so honest as neither to require locks to their doors not writings to bind their agreements."

२—एपिक्टेटस (Apicktatus) के सुयोग्य शिष्य एरियम (Arrian) जो दूसरी सदी में हुए हैं, लिखते हैं—"No Indian was ever known to till the untruth."

३—सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वयेनसांग लिखते हैं—"The Indians are distinguished by the straighi forwardness and honesty of their character. With regard to riches, they never take any thing unjustly with regard to justice, they make even excessive can cessions.

४—तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले मि॰ मार्को पोलो (Marco Polo) कहते हैं—"You must know that these Brahmins are the best merchants in the world and the most truthful, for they would not till a lie for anything on earth."

५—सरजॉन माल्कम साहब (Sir John Malcom Sahib) लिखते हैं—"Their truth is as remarkable as their courage."

१—"वे (भारतवासी) बड़े ईमानदार हैं। न तो उन्हें अपने दर्वाजों के ताले लगाने पड़ते हैं, एवं न दस्तावेजों के लिए लेख लिखना पड़ता है"।

२—"कोई हिन्दुस्तानी असत्य बोलता हुआ न जाना गया"।

३—"भारतवासी अपनी सरल प्रकृति एवं ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हैं। धन के सम्बन्ध में यह बात है कि वे अन्याय से कोई चीज नहीं लेते। न्याय के मामलों में वे बहुत रियायत करते हैं"।

४—"आप को जानना चाहिए कि ये ब्राह्मण संसार में सब से अच्छे व्यापारी, एवं सब से अधिक सच्चे हैं। वे इस पृथिवी पर की चीज के लिए झूठ नहीं बोलते"।

५—"उन का सत्यभाषण उतना ही उल्लेखनीय है, जितना कि उन का धैर्य्य"।

ग—वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय? इस सम्बन्ध में दार्शनिकों के विचार—

॥ श्रीः ॥

दार्शनिक-मत से सम्बन्ध रखने वाले

४१—मत

१—मीमांसामत ——→वेद अकृतक हैं, अपौरुषेय हैं, कूटस्थनित्य हैं।

२—नव्यन्यायमत ——→वेद ईश्वरकृत हैं, पौरुषेयापौरुषेय हैं, अनित्य हैं।

३—प्राचीनन्यायमत——→वेद ईश्वरावतारकृत हैं, पौरुषेय हैं, प्रवाहनित्य हैं।

४—सांख्यमत ——→वेद प्राकृतिक हैं, अपौरुषेय हैं, अनित्य हैं।

५—वैशेषिकमत ——→वेद महर्षिकृत हैं, पौरुषेय हैं, अनित्य हैं।

६—नास्तिकमत ——→वेद साधारण ग्रामीण मनुष्यों का व्यवस्थाशास्त्र है।

———o———

१—मीमांसामत में अवान्तर १२ मत।

२—नव्यन्यायमत में अवान्तर ७ मत।

३—प्राचीनन्यायमत में अवान्तर ५ मत।

४—सांख्यमत में अवान्तर ७ मत।

५—वैशेषिकमत में अवान्तर ७ मत।

६—नास्तिक मत में अवान्तर ३ मत।

———o———

४२ मत।

❀ श्रीः ❀
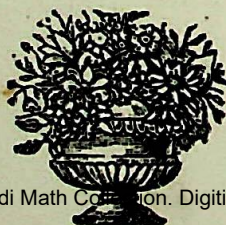
दार्शनिकमतप्रदर्शनम्

कर्म्मप्रधान ब्राह्मण भाग की मीमांसा करने वाली पूर्वमीमांसा (जैमिनिदर्शन), ज्ञान-प्रधान उपनिषद्भाग की मीमांसा करने वाली उत्तरमीमांसा (व्यासदर्शन), सांख्यदर्शन, प्राचीनन्याय, नव्यन्याय, वैशेषिकदर्शन, नास्तिकदर्शन इन ६ ओं दर्शनों नें वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, किंवा वेद के अपौरुषेयत्व पौरुषेयत्व सम्बन्ध में अपनें भिन्न भिन्न विचार प्रकट किए हैं। इस प्रकार वेदोत्पत्ति के सम्बन्ध में ६ प्रधान मत होजाते हैं। यदि इन के अवान्तर मतों का संग्रह किया जाता है तो ४२ मत होजाते हैं। इन्हीं मतों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराना इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है।

मीमांसादर्शनाभिमत मतप्रदर्शन

ब्राह्मणग्रन्थों में कर्म्मेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक जिन आदेशनावाक्यों में बाह्यदृष्टि से परस्पर विरोध प्रतीत होता है, उन का अन्तर्दृष्टि से समन्वय करने के लिए पूर्वमीमांसाशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस के कर्त्ता भगवान् जैमिनि हैं। इसी प्रकार उपनिषद्वाक्यों के विरोधसमन्वय के लिए उत्तरमीमांसाशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस के कर्त्ता महामुनि व्यास हैं। दोनों मिल कर एक मीमांसाशास्त्र है। इस मीमांसादर्शन के अनुसार "वेद सर्वथा अपौरुषेय हैं, अतएव सर्वथा नित्य हैं। वसिष्ठ, भरद्वाज, दीर्घतमा, हिरण्यगर्भ, बृहस्पति, अङ्गिरा आदि महर्षिगण वेद के द्रष्टा हैं, न कि कर्त्ता। शब्दानित्यता ही शब्दात्मक वेद की नित्यता, एवं अपौरुषेयता में प्रमाण है।" इस मत के समर्थक निम्न लिखित मीमांसासूत्र हमारे सामने आते हैं—

१—"वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः"। (पू०मी० १।१।२७)।

२—"अनित्यदर्शनाच्च"। (पू०मी० १।१।२८)।

३—"उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्"। (पू०मी० १।१।२९)।

४—"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्"। (पू०मी० १।१।३१)।

५—"शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"। (उ०मी० १।३।३८)।

६—"अत एव च नित्यत्वम्" । (उ०मी० १।३।३९)।

उक्त सूत्रों का तात्पर्य यही है कि "कितनें हीं महानुभावों का वेद की अपौरुषेयता के प्रति यह आक्षेप है कि वेद सर्वथा मनुष्यकृत हैं। कारण काठकं, कालापकं, पैप्पलादकं, मौद्गलं इत्यादि रूप से वेद का पुरुषविशेषों के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। इन समाख्या-वचनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि वेद अनादि नहीं है, अपितु सृष्टिरचना के अनन्तर पुरुष विशेषों के द्वारा बनाए हुए हैं। अपिच-"बबरः प्रावाहणिरकामयत"-"औद्दालकिरकामयत" इत्यादि वाक्यों के आधार पर भी वेद की अनित्यता ही सिद्ध है। प्रवाहण का पुत्र प्रावाहणि बबर था, वह एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। इसी प्रकार उद्दालक का पुत्र औद्दालकि भी एक ऐतिहासिक ही व्यक्ति था। हम देखते हैं कि "तेन प्रोक्तम्" (पाणि०सू०४।३।१०१।) के अनुसार तद्धित प्रत्यय का सम्बन्ध प्रोक्तार्थ के साथ ही माना गया है। ऐसी अवस्था में—'व्यासेन प्रोक्तं वैयासिकं भारतम्" इत्यादिवत्—'कठेन प्रोक्तं काठकम्"—"कौथुमं"—"तैत्तिरीयकं" इत्यादि समाख्यांओं के बल पर हम वेद को कृतक (मनुष्यकृत) ही कहेंगे। फलतः—"विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं, वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवत्" इस अनुमान के अनुसार हम वेद को सर्वथा पौरुषेय, अनित्य, एवं कृतक ही मानने के लिए तय्यार हैं।"

उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि समाख्या दोष का इस सम्बन्ध में कोई महत्व नहीं है। काठकं-कापिलं आदि समाख्या वचनों का अध्ययन सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के साथ सम्बन्ध है। कठ-कपिलादि वेदाध्ययन के सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हुए हैं, इसी आधार पर काठकं-कापिलं आदि समाख्या व्यवहार हमारे सामने आते हैं। अपिच बबर प्रावाहणि भी किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का नाम नहीं हैं। अपितु यह बबर शब्द प्रवहणशील वायु का ही बोधक है। ऐसी अवस्था में अनित्यता का भी अवसर नहीं आता।

अपिच-शब्द और अर्थ का परस्पर में उत्पत्तिसृष्ट सम्बन्ध माना गया है। शब्द के साथ ही अर्थ का प्रादुर्भाव हुआ है—जैसा कि पूर्व के—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः,

[त]स्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" (पू०मी०-१।१।५।) इस सूत्रप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। जब शब्द नित्य है, एवं उस का अर्थ नित्य है तो नित्य शब्दार्थरूप वेद की अनित्यता का प्रश्न ही नहीं रहता। फलतः निष्कर्ष यही निकलता है कि वेद सर्वथा अकृतक हैं। इन को किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। आप्त महर्षि वेद मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं। वह स्वयं उत्पन्न हुआ हो, यह बात भी नहीं है, क्योंकि शब्द नित्य है। साथ ही में अनादि विश्व के अर्थ, एवं तद्वाचक शब्दों का सम्बन्ध भी अनादि ही है। साथ ही में बहुत प्रयास करने पर भी हम इस के निर्म्माता का पता नहीं पाते। इसलिए भी इसे अपौरुषेय ही माना जासकता है।

पूर्वप्रतिपादित मीमांसादर्शन सम्मत मत के आधार पर, इसी मत को पुष्ट करने वाले अवान्तर १३ मत और होजाते हैं। उन्हीं का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है।

१-नित्यसिद्ध, अतएव कूटस्थ अपौरुषेय वेद ईश्वर से अभिन्न है

हमारा वेद शास्त्र विज्ञानमय है, विज्ञानघन है। उधर "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्मतत्व भी विज्ञानघन माना गया है। ऐसी स्थिति में वेद और ब्रह्म को हम एक ही वस्तु मानने के लिए तय्यार हैं। इसीलिए श्रुति-स्मृतियों में यत्र तत्र "अयं ब्रह्म सनातनम्"—"त्रयो वेदाः" इत्यादिरूप से ब्रह्म (ईश्वर) और वेद का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। ब्रह्म यदि सूर्य्य है, तो वेद उस की रश्मिएं हैं। ब्रह्म यदि उक्थ है, तो वेद उस उक्थ से निकलने वाले अर्क हैं। ब्रह्म यदि मूल है, तो वेद उसी मूल का तूलरूप है। ब्रह्म यदि प्राण (मुख्य-प्राण-अङ्गीप्राण) है, तो वेद उस के प्राणाः (अङ्गप्राण) हैं। ब्रह्म यदि अवयवी है, तो वेद उस का अवयव है। उक्थ, मूल, प्राण, अवयवीरूप ब्रह्म से अर्क, तूल, प्राणाः, अवयवरूप वेद को कथमपि पृथक् नहीं माना जासकता। "तस्य वाचकः प्रणवः" (योगसू०१।२७) के अनुसार यदि ब्रह्म का वाचक प्रणव है, तो वेद का वाचक भी ओङ्कार ही

है। यह तभी सम्भव है, जब कि वेद को ईश्वर से अभिन्न मान लिया जाय। "ब्रह्मैवेदंसर्वम्" के अनुसार विश्वोत्पत्ति के सम्बन्ध में जहां—"ब्रह्म से ही सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है" यह कहा जाता है, वहां "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे" (मनु१।२१) इत्यादि रूप से वेद से भी सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति बतलाई जारही है। फलतः वेद की ईश्वर के साथ सर्वात्मना अभिन्नता सिद्ध होजाती है। जिस प्रकार ईश्वर नित्य है, तथैव सर्वसृष्टिप्रवर्त्तक, तद्रूप (ईश्वररूप) वेदतत्त्व भी सर्वथा नित्य, एवं अपौरुषेय ही है। महाप्रलय में भी इस ईश्वरमूर्ति वेद का विनाश नहीं होसकता, खण्डप्रलयों की तो कथा ही क्या है। इसीलिए तो ईश्वर को वेदमूर्त्ति माना गया है। वेद ही ईश्वर है, ईश्वर ही वेद है। ईश्वरमूर्त्ति इसी वेद की अपौरुषेयता का प्रतिपादन करते हुए निम्न लिखित प्रमाण हमारे सामने आते हैं। अपौरुषेयता के साथ साथ इन प्रमाणों से प्रकृत प्रथम मत की (वेद ईश्वर से अभिन्न है—इस मत की) भी पुष्टि होती है।

१—"एष वेदो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिकॢप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥"

(श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।१७)।

२—"स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा।
शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः॥"

(श्रीमद्भागवत)।

३—"वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुमः"॥ (विष्णुस्मृति)

४—"आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित्"॥ (मनुः१२।२६५)

५—"ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत् कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं-
परं च ॥" (प्रश्नोपनिषत् ५।७।)

६—"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानं—भूतं, भवद्,
भविष्यादिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि-
ओङ्कारमेव" । (माण्डूक्योपनिषत्) ।

७—"ओमिति वै सर्वे वेदाः" ।

८—"तस्य वाचकः प्रणवः" । (पा०यो०सू०१।२७) ।

९—"चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" ॥ (मनुः१२।९७) ।

१०—"शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः" ॥ (मनुः१२।९८) ।

१.—सम्पूर्ण विश्व का उत्पादक होने से विश्वकर्म्मा नाम से, एवं विश्व का व्यापक (महा) आत्मा होने से महात्मा नाम से, एवं स्वयमेव प्रकट होने के कारण स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध यह वेदतत्त्व सदा प्राणियों के हृदय में प्रविष्ठ रहता है। वह सूक्ष्मतत्त्व हृदयस्थ मन से ही सम्बन्ध रखता है। अन्तर्यामी, नियतिःसत्य, साक्षी, कूटस्थ इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध हृदयस्थ, अतएव मनोमय इस वेद सत्य को जो विद्वान् हृदयावच्छिन्न बुद्धियुक्त मन से पहिचान लेते हैं, निःसन्देह वे मृत्युपाश से विमुक्त होते हुए अमृतभाव को प्राप्त होजाते हैं।

२—यह वेदभगवान् अपने आप प्रकट होने वाला शाश्वत तत्त्व है। शिव से आरम्भ कर ऋषिपर्यन्त जितनें भी आचार्य वेद के सम्बन्ध में विचार करनें वाले हुए हैं, वे सब इस नित्य वेद के कर्त्ता नहीं हैं, अपितु स्मर्त्ता हैं।

३—हम ऋषि परम्परा से यह सुनते आए हैं कि वेद साक्षात् नारायण (ईश्वर) स्वरूप है। साक्षात् स्वयम्भू (स्वयंप्रकट) है।

४—अकार, उकार, मकार के समन्वय से तीन अक्षर की समष्टिरूप जो आदि ब्रह्म है, उसी में त्रयीब्रह्म (त्रयीवेद) प्रतिष्ठित है। इस ब्रह्ममूर्त्ति अत्यन्त गुप्त (अतीन्द्रिय) वेद को जो जानता है, वही वेदवित् कहा जासकता है।

५—ऋक्‌रूप प्रथम मात्रा से इस मनुष्यलोक (पृथिवी लोक) को, यजुः स्वरूप द्विमात्रा से सोमलोकरूप अन्तरिक्षलोक को, एवं सामरूप त्रिमात्रा से उस लोक को, जो कि ब्रह्मलोक (दिव्यलोक) है, विद्वान् लोग प्राप्त करते हैं। अर्थात मर्त्य-त्रिलोकी की प्राप्ति का उपाय वेदत्रयीरूप अवरब्रह्म ही है। जैसे वह इस से उस अपर-ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ होता है, एवमेव उस परब्रह्म को भी उसी उद्गीथ ओङ्कार से ही वह प्राप्त कर सकता है, जो कि परब्रह्म अव्यक्त, अक्षर, अव्यय, परात्पर की समष्टिरूप होने से शान्त, अजर, अमृत, अभय एवं पर है।

६—ऋक्‌रूप, अकार, यजुरूप उकार, सामरूप, मकार की समष्टिरूप अक्षरात्मक "ओम्" यह एकाक्षर ही यह सब कुछ [विश्व] है। अर्थात् वेदमूर्त्ति प्रणवब्रह्म ही विश्वरूप में परिणत होरहा है। इस ओङ्कार की महिमा का बखान इस से अधिक और क्या हो सकता है कि भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों काल इसी का उपबृंहण है। इन तीनों से जो कुछ (त्रिकालातीत) बाकी बचा हुआ है, वह भी यही ओङ्कार है।

७—"ओम्" ही ऋक्—साम—यजुरूप सारे वेद हैं।

८—ईश्वरतत्व का वाचक प्रणव (ओङ्कार) ही है।

९—चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, भविष्यत, वर्त्तमान सब कुछ वेद से ही निष्पन्न हुए हैं।

१०-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नाम से प्रसिद्ध पाचों तन्मात्राएं, वैदिक कर्म निबन्धन सत्व-रज-तम नाम के तीनों गुण, एवं उत्पन्न होनें वाले और और सब पदार्थ वेद से ही उत्पन्न हुए हैं।

—१—

२—नित्यसिद्ध, अतएव कूटस्थ अपौरुषेय वेद ईश्वर के तुल्य है

वेद की अपौरुषेयता में दूसरा मत यह है कि नित्य सिद्ध यह अपौरुषेय वेद ईश्वर के *समकक्ष है। शब्द एवं पर भेद से ब्रह्म के दो विवर्त्त माने गएं हैं। परब्रह्म-शब्दब्रह्म दोनों समानधारा से प्रवाहित हो रहे हैं। जैसा स्वरूप परब्रह्म का है, ठीक वैसा ही स्वरूप शब्दब्रह्म का है। परब्रह्म विवर्त्त में यदि अव्यय-अक्षर-क्षर भेद से तीन विवर्त्त हैं, तो शब्दब्रह्म प्रपञ्च भी स्फोट-स्वर-वर्ण इन तीन भागों में ही विभक्त है। परब्रह्म का अक्षर विवर्त्त यदि ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, अग्नि, सोम इन पांच भागों में विभक्त है तो शब्दब्रह्म का अक्षरस्थानीय स्वर प्रपञ्च भी अ-इ-उ-ऋ-लृ इन पांच भागों में ही विभक्त है। परब्रह्म का अव्यय विवर्त्त यदि अखण्ड-निर्विकार है, तो शब्दब्रह्म का अव्ययस्थानीय स्फोट भी अखण्ड निर्विकार ही है। वहां यदि क्षर का आलम्बन अक्षर, एवं सर्वालम्बन अव्यय है तो यहां भी क्षरस्थानीय वर्ण का आलम्बन अक्षर स्थानीय स्वर है, अव्ययस्थानीय स्फोट सर्वालम्बन है। इस प्रकार ईश्वर नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म, एवं वेद नाम से प्रसिद्ध शब्दब्रह्म दोनों सर्वथा समतुलित हैं। दोनों तत्व सर्वथा अभिन्न हैं। दोनों ही नित्य, एवं स्वतःप्रमाण हैं। शब्द का अर्थ ही परब्रह्म है, वही प्रमेय है। प्रमाण एवं प्रमेय के अतिरिक्त तीसरी वस्तु का अभाव है। यद्यपि बाह्यदृष्टि से दोनों ही अनित्यवत् प्रतीत होते हैं, परन्तु अन्तर्दृष्टि से विचार करने पर दोनों की नित्यता भलीभांति समझ में आजाती है। साथ ही में यह भी एक सिद्ध विषय है कि प्रत्येक दशा में प्रमाण ही प्रमेय की प्रतिष्ठा बनता है। प्रमाण के अभाव में प्रमेय को सिद्ध करना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। प्रमेय परब्रह्म

---

*संवत्सर प्रजापति ही त्रैलोक्याधिष्ठाता ईश्वर है। इस संवत्सर प्रजापति के १०८०० (दस हजार आठसौ) मुहूर्त होते हैं। एवं इधर हमारी इस वेदत्रयी के भी १०८०० ही पंक्तियुग्म हैं। इस प्रकार- "अथ सर्वाणि भूतानि प्रैक्षत् स त्रय्यामेव विद्यायाम्', (शत १०।४।२।२२) के अनुसार जो स्वरूप संवत्सर प्रजापति का है, वही स्वरूप वेद का है। अतएव वेद को हम ईश्वर के समकक्ष मानने के लिए तय्यार हैं, जैसा कि आगे के विज्ञानदृष्टि-प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा।

के प्रमाण भूत इसी अपौरुषेय ईश्वरसमकक्ष वेद से सम्पूर्ण सृष्टिएं हुई हैं, होरही हैं, एवं होंगी, जैसा कि पूर्वोपात्त प्रथम मत के ९–१० मनुवचनों से स्पष्ट है। इसी द्वितीय मत का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

१—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" (उपनिषत्)।

२—"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं निरञ्जनम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः"॥ (वाक्यपदी)।

३—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (गीता)।

४—"द्वे विद्ये वेदितव्ये—इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैव, अपरा च। तत्र अपरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदः। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। +++ तदव्ययं तद्भूत योनिं परिपश्यन्ति धीराः (मुण्डक १।१।४-५-६-)।

५—"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" (प्रश्नोपनिषत् ५।)

१—शब्दब्रह्म, एवं परब्रह्म भेद से ब्रह्म के दो विवर्त्त हैं। (जो विद्वान् इन दोनों के समत्व को समझता हुआ) शब्दब्रह्म का यथावत् परिज्ञान कर लेता है, वह (इसी समता के प्रभाव से) परब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।

२—शब्दतत्व (परब्रह्मवत्) सर्वथा निरञ्जन है, अनादिनिधन (नित्य) है। इसी शब्दब्रह्म से अर्थद्वारा सम्पूर्ण विश्व का सञ्चालन हो रहा है।

३—मैं ही (परब्रह्म–अव्ययनाम से प्रसिद्ध ईश्वररूप प्रमेय) सम्पूर्ण वेदोंसे (वेदरूप शब्द प्रमाणों से) जानने योग्य हूं। (क्यों कि मेरे समकक्ष) वेद ही मेरा वास्तविक स्वरूप बतला सकते हैं।

४—ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का कहना है कि (इस विश्वमें) **परा** और **अपरा** नाम की दो विद्याएं हीं जानने योग्य हैं। इन दोनों के परिज्ञान से सब कुछ परिज्ञात हो जाता है। इन में साङ्गवेदविद्या (शब्दब्रह्म) का ही नाम **अपरा विद्या** है। पराविद्या वह विद्या है, जिससे कि अक्षर का परिज्ञान किया जाता है। वह (अक्षर) ही अव्यय है, वही भूतयोनि (क्षर) है। ऐसे इस त्रिमूर्त्ति अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति आत्मविद्या नामक पराविद्यात्मक ब्रह्मतत्व को धीर लोग (अपराविद्या के सहारे-ज्ञान चक्षु का आश्रय लेते हुए) देखा करते हैं।

५—हे सत्यकाम! यही **पर** (ईश्वर) एवं **अपर** (वेद) नामका ब्रह्म हैं, जो कि (समष्टिरूप से) **ओङ्कार** नामसे [उपनिषदों में] प्रसिद्ध है।

३

३—नित्यसिद्ध कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय यह वेद **ईश्वर का निश्वास** है—

इस तृतीय मत का तात्पर्य्य यही है कि **अध्यात्मसंस्था** में जो स्थिति निःश्वास की है, निःश्वास का एवं हमारा (आत्मा का) परस्पर में जो सम्बन्ध है, **अधिदैवतसंस्था** में वही स्थिति वेद की है, वेद का और ईश्वर का परस्पर में वही सम्बन्ध है। 'जब तक सांस, तब तक आस' इस लोकव्यवार के अनुसार जब तक निःश्वास है, तभी तक हमारी सत्ता है। दूसरे शब्दों में जब तक निःश्वास है, तभी तक (इस शरीरसंस्था में) जीवात्मा स्वसत्ता से प्रतिष्ठित है। ठीक इसी तरह वेदसत्ता ही (उस अधिदैवतसंस्था में) ईश्वरसत्ता का कारण है। वेद का अस्तित्व ही ईश्वर का अस्तित्व है। जिस प्रकार निःश्वास क्रिया का संचालन करता हुआ भी प्राणी निःश्वास का कर्त्ता (उत्पादक) नहीं है, एवमेव निश्वासवत् ईश्वर से स्वयमेव संचालित वेद को भी ईश्वर से निर्म्मित नहीं कहा जासकता। यही इस वेद का अकर्तृत्व, अतएव अपौरुषेयत्व, अतएव नित्यकूटस्थत्व है। सुप्रसिद्ध **शारीरकदर्शन** (वेदान्तदर्शन) का यही मुख्य सिद्धान्त है। उसने वेद को ईश्वर का निःश्वास ही माना है। इस मत का समर्थक निम्नलिखित श्रौतप्रमाण हमारे सामने आता है—

* स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः साम वेदोऽथर्वाङ्गिरसइतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निश्वासितानि"

(बृ०उप २।४।१०)।

४—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद को ईश्वरानुग्रह से ब्रह्मानें प्राप्त किया है

नित्यसिद्ध इस वेदतत्व को ईश्वर के अनुग्रह से आदिदेव ब्रह्मा नें प्राप्त किया है। सर्व-सृष्टिप्रवर्त्तक, सृष्टि का आदिभूत हिरण्यगर्भ प्रजापति ही ब्रह्मा है। सब से पहिले इसी के

* जिस प्रकार गीली लकडियों से प्रज्वलित अग्नि से चारों ओर से (विस्फुलिंग एवं) धूम निकलते हैं, हे मैत्रेयी उस परमात्मरूप महाभूत का वह निःश्वासरूप ही है, जो कि ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्वाङ्गिरा नाम से प्रसिद्ध अथर्ववेद इतिहासात्मक (वैज्ञानिक इतिहासरूप) ब्राह्मण, पुराण, देवजन, परिमर, प्रवर्ग्यादि विद्याएं, उपनिषद, निगद-मन्त्ररूप श्लोक, आत्मेत्येवोपासीत इत्यादि रूप सूत्रसंग्रह, मन्त्रविवरणात्मक अनुव्याख्यान, अर्थवादात्मक व्याख्यान इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यह सब उसी के निःश्वास हैं" । "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यादि के अनुसार वेदतत्व मन्त्र-ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त हैं। इन में मन्त्रभाग ऋक्[१], यजुः[२], साम[३], अथर्व[४] भेद से चार भागों में विभक्त है। एवं ब्राह्मणभाग इतिहास[१], पुराण[२], विद्या[३], उपनिषद[४], श्लोक[५], सूत्र[६], अनुव्याख्यान[७], व्याख्यान[८] भेद से आठ भागों में विभक्त हैं। यह मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय वेद ईश्वर का निःश्वास है, यही तात्पर्य्य है।

हृदय में वेदतत्त्व का विकास हुआ। ब्रह्मानें वेदरचना नहीं की, अपितु वेदमन्त्र जैसे जैसे इन-के हृदय में ईश्वरीय प्रेरणा से उद्बुद्ध होते गए, वैसे वैसे ही इन के मुख से मन्त्र निकलते गए। प्रथम विकास के लिए ब्रह्मा का अपनी ओर से कोई प्रयास नहीं था। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि वेद में जिन पदार्थों का निरूपण हुआ है, सृष्टि के आरम्भकाल में (जब कि हिरण्यगर्भ वेदरचना के लिए सन्नद्ध हुए थे) उन पदार्थों में से किसी एक की भी सत्ता न थी। ऐसी स्थिति में आदिकाल में क्योंकर वेदपदार्थ की वे इच्छा कर सकते थे। बिना किसी सामग्री के, साधन के अपनें आप ज्ञान का प्रादुर्भाव होना ईश्वरदत्तविभूति नहीं है तो और क्या है। किसी भी विषय के ज्ञान होजानें पर तो उस के लिए कोई भी प्रयत्न कर सकता है, परन्तु सर्वज्ञान से पहिले क्योंकर प्रयत्न किया जासकता है।

अपिच प्रत्येक व्यक्ति स्वबुद्धि की योग्यता के अनुसार ही कुछ कार्य करता है। जैसी समझ, वैसा काम। इस से भी हम इसी आशय पर पहुंचते हैं कि समझ (ज्ञान) पुरुष का व्यापार नहीं है, अपितु यह एकमात्र ईश्वर की देन है। इस सामान्य नियम के अनुसार विश्वसृष्टि के लिए भी ब्रह्मा की जैसी समझ थी उसी का प्रयोग ब्रह्मा की ओर से हुआ। इस समझ में (सृष्ट्युत्पादन हेतुभूत वेदज्ञान) ब्रह्मा सर्वथा परतन्त्र थे। यह ब्रह्मा में प्रादुर्भूत हुई है, ब्रह्मानें इसे उत्पन्न नहीं किया है। एसी अवस्था में इस ज्ञानराशिरूप वेद को ईश्वरप्रदत्त होनें से हम अवश्य ही अपौरुषेय, एवं नित्य माननें के लिए तय्यार हैं। इस मत के उपोद्बलक निम्नलिखित प्रमाण हमारे सामनें आते हैं—

१—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्चास्मै प्रहिणोति वेदम्" (उपनिषत्)।

२—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ (श्वे. उप. ६।१८)

१—जो (सृष्टिकर्म्म के लिए सृष्टि के) आरम्भकाल में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, जो कि इस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिरचनार्थ) वेद समर्पित करता है"।

२—जो ईश्वर आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, जोकि ब्रह्मा के लिए वेदों को प्रवृत्त

३—"चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठन्—तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनु गतानर्थान् ससर्जेति गम्यते"

(शाबरभाष्य १।३।८।)

—४—

५—नित्यसिद्ध कूटस्थ अतएव अपौरुषेय वेद को ईश्वरानुग्रह से महर्षियों ने प्राप्त किया है

नित्यसिद्ध इस वेद से अपनें चिरकालिक तपोयोग से ऋषियोंनें अपनें अन्तःकरण को सर्वथा निर्मल बनाया। इस निर्म्मल अन्तःकरण में आर्षदृष्टिद्वारा ईश्वर के अनुग्रह से ऋषि-

---

करता है, आत्मा (कर्म्मात्मा), एवं बुद्धि के प्रकाशक उसी देव (ब्रह्म) की मैं मुमुक्षु शरण में जाता हूं।

३—"जो व्यक्ति किसी अर्थप्राप्ति की, किंवा अर्थनिर्म्माण की इच्छा करता है, इस अर्थेच्छा से पहिले (अर्थेच्छा को पूर्ण करने वाले) उस अर्थ के वाचक शब्द का पहिले स्मरण करता है। स्मृतशब्द के आधार पर वह अभीप्सित अर्थ संपादित करने में समर्थ होता है" यह स्थिति हम सब के लिए प्रत्यक्ष है। अर्थात् लोक में हम वाच्यअर्थ की सिद्धि के लिये तद्वाचक शब्द की स्मृति की ही प्रधानता देखते हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि सृष्टिरूप अर्थ की इच्छा (सृष्टिनिर्म्माणेच्छा) रखने वाले प्रजापति के मन में भी सृष्ट्यर्थवाचक शब्द ही पहिले प्रादुर्भूत हुए। पीछे प्रजापति (ब्रह्मा) ने स्मृतवेदशब्दों के अनुकूल अर्थों को उत्पन्न किया"।

—४—

योंनें वेद प्राप्त किया। "अनन्ता वै वेदाः" (तै० ब्राह्मण) के अनुसार वेद अनन्त हैं। सम्भव है, सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भनें अनन्त वेदों को प्रकट किया हो। परन्तु जो वेद आजदिन हमें उपलब्ध होते हैं, वह यज्ञात्मक होते हुए सर्वथा सीमित हैं। शाखा, मण्डल, सूक्त, ऋचा, पद, अक्षर, वर्ण पङ्क्तिएं सब परिगणित हैं। अतः इन उपलब्ध वेदों को कदापि अनन्त नहीं माना जासकता। ऐसी स्थिति में मानना पड़ता है कि यह परिगणित वेद ऊर्ध्वरेता ऋषियों के हृदय में ईश्वर के अनुग्रह से स्वयं प्रकट हुए हैं। ऋषियों के हृदय में वेद प्रकट हुआ है, ऋषियोंनें वेद का निर्म्माण नहीं किया है। ऋषि इनके द्रष्टा, स्मर्त्ता मात्र हैं, एसा यह वेद अवश्य ही अपौरुषेय, कूटस्थ एवं नित्य कहलानें योग्य है। इस मत के समर्थक निम्नलिखित प्रमाण हीं पर्य्याप्त हैं।

१—"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा" ॥ (व्याससमृतिः)

२—"ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्व्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः" ॥

३—"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"।

१—युग युग के अन्त में (ध्रुवपरिभ्रमण के तारतम्य से) लुप्त होने वाले सेतिहास (सब्राह्मण) वेदों को युग युग के आदि में अपने तपोबल के प्रभाव से ईश्वर से प्रेरित वेदों को महर्षियोंने प्राप्त किया।

२—वेद के सम्बन्ध में ऋषियों के जो नाम सुने जाते हैं, इन ऋषियों का वेद सम्बन्धी जो दर्शन (दृष्टि प्रत्यक्ष) है, उन्हीं नामधेयों को (तत्तन्नामवाले ऋषियों को) विश्वप्रलयरूपा रात्रि के अवसान में (युगारम्भ में) ईश्वर वेद प्रदान करता है।

३—महर्षिगण वेद के द्रष्टा हैं।

४—"साक्षात् कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः"।

—==*==—

६—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद को अजपृश्नि ऋषियों नें प्राप्त किया है *

नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अपौरुषेय वेद को ईश्वर के अनुग्रह से अपने तपोबलद्वारा अजपृश्नि नामक ऋषियों नें प्राप्त किया है। वेदानुक्रमणिका के अनुसार आकृष्टमाष, सिकतानिवावरी, अजपृश्नि ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। 'आकृष्ट—माषाः"—"सिकता—निवावरी"—"पृश्नयो—ऽजाः" के अनुसार इन तीनों ऋषियों के दो दो नाम हैं। ये नाम इन के व्यक्तिभाव से सम्बन्ध न रख कर गुणभाव से ही सम्बन्ध रखते हैं। इन तीनों में से सर्वप्रथम अजपृश्नि नाम के ऋषि में ही वेद प्रकट हुआ। यह वेद अजपृश्निद्वारा निर्म्मित नहीं, अपितु ईश्वरद्वारा इन में प्राप्त है। फलतः वेद की अपौरुषेयता, एवं नित्यता में कोई आपत्ति नहीं आती। इस मत का समर्थक निम्न लिखित श्रुतिवचन है—

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू अभ्यानर्षत्।
तद् ऋषयोऽभवन्। त एतं ब्रह्मयज्ञमपश्यन्॥

———o———

५—जिन महापुरुषों नें आर्षदृष्टि से वेदधर्म्म, किंवा वेदपदार्थ का साक्षात्कार कर लिया है, वे ही "ऋषि" नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

—=*५*=—

* अजपृश्नि नाम के महर्षियों की ओर, जो कि वेदप्राप्ति के लिये तपश्चर्या कर रहे थे, स्वयम्भूब्रह्म (ईश्वर वेदप्रदान के लिये) अनुगत हुआ। (ईश्वरीयप्रेरणा से प्राप्त वेद के प्रभाव से ही) अजपृश्नि "ऋषि" नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने ब्रह्म (ईश्वर) के यज्ञरूप वेद का साक्षातकार किया।

७—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद को अथर्वाङ्गिरा ऋषि ने ईश्वरानुग्रह से प्राप्त किया।

ऋषियों की सम्प्रदाय में अथर्वाङ्गिरा नाम के एक प्रसिद्ध महर्षि हो गए हैं। अङ्गिरा प्राण की परीक्षा में सफल होनें के कारण ही यह अङ्गिरा नाम से प्रसिद्ध हुए। इन की एक स्वतन्त्र "ब्रह्मपर्षत्" (ब्रह्मपरिषत्) थी। इसके यह अध्यक्ष थे। अध्यक्ष को वेदभाषा में "ब्रह्मा" कहा जाता है। अतएव अध्यक्ष पदारूढ कुलपति यह अङ्गिरा ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध हुए। अपि च आर्त्विज्य (ऋत्विक्कर्म) में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण भी उस युग में इन्हें ब्रह्मा कहा जाता था। इनके सभी वंशधर अंगिरा प्राण की उपासना (परीक्षा) के कारण अङ्गिरा-आङ्गिरस नामों से प्रसिद्ध हुए। मूलपुरुषभूत ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध इन्ही अङ्गिरामहर्षि ने सर्वप्रथम वेद को प्रकाशित किया, एवं इस प्रकाशित त्रयी वेद को (यज्ञप्रचारार्थ) सर्वप्रथम अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा में प्रतिष्ठित किया। दूसरे शब्दों में स्वयं अङ्गिरा ने वेद प्राप्त किया, एवं पहिले पहिल अथर्वा को इसका मुख्य शिष्य बनाया। पूर्ण विद्वान् विदितवेदितव्य आङ्गिरस अथर्वा महर्षि ने पिता से प्राप्त इस त्रयीवेद के आधार पर विश्व में सर्वप्रथम यज्ञविद्या का आविष्कार किया। अथर्वा से आरम्भ कर त्रेतायुग पर्य्यन्त इस यज्ञविद्या की क्रमशः उन्नति होती रही। परन्तु बाद में विज्ञानभाव के नष्टप्राय होजानें से यज्ञविद्या का क्रमशः ह्रास ही होता गया। इस प्रकार अथर्वाङ्गिरा द्वारा ही यद्यपि सर्वप्रथम वेद प्रकट हुआ, परन्तु यह भी इसके प्रवर्त्तक मात्र ही रहे। फलतः वेदापौरुषेयत्व, एवं नित्यत्व पर कोई आघात नहीं हुआ। इस मत के पोषक निम्न लिखित आप्त वाक्य हैं।

१—आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥
(ऋक्सं० १।८३।४।)।

१—जिस समय पणि नाम के प्रसिद्ध असुरों नें बृहस्पति की गाएं चुरालीं, उस समय अङ्गिरा महर्षियों नें प्रथम प्रथम इन्द्र के लिए वयलक्षण अन्नरूप हवि का (यज्ञप्रक्रिया

२—यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥
(ऋक्सं० १ । ८३ । ५ ।) ।

३—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
(मुण्डक० १।१।१)

४—अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥
(मुण्डक० १।२।३)

द्वारा) सम्पादन किया । प्रज्वलित अग्नि से (यज्ञाग्नि से) युक्त होते हुए, अग्निमूर्त्ति इन अङ्गिराओं नें सर्वश्रेष्ठ शम्या नाम के यज्ञकर्म्मद्वारा पणियों की गौ, अश्व, पशुरूपा सारी सम्पत्ति वापस छीनली । यज्ञाविष्कारक अङ्गिराओं के यज्ञबल से ही इन्द्र असुरों को परास्त करने में समर्थ हुए, यही तात्पर्य्यार्थ है ।

२—अथर्वा (नाम के ब्रह्मा के ज्येष्ठपुत्र) ने यज्ञों से पहिला मार्ग वितत किया । अर्थात् अथर्वाने ही सर्वप्रथम यज्ञविद्या का आविष्कार किया । इसी यज्ञ के प्रभाव से (यज्ञजनित बल से) यज्ञव्रतों के रक्षक ज्योतिर्म्मय सूर्य्यसदृश प्रतापी इन्द्र पणीवध के लिए प्रकट हुए। अथर्वा उन गायों के सामने आए । कवि के पुत्र उशना असुरों के विनाश के लिए उस इन्द्र के सहायक हुए, जिस मरणरहित इन्द्र की हवि से हम तृप्त किया करते हैं ।

३—सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था करनें वाले, रक्षक ब्रह्मा ही सब भौम देवताओं के पहिले प्रकट हुए । इन्होंनें सब विद्याओंकी प्रतिष्ठारूप ब्रह्मविद्या (वेदविद्या) को अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा में प्रतिष्ठित किया ।

४—ब्रह्मा ने अथर्वा के लिए जिस ब्रह्मविद्या का प्रदान किया, अथर्वा नें पिता से प्राप्त उस ब्रह्मविद्या का सर्वप्रथम अङ्गिरा को उपदेश दिया । अङ्गिरा नें भरद्वाजवंश में उत्पन्न, अतएव

५-मन्त्रेषु कर्म्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष व पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥
(मुण्डक० १।२।)

६-त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे ।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा ॥ १ ॥
त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा ।
संरोधादायुषस्त्वेते भ्रंश्यते द्वापरे युगे ॥ २ ॥
दृश्यंते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः ।
उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवला धर्म्मपीडिताः ॥ ३ ॥
(महाभा० शान्ति० मो० २३४ अ०)।

भारद्वाज नाम से प्रसिद्ध सत्यवाह को ब्रह्मविद्या प्रदान की। भारद्वाज ने परावरलक्षणा इस विद्या का उपदेश अपने शिष्य अङ्गिरा को दिया। अथवा ऊपर से क्रमशः नीचे की ओर आने के कारण परावरा नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मविद्या को अङ्गिरा में प्रतिष्ठित किया।

५—ऋषिलोगों नें वेदमन्त्रों में जिन कर्म्मों को देखा, वे यज्ञकर्म्म त्रेतायुग में अनेक प्रकार से व्याप्त हुए। अर्थात् मन्त्रों से आविष्कृत यज्ञविद्या का त्रेतायुग में बहुत प्रचार हुआ। तुम आज भी उन्हीं यज्ञकर्म्मों को व्यवहार में लाओ। यह तुम्हारे लिए सर्वश्रेष्ठ उन्नति का मार्ग है।

६—पूर्वप्रतिपादित यज्ञों की विधि त्रेतायुग के लिए है। कृतयुग [सत्ययुग] में इस का अभाव है। इसी प्रकार द्वापरयुग में ये यज्ञ सर्वथा विप्लवभाव को प्राप्त होजाते हैं। १।

८—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद ईश्वर के वाक्य हैं, ईश्वर ही इनका सम्प्रदायप्रवर्त्तक है।

नित्यसिद्ध वेद ईश्वर के वाक्य हैं। स्वयं ईश्वर ही इसका सम्प्रदायकप्रवर्त्तक है। उसी ने अपने हीं द्वारा विश्व में वेदविभूति का प्रसार किया है। इसी वेदवाणी से ईश्वर ने सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण किया है। शिवादि ऋषिपर्य्यन्त सभी महापुरुष इसके ज्ञातामात्र थे। न उन्होंनें वेद बनाया, न सम्प्रदाय के वे आदिप्रवर्त्तक हुए। इस मत के समर्थक निम्न लिखित प्रमाण हमारे सामने आते हैं—

१—तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्॥ (ऋक्सं० ८।७५।२५।)।

२—अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।
(मुण्डक० २।१।)।

त्रेतायुग में धर्म में मनुष्यों की स्वतः अप्रवृत्ति रहती है। इसीलिए धर्म्मव्यवस्थापकों नें इस युग में वेदपारायण, यज्ञ, तथा वर्णाश्रमों का विधान किया है। आगे जाकर आयु की कमी से द्वापर में ये भी उच्छिन्न हो जाते हैं।२ कलियुग में वेद नाममात्र को कहीं कहीं दिखलाई पड़ते हैं। यज्ञसहित वेद इस युग में उच्छिन्न होजाते हैं। नाममात्र के अवैध यज्ञादि, जिन से कि धर्म्म पीडित होता है, रह जाते हैं।

१—हे विरूप! (नाम के महर्षि?) आप उस प्रसिद्ध वर्षक अग्नि की तृप्ति के लिए मन्त्ररूप नित्या वाक् से स्तुति करें।

२—उस ईश्वर का अग्नि मस्तक है, चन्द्र-सूर्य्य चक्षु हैं, वेद वाक् के विवर्त्तरूप हैं, अर्थात् वेद उसकी वागिन्द्रिय है, वायु प्राण है, विश्व उसका हृदय है। वह पैरों से पृथिवी पर प्रतिष्ठित है। ऐसा वह सर्वभूतान्तरात्मा सर्वत्र व्याप्त है।

३—अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

४—स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ।
शिवाद्या ऋषिपर्य्यन्ता स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः ॥

५—"उत्सर्गोऽप्ययं वाचः सम्प्रदायप्रवर्त्तनात्मको द्रष्टव्यः ।
अनादिनिधनाया अन्यादृशस्योत्सर्गासम्भवात्" ॥
(शां०भा० १।३।२८।)।

६—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय यह वेद चतुर्मुख ब्रह्मा का वाक्य है, ब्रह्मा ही इन का सम्प्रदायप्रवर्त्तक है ।

यह नित्यसिद्ध वेद चतुर्मुखब्रह्मा के वाक्य हैं । सृष्टिनिर्म्माता स्वयम्भू ब्रह्मा के मुख से सर्वप्रथम इस वेदवाक् का ही विनिर्गम हुआ है । इसी नित्यावाक् के आधार पर ब्रह्मा सृष्टि-

---

३—अनादिनिधना (मरणधर्म्मशून्या अतएव) सर्वथा नित्या (वेद) वाक् स्वयम्भू के (मुख से) उद्भूत हुई आदि में विशुद्ध वेदमयी यह वाक् सर्वथा दिव्या है, जिस दिव्या वेद वाक् से कि सम्पूर्ण विश्व की प्रवृत्ति (रचना) हुई है ।

४—स्वयम्भू भगवान् ने (ईश्वर ने) ही सर्वप्रथम (अपने मुख से) वेद का विस्तार किया है । शिव से आरम्भ कर सब वेदमहर्षि इस के स्मर्त्ता हुए हैं, न कि कर्त्ता ।

५—उत्सर्गरूप उद्भव (उत्पत्तिभाव) भी वाक् (वेदवाक्) का सम्प्रदायप्रवर्त्तनात्मक ही समझना चाहिए । क्योंकि अनादिनिधना नित्या वाक् का कोई उत्पादक नहीं हो सकता ।

निर्म्माण कर्म्म में समर्थ हुए हैं। यह स्वयम्भू ब्रह्मा वेद के आदिसम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं, न कि वेदों के निर्म्माता। ईश्वर के अनुग्रह से इन्हीं के मुख से [प्राणमुख नाम के प्रथम मुख से) सर्वप्रथम नित्या वेदवाक् बाहर निकली है। जिस प्रकार नित्यसिद्ध पुराणतत्त्व के ब्रह्मा स्मर्त्ता हैं, तथैव वेद के भी ये स्मर्त्ता ही हैं। अपिच जिस तरह नित्यसिद्ध पुराणविद्या को भगवान् वेदव्यास ने प्रकाशित किया है, उन्होंनें पुराण बनाया नहीं है। व्यास पुराणों के सम्प्रदाय प्रवर्त्तकमात्र हैं, एवमेव ब्रह्मा भी वेद के सम्प्रदायप्रवर्त्तकमात्र हैं, कर्त्ता नहीं। फलतः वेद की कूटस्थनित्यता, एवं अपौरुषेयता सर्वथा अक्षुण्ण रह जाती है। इस मत के उपोद्बलक निम्न लिखित वचन हैं।

१—पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता॥

२—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥

३—अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

१:—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद भिन्न भिन्न ऋषियों का वाक्य है, ऋषि इस के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं

नित्यसिद्ध यह वेद (शास्त्र) भिन्न भिन्न ऋषियों का वाक्य है। ये आप्त महर्षि इस वेद के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं। ऋषियों नें तपोबल के प्रभाव से प्राप्त आर्षदृष्टि के द्वारा

१—ब्रह्मा ने सब शास्त्रों के आदि में पुराण का स्मरण किया है, पुराण के अनन्तर इन के मुख से वाङ्मय वेद निकले हैं। (२+३+पूर्व से गतार्थ)।

समय समय पर वेदतत्त्व को देखा, एवं उसे शब्दद्वारा लोक में प्रवृत्त किया। यह वेदशास्त्र ऋषियों की कल्पना नहीं है, अपितु ईश्वरदत्त विभूति (इलहाम) है। जैसा इनके हृदय में (ईश्वर की प्रेरणा से) प्रकाश हुआ, इन्हों नें उस दिव्य ज्ञानप्रकाश को उसी रूप से प्रकट किया। तात्पर्य यही हुआ कि, तपोयोग के प्रभाव से ऋषियों के अन्तःकरण में यह वेद अपने आप प्रकट हुआ। ये ऋषि ही इस के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हुए। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जासकता है कि महर्षिगण सम्प्रदाय परम्परा से इसे सुनते एवं समझते हुए इसका प्रचार करते आए हैं। कोई भी ऋषि मुख्यतया इसका निर्म्माता नहीं हुआ। इसी अभिप्राय से आप्त पुरुष कहते हैं—

१—तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे, य उ तर्हि ऋषय आसुः।
(शत० २।२।१।१४)।

२—तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास।

३—यमाप्नवानो भृगवो विरुरुचुः।

४—ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः।

५—तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्।
दिव्या सरस्वती तत्र स्वं बभूव नभस्तलात्।

१—उस वेदज्ञान को उन महर्षियों नें प्राप्त किया, जोकि उस समय ऋषि होगए हैं।

२—यह वेदशास्त्र ऋषियों द्वारा परम्परया श्रुत तत्त्व है।

३—जिस वेदतत्त्व को प्राप्त होते हुए (वेदज्ञान के प्रकाश से) भृगुऋषिगण प्रकाशित होगए।

४—ऋषि वेदमन्त्रों के द्रष्टा हैं। वेदतत्त्व का (आर्षदृष्टि से) साक्षात्कार करने वाले ही ऋषि हुए हैं।

५—उन ऋषियों की वेदमयी वाणी सब के कानों पर आई। वह दिव्या सरस्वती वहां आकाशमार्ग से अपने आप प्रकट हुई।

११—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद के तात्पर्यानुसार ईश्वर ने विश्व निर्म्माण किया है।

नित्यसिद्ध वेदों के तात्पर्य के अनुसार ईश्वरप्रजापतिने विश्व का निर्म्माण किया है। प्रत्येक पदार्थों का उत्पत्तिक्रम, देश, काल, नाम, रूप, गुण, कर्म्म जो जो भाव पूर्वकल्प में थे, वे ही भाव उत्तरकल्प में हुए। इसी तरह ऋषियों के भी जो नाम पूर्वकल्प में थे, एवं जिस ऋषि ने पूर्वकल्प में वेदतत्त्व का जिस रूप से साक्षात्कार किया था, इस कल्प में भी ऋषियों के वे ही नाम हुए. एवं उन ऋषियों के द्वारा उसी प्रकार वेदसृष्टि हुई। इस प्रकार ईश्वरप्रजापति में पूर्वकल्प में जो वेदमय ज्ञान अनुवर्त्तमान था, वही इस उत्तर कल्प में जाना गया। वही ईश्वरीय ज्ञान वेद कहलाया है। वेद ईश्वर का ही प्रत्यक्षज्ञान है, उसी के आधार पर नामरूपगुणकर्म्ममय विश्व का निर्माण किया है। जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट होजाता है।

१—वेदेन नामरूपे व्याकरोत, सदसती प्रजापतिः।
२—धाता यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।
३—तथाभिमानिनो नीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। ....
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥ १ ॥

१—सदसन्मूर्त्ति (अमृत–मृत्युमूर्त्ति) प्रजापति (ईश्वर) ने वेद से ही नामरूप का निमाण किया।

२—सर्वजगत्–धाता (ईश्वर) ने पूर्वकल्प के अनुसार ही द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, एवं स्व आदि लोकों को वनाया।

३—अभिमानी देवताओं से सम्बद्ध उत्तरकल्प के देवता उन पूर्वकल्प के देवताओं के समान हीं हैं। अतीत देवताओं के नाम-रूप-कर्म्मों के अनुसार ही इस युग में देवता प्रकट

यस्मिन् योग्यः पुरा क्लृप्तो यस्मिन् देशे यथास्थितिः ।
तत्र तस्यानुरूपेण प्रजासर्गः प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः ।
शर्व्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ ३ ॥

१२–नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अपौरुषेय वेदशब्दों से ईश्वर ने विश्व का निर्म्माण किया है।

ईश्वरप्रजापति ने वेदशब्दों से विश्व की रचना की है । दृश्यमान सारा प्रपञ्च वेद-शब्दों से (सांख्यमतानुसार शब्दतन्मात्रा से) ही उत्पन्न हुआ है । शब्दों के सन्निवेशतारतम्य से ही विश्व के पदार्थ भिन्न भिन्न नाम-रूपों में परिणत हो रहे हैं । सम्पूर्ण विश्व वाङ्मय है, इसी लिए पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, विश्व के इन पांचों प्रधान अवयवों में शब्द की उपलब्धि होरही है । संसार में कहीं भी, कोई भी वस्तु अशब्द नहीं है । इस मत के समर्थक निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्त वचन हमारे सामने आते हैं ।

१–वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाचेत्त विश्वं बहुरूपं निबद्धम् ।
....तयैवैकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ॥

हुए हैं । जिस कर्म्म में पूर्वकल्प में जो योग्य था, उसी कल्प में जो देश जहां था, जैसी स्थिति थी, वहां उसी स्थिति के अनुसार प्रजासर्ग होता है । पूर्वकल्प में ऋषियों के जो नाम थे, उन की वेदसम्बन्ध में जो दृष्टि (ज्ञान) थी, रात्रिकल्प के अन्त में उत्तरकल्प में प्रसूत उन्हीं नामों एवं वेददृष्टियों को प्रजापति प्रदान करते हैं ।

१–इन सम्पूर्ण (१४) भुवनों को वाक् ने ही उत्पन्न किया है । वाक् से ही अनेकरूप विश्व आक्रान्त है । उसी वाक् से ही विभक्त कर के (मनुष्य–वाङ्मय प्रपञ्च का) भोग करता है ।

२-वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यार्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
३—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोप यज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
४—वाचा वै वेदाः सन्धीयन्ते, वाचा छन्दांसि, वाचा मित्राणि
संदधति, वाचा सर्वाणि भूतानि । "अथो वागेवेदं सर्वम्" ॥
५—"एते *असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः । विश्वान्यभिसौभग"-
"एत" इति प्रजापतिर्देवानसृजत, "असृग्र"-मिति मनुष्यान्,

२-सम्पूर्ण (३३) देवता वाक् को आधार बनाकर ही स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण गन्धर्व (२७), सम्पूर्ण पशु (५), मनुष्य सब वाक् के आधार पर ही जीवित हैं। यह वाक्तत्व इन सम्पूर्ण भुवनों में ओतप्रोत है । ऐसी यह वाग्देवी इन्द्रपत्नी हमारी प्रार्थना पर प्रसन्न हो ।

३-एकाक्षरमयी वाक् ऋतब्रह्म से सर्वप्रथम प्रकट हुई है । यह वाक् वेदों की (शब्दात्मक वेदों की) माता है, अमृत (ज्ञान) की नाभि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई, हमारी रक्षा करती हुई यज्ञ में पधारी है। यह मेरे लिये अच्छी बुलाई हुई बनें ।

४—वाक् से ही वेदों का संधान होता है, छन्द एवं मित्रों का सन्धान भी वाक् से ही करता है. सम्पूर्ण भूतों का सन्धान वाक् से ही होता है। वाक् ही सब कुछ है ।

५—प्रजापति ने 'एते' इस शब्द से देवताओं को उत्पन्न किया, "असृग्रम" शब्द से मनुष्यों को "इन्दवः" शब्द से पितरों को, "तिरः पवित्र" शब्द से ४० ग्रहों

* "असृग्रम्" के स्थान में "असृजदग्रम्" यह पाठान्तर मिलता है ।
ॐ "आसवः" के स्थान में "आवसवः" यह पाठान्तर मिलता है ।
दोनों ही पाठान्तर लेखप्रमाद समझना चाहिए ।

"इन्दव"-इति पितॄन्, "तिरःपवित्र"-मिति ग्रहान्, "आसव"-इति स्तोत्रम्, "विश्वानी"-ति शस्त्रम्, "अभिसौभगे"-त्यन्याः प्रजाः" ।

६—स 'भू'रिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत । स 'भुव' इति व्याहरत्, सोऽन्तरिक्षमसृजत । स 'स्व'रिति व्याहरत्, स दिवमसृजत ।

७—भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादीन् लोकान् प्रादुर्भूतान् सृष्टान् दर्शयति । (शां०भा० १।३।२८) ।

८—वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सदसती प्रजापतिः ।

९—सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्म्ममे ॥

को, "आसवः" शब्द से स्तोत्र को, "विश्वानि" शब्द से शस्त्र को, 'अभिसौभग" शब्द से इतर (पशु-पक्षी आदि) प्रजा को उत्पन्न किया ।

६—वह प्रजापति अपने मुख से "भूः" यह शब्द बोला, इसी शब्द से इसने भू-पिण्ड उत्पन्न किया । भुवः से अन्तरिक्ष, एवं स्वः से द्युलोक उत्पन्न किया ।

७—अन्तःकरण में प्रादुर्भूत भूः, भुवः आदि शब्दों से उत्पन्न भूमि—अन्तरिक्षादि लोकों की उत्पत्ति दिखलाते हैं ।

८—सदसत् प्रजापति ने वेद (शब्द) से पदार्थों के नाम एवं रूपों का विभाग किया।

९—इस परमात्मा परमेश्वरने गौजाति का गौ, अश्वजाति का अश्व, मनुष्यजाति का मनुष्य इत्यादि नामों को, एवं अध्ययनादि ब्राह्मणजाति के कर्म्मों का, प्रजापालनादि क्षत्रियजाति के कर्म्मों का, इस प्रकार सब के कर्म्मों का सृष्टि के आरम्भ काल में वेद शब्दों सेही पूर्वकल्पानुसार पृथक् पृथक् व्यवस्थित रूप से निर्म्माण किया ।

१०-नामरूपे च भूतानां कर्म्मणां च प्रवर्त्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्म्ममे स महेश्वरः ॥
११-नामरूपं च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥

१३-नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद के पूर्वकल्प का स्मरण करके सृष्टि के आदि में इस वेद को ईश्वर ने प्रकट किया है ।

मनुष्य जब घोर निद्रा में निमग्न होजाता है, तो पूर्वकल्पस्थानीय पूर्व दिन के उस के सभी कर्म्म अनुद्बुद्ध होजाते हैं । दूसरे दिन प्रातः निद्रा भंग होने पर उन सब कार्यों का ज्यों का त्यों आविर्भाव होजाता है । सुषुप्तिकालोपलक्षिता रात्रि मनुष्य का पूर्वकल्प है, एवं जाग्रदवस्थोपलक्षित दिन इस का उत्तरकल्प है । ठीक यही परिस्थिति ईश्वरीय सृष्टि-प्रलय धारा के सम्बन्ध में समझनी चाहिए । प्रलयकालोपलक्षित रात्र्यागम में जब पदार्थमात्र का विराम होजाता है, तो उस समय वेद भी उसी ईश्वरप्रजापति में लीन होजाते हैं । सृष्टिकालोपलक्षित अहरागम में पुनः उन सब पदार्थों का, एवं वेदों का उसी रूप से आविर्भाव हो जाता है । इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, ईश्वर वेद का कर्त्ता नहीं है, अपितु स्मर्त्तामात्र है । इसी अन्तिम मत का निरूपण करता हुआ वेदान्त कहता है—

१०—सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों के नाम-रूपों का, कर्म्मों का जो विभाग देखा जाता है, उस सुव्यवस्थित विभाग का निर्म्माण सृष्टि के आदि में वेदशब्दों से महेश्वरने ही किया है ।

११—भूतों के नाम रूपों का, कृत्या-अभिचार-वलगादि भावों का एवं देवादिकों का सृष्टि के आदि में वेदशब्दों से उसी ईश्वरने (सुव्यवस्थित विभाग) किया है ।

१–"ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादिवदादिमत्त्वेन परमेश्वरकर्तृकतया पौरुषेयत्वं वेदानामिति तव सिद्धान्तो भज्येतेति चेन्न। न तावत् पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वं, गुरुमतेऽपि पौरुषत्वापत्तेः। नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वं पौरुषेयत्वं, नैय्यायिकाभिमतपौरुषेयत्वानुमानेऽस्मदादीनां सिद्धसाधनापत्तेः। किन्तु सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम्। तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसिद्धवेदसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्। न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं वेदस्य। भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्" (वेदान्तपरिभाषा)।

१—प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदों के क्षणिक न होने पर भी आकाशादिवत् सादि भाव के कारण परमेश्वर द्वारा बनाए जाने के कारण भी यदि वेद का पौरुषेयत्व माना जायगा तो तुम्हारे (वेदान्त के) सिद्धान्त का विरोध होगा। (कारण वेदान्त के मतानुसार वेद सर्वथा अपौरुषेय हैं)। आक्षेपात्मक इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि— "केवल पुरुष के मुख से उच्चारण का विषय बन जाना ही पौरुषेयत्व नहीं है। यदि पौरुषेयत्व का यही लक्षण माना जायगा तो गुरुमत में भी पौरुषेयत्व की आपत्ति होगी। कारण भाट्टमत के मतानुसार वेद ईश्वरपुरुष के मुख से कहा हुआ है। इसी प्रकार 'पुरुष की अधीनता में (साक्षी में) वेद उत्पन्न हुआ है'' पौरुषेय का यह भी लक्षण नहीं माना जासकता। कारण न्यायानुसार पौरुषेयत्व का यही लक्षण किया गया है फलतः इस लक्षण के माननें से हमारे (वेदान्त) में सिद्धसाधन दोष होता है। ऐसी स्थिति में (स्वसिद्धान्त की

उक्त तेरहों मत आंशिकरूप से परस्पर में विरोधात्मक होते हुए भी—"वेद नित्य-सिद्ध हैं, कूटस्थ हैं, अपौरुषेय हैं" इस अंश में सर्वथा विरोधी हैं । यही पूर्वोत्तर मीमांसा का मत है । इसीलिए इन विभिन्न मार्गानुगामी १३ हों मतों को हम मीमांसामत मानने के लिए तय्यार हैं । साथ ही में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि जिन मतों का सप्रमाण अब तक दिग्दर्शन कराया है, उन में से कितने एक मत एक से मालुम होते हैं । यदि पाठक महाभाग सूक्ष्मदृष्टि से विचार करेंगे तो उन्हें उन सब का सूक्ष्मपार्थक्य विदित होजायगा ।

१—मीमांसामत,—वेद अकृत हैं, कूटस्थ नित्य हैं, अपौरुषेय हैं।

१—वेद ईश्वर से अभिन्न है ।

२—वेद ईश्वर के समकक्ष है ।

३—वेद ईश्वर के निश्वास हैं ।

४—वेद को ईश्वरानुग्रह से ब्रह्मा ने प्राप्त किया है ।

५— " " महर्षियों ने प्राप्त किया है ।

६— " " अजपृश्नि ऋषियों ने प्राप्त किया है ।

७— " " अथर्वाङ्गिरा ने प्राप्त किया है ।

८—वेद ईश्वर का वाक्य है, ईश्वर इस का सम्प्रदायप्रवर्त्तक है ।

९—वेद चतुर्मुखब्रह्मा का वाक्य है ब्रह्मा इस का सम्प्रदाय प्रवर्त्तक है ।

१०—वेद भिन्न भिन्न ऋषियों का वाक्य है, ऋषि इस के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं ।

११—वेद के तात्पर्य्यानुसार ईश्वर ने विश्व का निर्म्माण किया है ।

१२—वेदशब्दों से ईश्वर ने जगत् का निर्म्माण किया है ।

१३—वेद के पूर्वकल्प का स्मरण करके सृष्ट्यादि में वेद को ईश्वर ने प्रकट किया ।

रक्षा के लिए हमें) पौरुषेयत्व का-"सजातीयोच्चारण की अपेक्षा न रखने वाले उच्चारण का विषय ही पौरुषेयत्व है" यह लक्षण समझना चाहिए । ऐसी परिस्थिति में (यह सिद्ध हो

(१)-(२)-(३)-(४)

इन तेरह मतों के सम्बन्ध में ३—४—३—३—यह अवान्तर चार विमर्श समझने चाहिए। इन चारों के अनुसार उक्त तेरह मतों का निम्न लिखित स्वरूप पाठकों के सामने आता है।

१—१—आत्मरूप वेद ईश्वर से अभिन्न है।

२—२—आत्मरूप वेद ईश्वर से समतुल्य है।

३—३—आत्मरूप वेद ईश्वर के निःश्वास हैं।

४—१—ईश्वरानुग्रह से ब्रह्मा ने विज्ञानरूप वेदों को प्राप्त किया।

५—२—ईश्वरानुग्रह से महर्षियों ने विज्ञानरूप वेदों को प्राप्त किया।

६—३—ईश्वरानुग्रह से अजपृश्निऋषियों नें विज्ञानरूप वेदों को प्राप्त किया।

७—४—ईश्वरानुग्रह से अथर्वाङ्गिरा ने विज्ञानरूप वेदों को प्राप्त किया।

८—१—शब्दमय वेद ईश्वर का वाक्य है, ईश्वर इस का सम्प्रदायप्रवर्त्तक है।

९—२—शब्दमय वेद ब्रह्मा का वाक्य है, ब्रह्मा इस का सम्प्रदायप्रवर्त्तक है।

१०—३—शब्दमय वेद ऋषियों का वाक्य है ऋषि इस के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं।

११—१—ईश्वर ने वेदशास्त्र से जगत् बनाया।

१२—२—ईश्वर नें वेदशब्द से जगत् बनाया।

१३—३—ईश्वर ने वेदशास्त्र से पूर्वकल्प का स्मरण किया, एवं तद्द्वारा जगत बनाया।

इति—मीमांसामतप्रदर्शनम्

१

जाता है कि) सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर नें पूर्वकल्पसिद्ध, वेद की समान आनुपूर्वी का स्मरण करके ही वेदनिर्म्माण किया। ऐसी दशा में उक्त पौरुषेयलक्षण वेद में घटित नहीं हुआ, फलतः वेद का अपौरुषेयत्व हमारे मत में सर्वथा अक्षुण्ण रह गया।
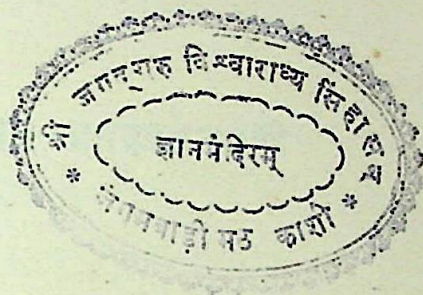
२-सप्त-अवान्तरमतयुक्तं—

नव्यन्यायाभिमत-मतप्रदर्शनम्

श्रीः

१—नव्यन्यायदर्शनाभिमत-मतप्रदर्शनम्

नव्य, न्याय के मतानुसार वेद कूटस्थनित्यता, एवं प्रवाहनित्यता से रहित होता हुआ कथमपि नित्यसिद्ध नहीं माना जासकता। मनुष्य ऋषि यद्यपि इस के कर्त्ता नहीं हैं, अपितु द्रष्टा ही हैं, तथापि इसे अपौरुषेय नहीं माना जासकता। क्योंकि "यद्यत् कार्यं तत्तत् कर्तृजन्यम्" इस सर्वानुभूत सिद्धान्त के अनुसार कार्य बिना कारण के अनुपपन्न है। फलतः जिन कार्य्यों का कर्त्ता हम प्रत्यक्ष में नहीं देखते, अनुमान द्वारा अवश्य हो किसी परोक्षकर्त्ता का अनुमान लगाना पड़ता है। वही आनुमानिक कर्त्ता 'ईश्वर' है। क्षित्यङ्कुरादि की तरह वही वेदकार्य का भी प्रवर्त्तक है। इस ईश्वरपुरुष के सम्बन्ध से ही हम वेद को "पौरुषेय" मानने के लिए तय्यार हैं। हां शरीरधारी, अतएव सर्वथा परतन्त्र मनुष्य इस का कर्त्ता नहीं है, इस दृष्टि से इसे अपौरुषेय भी माना जासकता है। नव्यन्याय ग्रन्थों में अतिसुप्रसिद्ध सर्वश्री उदयनाचार्य विरचित 'कुसुमाञ्जलि" नामक ग्रन्थ में इसी मत का समर्थन किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट होजाता है।

"प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्।
तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसम्भवः॥

स्यादेतत्—परतः प्रामाण्येऽपि नित्यत्वाद् वेदानामनपेक्ष्यत्वं, महाजन परिग्रहाच्च प्रामाण्यमिति विरोधः। न। उभयस्याप्यसिद्धेः। यदा च वर्ण एव न नित्यास्तदा कैव कथा पुरुषविवक्षाधीनानुपूर्व्यादिविशिष्टवर्ण-समूहरूपाणां पदानां, कुतस्तरां च तत्समूहरचनाविशेषस्य भावस्यवाक्यस्य,

कुतस्तमां तत् समूहस्य वेदस्य । परतन्त्रपुरुषपराधीनतया प्रवाहाविच्छेदमेव निश्चतां ब्रूम इति चेत्, एतदपि नास्ति–सर्गप्रलयसम्भवात्"

(कुसुमाञ्जलि द्वि० स्तबक १ का०)।

इसी मत को आधार मानने वाले सुविख्यातनामा म॰म॰ श्रीगङ्गेशोपाध्याय भी चिन्तामणि ग्रन्थ में अपने यही विचार प्रकट करते हैं। देखिए—

"अत्र ब्रूमः—शब्दप्रमायां लोके वक्तुर्यथार्थज्ञानं न गुणः, किन्तु योग्यतादिकं यथार्थतज्ज्ञानं वा । लाघवादावश्यकत्वाच्च । + + + + । एवं वेदेऽपि यथार्थयोग्यताज्ञानमेव गुण इति न, वैदिकप्रमाया गुणजन्यत्वेनेश्वरसिद्धिः। स्यादेतत् । वेदवक्तुर्यथार्थवाक्यार्थज्ञानमपि न गुणः । लोके प्रमाणशब्दं प्रति तादृशस्य ज्ञानस्य हेतुत्वात् । × × × × । एवं च वेदो वाक्यार्थगोचरयथार्थज्ञानवत् स्वतन्त्रः प्रणीतः । प्रमाणशब्दत्वात् । गामानयेति वाक्यवत्-इतीश्वरसिद्धिः । × × × × । अथ तात्पर्यविशेषे वेदः प्रमाणम् । न चास्मदादेर्वेदं विनाऽतीन्द्रियवेदार्थगोचरज्ञानं, येन तत् प्रतीतीच्छयोच्चारणं भवेत् । न च वेदादेव तत्, अन्योऽन्याश्रयात् । अतः सकलवेदार्थदर्शिनां यस्य वेदस्य यथार्थप्रतीतीच्छयोच्चारणं कृतं, स तत्र प्रमाणमिति तादृशेच्छैवगुणः । तज्जन्या वेदार्थप्रमा-इति तदाश्रयस्वतन्त्रस्य पुरुषधौरेयसिद्धिः"।

(तत्वचिन्तामणि–प्रामाण्यवाद–प्रमोत्पत्तिरहस्य)।

———○:✻:○———

उक्त दर्शन सिद्धान्त के आधार पर ७ अवान्तर मत विभाग होजाते हैं। इन का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—प्रतिकल्प की सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर नवीन वेद बनाता है। (१.४ मत)।

वेदतत्त्व को न तो ईश्वररूप माना जासकता, एवं न इसे ईश्वर के समकक्ष माना जासकता। कारण स्पष्ट है। ईश्वर नित्य है, अनादि है, शरीरानाश्रित है। इधर शब्दराशिभूत वेद अनित्य है, सादि है, शरीरव्यापाराश्रित है। ईश्वर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वेद ईश्वर से उत्पन्न होता है। प्रतिकल्प में होने वाले सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर नया वेद उत्पन्न करता है। जैसे सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदि विश्व के अन्यान्य पदार्थ ईश्वर से सृष्टिकाल में उत्पन्न होते रहते हैं, तथा प्रलयकाल में नष्ट होते रहते हैं, ठीक इसी तरह प्रतिसृष्टि में नवीन वेद उत्पन्न होता रहता है, एवं प्रलयकाल में नष्ट होता रहता है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं।

१—प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते। (पुराण—न्यायचिन्तामणि)

२—ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः॥
जिह्वाग्रेषु प्रवर्त्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः॥ १॥
न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम्।
न यत्नसाध्यं तद्‌ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत्॥ २॥

१—प्रत्येक मन्वन्तर के आरम्भ में दूसरे (नवीन) वेद का (ईश्वर से) विधान (उत्पत्ति) होता है।

२—ऋक्, यजुः, साम ये तीनों शरीर व्यापार के आश्रित हैं। जिह्वा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित वागिन्द्रिय से इनकी प्रवृत्ति [उच्चारण] होती है। प्रयास से प्राप्त होने योग्य यह (शब्दराशिरूप) वेद सर्वथा विनाशी है। १।

ब्रह्मतत्त्व (ईश्वर) शरीरव्यापार के आश्रय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। साथ ही में वह ब्रह्म न (शब्दवत्) यत्नसाध्य है, एवं न उस का कोई आदि है, न अन्त है। २।

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते ॥
अनन्तश्चादिमतां नत्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥ ३ ॥
अनादित्वादनन्तत्वात् तदनन्तमथाव्ययम् ॥
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥ ४ ॥

(म० शान्तिप० मोक्ष०)।

३—"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत-भूयान्त्स्यां, प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति। ××+×। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत। ×+××। सोऽकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। तदभ्यमृशत्—अस्त्विति। भूयोऽस्त्वित्येव तदब्रवीत्। ततो ब्रह्मैव प्रथममसृजत, त्रयीमेव विद्याम्। तस्मादाहुः—ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमिति। अपि ह तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत। तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत" इति।

(शत० ६।१।८-१-१० कं० उखासम्भरणश्रुति)

वह ब्रह्म [ईश्वर] ऋक्, यजुः, साम इन तीनों वेदों का आदि [उत्पादक] है। वह स्वयं सादिपदार्थों का (आश्रयभूत) अनन्त है। ब्रह्म का कोई आदि नहीं देखा गया ॥ ३ ॥ अनादिभाव, एवं अनन्तभाव के कारण ही वह 'अनन्त' एवं 'अव्यय' नाम से प्रसिद्ध है। इसी अव्यय भाव के कारण वह पर (परब्रह्म) तत्व दुःखविरहित, एवं द्वन्द्वातीत है ॥४॥

३—उस पुरुष प्रजापति (ईश्वर) ने इच्छा की कि, मैं बहुत बनूं, उत्पन्न करूं। इसी इच्छा से प्रेरित होकर उसने श्रम किया, उसने तप किया। श्रान्त एवं तपः कर्म से तत

२—नित्यसिद्ध वाक्तत्त्व से ईश्वर शब्दवेद, एवं विश्व को उत्पन्न करता है। (१५ मत)।

नित्यसिद्ध वाक्तत्व से ईश्वरने वेद और विश्व का निर्म्माण किया है। कणाद सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार परमाणु नित्य हैं, किन्तु इन नित्य परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होनें वाले पाञ्चभौतिक पृथिव्यादि सभी पदार्थ अनित्य हैं, इसी प्रकार वाक्तत्व किंवा वाक्रूप शब्दतत्व यद्यपि सर्वथा नित्य है तथापि वाक्तत्व से सम्पन्न होने वाला पद, वाक्य, सन्दर्भ आदि की समष्टिरूप शब्दमय वेद भी सर्वथा अनित्य ही है। जिस प्रकार नित्यवाङ्मय परमाणुओं से ईश्वर ने सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि का निर्म्माण किया है एवमेव उन्हीं वाङ्मय नित्य परमाणुओं से ईश्वरने अनित्य वेद का स्वरूप निर्म्माण किया है। इस मत के समर्थक निम्नलिखित वचन हैं-

१—'स तया वाचा तेनात्मना सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।
ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि, यज्ञान्, प्रजाः, पशून्"

उसने सर्वप्रथम ब्रह्मनाम की त्रयीविद्या ब्रह्मनिश्वसित वेद नाम की स्वायम्भुवी विद्यात्रयी ही उत्पन्न की। वही त्रयीविद्या इस प्रजापति के लिए प्रतिष्ठा बनी। इसी आधार पर—"ब्रह्म (वेद)-ही सब की प्रतिष्ठा है" यह कहा जाता है। उस वेद प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर पुनः प्रजापति ने तप किया। इस तप से उसने वाक्लोक से (वाग्रूप उपादान द्रव्य से) पानी ही पैदा किया। उसने इच्छा की कि, मैं इन पानियों के आधार पर (और कुछ) उत्पन्न करूं। (इसी इच्छा से) वह इस त्रयीविद्या के साथ पानी में प्रविष्ट होगया। इस से अण्ड (ब्रह्माण्ड) का स्वरूप उत्पन्न होगया। प्रजापति ने उस अण्ड का स्पर्श करते हुए कहा कि तू होजा। जितना है, इस से बड़ा होजा, यही कहा। इस से 'ब्रह्म" नाम की त्रयीविद्या (गायत्रीमात्रिक नाम की सौरविद्यात्रयी) ही सर्वप्रथम उत्पन्न की। इसी आधार पर "ब्रह्म (वेद) ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्च (विश्व) का प्रथमज (पहिले उत्पन्न होने वाला) है" यह कहते हैं। सचमुच उस ईश्वरपुरुष से सर्वप्रथम ब्रह्म (वेद) ही उत्पन्न हुआ है। वह ब्रह्म इसके मुख से ही उत्पन्न हुआ है।

१—उस प्रजापतिने वाङ्मय अपने उस आत्मभाग से ही सब कुछ उत्पन्न किया है,

२—अथो वागेवेदं सर्वम् ।

३—वागविवृताश्च वेदाः ।

४—वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता ।

५—अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुना ।
आदौ वेदमयी सत्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

३—वेद एवं विश्व को ईश्वर ने अपनी इच्छानुसार बनाया है। (१६ मत)

वेद एवं विश्व दोनों का ईश्वर ने अपनी इच्छामात्र (संकल्पमात्र) से ही निर्माण किया है। तात्पर्य यही है कि, पूर्वोक्त द्वितीय (पञ्चदश) मतानुसार वेद एवं विश्वनिर्माण के लिए उसे न तो नित्यशब्द (वाक्तत्व) की अपेक्षा है, न नित्यपरमाणुओं की, एवं न किसी अन्य उपादान सामग्री की। वह स्वयं सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ है, सर्ववित्, है, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। वह अपने कर्म्म में किसी इतर उपादान की कोई अपेक्षा नहीं रखता। वह जब भी, जो भी चाहता है, बना डालता है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, उस के संकल्पमात्र से

जोकि यह सब कुछ [विश्वप्रपञ्च] है। ऋक्, यजुः, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा, पशु आदि सब को [प्रजापति ने] वाङ्मय आत्मा, किंवा आत्मा के वाक्भाग से ही उत्पन्न किया है।

२—वाक् ही यह सब कुछ है।

३—चारों वेद वाक्तत्व के ही विवर्त्त (फैलाव) हैं।

४—यह वाक्तत्व सम्पूर्ण भुवनों में ओतप्रोत है।

५—अनादिनिधना नित्यावाक् स्वयम्भू ईश्वर के मुख से निकली है। इसी वेदमयी सत्यावाक् से सब कुछ प्रवृत्तिएं (विश्वनिर्म्माण) हुई हैं।

संकल्प के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं सबकुछ बन जाता है । जिस प्रकार पाषाणखण्डों के समूहरूप पर्वत, जलराशिरूप समुद्र ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न होने से अपौरुषेय (मनुष्यपुरुष की कृति से बहिर्भूत) हैं, एवं जिस प्रकार इन अपौरुषेय ईश्वरकृतिरूप पर्वतों के खण्डों से शिला-स्तूप-प्रतिमा-प्रासाद आदि पौरुषेयभावों का निर्म्माण कर लिया जाता है, जल से सरोवर, वापी, कूप, तड़ाग आदि पौरुषेयभाव सम्पन्न करलिए जाते हैं, एवमेव अपौरुषेय वेद के शब्दों का संग्रह कर के अनेक पौरुषेयग्रन्थ बना डाले गए हैं । वेद सूर्य्य है, तो वेदग्रन्थ इस सूर्य्य के प्रतिबिम्ब हैं । सूर्य्य- समुद्रादिवत् वेदों का निर्म्माण भी सृष्टि के आरम्भकाल में ही हुआ है । इसी तृतीयमत का निरूपण करते हुए आप्त पुरुष कहते हैं—

१—यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥ (मुण्डक)

२—दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ॥

३—तस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ॥
[मुण्डक० २।१।]।

१—जो ईश्वरतत्व सर्वज्ञ है, सर्ववित् (सर्वार्थमय) है, जिस का तप (कर्म्म) ज्ञानमय है, उसी ईश्वर से ब्रह्मनामक प्रतिष्ठालक्षण वेद, नामरूपात्मक ज्योति, तथा अन्नलक्षण यज्ञ उत्पन्न हुआ है ।

२—वह ईश्वर पुरुष दिव्य [पाप्मविरहितसत्त्वमूर्त्ति] है, अमूर्त्त [भौतिकप्रपञ्च से असंस्पृष्ट] है । बाहर-भीतर सब ओर असंगरूप से व्याप्तरहने वाला अज [नित्य-अजन्मा] है ।

३—ऋक्, साम, यजुः, दीक्षा, सम्पूर्णयज्ञ, सम्पूर्णक्रतु [कर्म्म] सम्पूर्ण दक्षिणा, उसी से उत्पन्न हुई हैं । उसी से पर्वत समुद्र आदि उत्पन्न हुए हैं । विविधरूप सम्पूर्ण नद उसी से प्रस्रवित हुए हैं ।

४—प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्रे आसीत् । नाहरासीत्, न रात्रिरासीत् । स तपोऽतप्यत । तस्मात् तपस्तेपानाच्चत्वारो वेदा अजायन्त ॥

———०:※:०———

४—ईश्वरने वेद बनाकर ब्रह्मा एवं महर्षियों द्वारा उसे लोक में प्रवृत्त किया। [१७ मत]

सम्पूर्ण विश्व, एवं चारों वेदों का निर्म्माता ईश्वरपुरुष सर्वथा निराकार है। ऐसी स्थिति में हमें यह मानलेना पड़ता है कि, स्वयं निराकार ईश्वर साक्षात्रूप से वेदों का उपदेश नहीं देता। होता क्या है? शरीरधारी किसी उत्कृष्ट सात्विक जीव के अन्तःकरण में ईश्वर वेद को प्रादुर्भूत करता है, एवं उसी के द्वारा वह लोक में वेद का प्रचार करवाता है। वेही उत्कृष्टजीव ब्रह्मा व्यासादिमुनि, वसिष्ठादि महर्षि हैं। ये ही ईश्वरद्वारा अन्तःकरण में उदित वेद के प्रचारक हुए हैं, जैसाकि निम्न लिखित पुराण वचन से स्पष्ट है—

१—तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये। (भागवत)

२—ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्व्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥

४—सृष्टि के पहिले ईश्वरप्रजापति एकाकी था। न उस समय दिन था न उस समय रात्रि थी। उसने तप किया। उस तप करने वाले तपोमूर्त्ति ईश्वर से चारों वेद उत्पन्न हुए।

———०:※:०———

१—उस ईश्वर ने आदि कवि के लिए (उस ज्ञान का—उसके हृदय में) वितान (प्रसार) किया।

२—वेदद्रष्टा महर्षियों के जो नाम सुने जाते हैं, वेदों के सम्बन्ध में जो महर्षियोंकी दृष्टि (साक्षात्कार-प्रत्यक्ष) हैं,) रात्र्यागम के अन्त में (एवं अहरागम के आरम्भ में) उत्पन्न उन्हीं वेदों को वह अज (ईश्वर इन ऋषियों को [प्रसार के लिए] प्रदान करता है।

५-ईश्वरने अपनी इच्छा से अग्नि-वायु सूर्य्य द्वारा वेदों को उत्पन्न किया। (१८ मत)

अग्नि पृथिवीलोक का रस है, वायु अन्तरिक्षलोक का रस है, एवं सूर्य्य द्युलोक का रस है। तिनों भौतिक देवता उक्त तीनों लोकों के अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) देवता है। इन भौतिक अधिष्ठात्री देवताओं से ही ईश्वरेच्छा से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं। अग्निरस से ऋग्वेद, वायुरस से यजुर्वेद, एवं सूर्य्यरस से सामवेद उत्पन्न हुआ है। उक्त तीनों देवता ईश्वर की ही विभूतिएं हैं फलतः वेदके ईश्वरकर्तृत्व में कोई बाधा नहीं आती है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित श्रुतिवचन हैं—

१—प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्। अग्निं पृथिव्याः, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः। स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्। तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्-अग्नेर्ऋचः, वायोर्यजूंषि, सामान्यादित्यात्। स एतां त्रयीविद्यामभ्यतपत्। तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहत्। भूरिति ऋग्भ्यः, भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः। (छां. उ. ४।अ.।१७-खं.१)। इति।

२—'प्रजापतिरकामयत-प्रजायेय, भूयान्स्यामिति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इमांल्लोकानसृजत-पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम्। तांल्लोकान-

---

१—प्रजापति [ईश्वर] ने तीनों लोकों को तपाया। तप्त उन तीनों लोकों से रसों को वहाया। पृथिवी से अग्निरस, अन्तरिक्ष से वायुरस, द्युलोक से आदित्यरस [उत्पन्न किया]। इन तीनों देवताओं को तपाया। इन तप्यमान देवरसों से क्रमशः अग्निरस से ऋग्वेद, वायुरससे यजुर्वेद, आदित्यरस से सामवेद को बहाया। इन तीनों विद्याओं को तपाया। इस तप्तत्रयी विद्या से क्रमशः ऋग्विद्या से भूः रस उत्पन्नकिया, यजुर्विद्या से भुवः रस उत्पन्न किया, एवं सामविद्या से स्वः रस उत्पन्न किया। इस प्रकार अपने ऐच्छिक तपोबल से ईश्वर ने तीनों लोकों से क्रमशः तीन देवरस, तीन वेदरस एवं तीन व्याहृतिरस उत्पन्न किए।

२—ईश्वर प्रजापतिने कामना की कि, मैं प्रजा उत्पन्न करूं, [उत्पन्न प्रजापति के

भ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त—अग्निरेव पृथिव्या अजायत, वायुरन्तरिक्षात्, आदित्यो दिवः । तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् । तेऽभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त—ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात् । तान् वेदानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणिशुक्राण्यजायन्त—भूरित्येव ऋग्वेदाजायत, भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त-अकार, उकार, मकार इति । तानेकधासमभरत् । तदेतदोमिति"

[ऐ०ब्रा० ५।५।३२] इति ।

३—अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ [मनुः] ।

द्वारा] भूमाभाव से युक्त बनूं । [इस प्रजापतिकामना से प्रेरित होकर] प्रजापतिने तपोरूप कर्म्म किया । तप का अनुष्ठान कर प्रजापतिने क्रमशः **पृथिवी अन्तरिक्ष, द्यु** ये तीन लोक उत्पन्न किए । इन तीनों लोकों को प्रजापतिने तपाया । इन तप्त तीनों लोकों से क्रमशः पृथिवी से अग्निज्योति, अन्तरिक्ष से वायुज्योति [विद्युत्] एवं द्यौ से आदित्यज्योति उत्पन्न हुई । [आगे जाकर] इन तीनों ज्योतियों को तपाया । तप्त तीनों ज्योतियों से क्रमशः अग्निज्योति से ऋक् नाम का वेद, वायुज्योति से यजुः नाम का वेद एवं आदित्यज्योति से साम नाम का वेद उत्पन्न हुआ । इन तीनों वेदों को तपाया । तप्त तीनों वेदों से क्रमशः ऋग्वेद से भूः नाम का शुक्र, यजुर्वेद से भुवः नाम का शुक्र, एवं सामवेद से स्वः नाम का शुक्र उत्पन्न हुआ । इन तप्त तीनों शुक्रों से क्रमशः भूः शुक्र से अकार, भुवः शुक्र से उकार, एवं स्वः शुक्र से मकार इन तीन वर्णों का विकास हुआ । इन तीनों को प्रजापतिने एक स्थान पर समवेत कर दिया । यही ओङ्कार कहलाया ।

३—प्रजापतिने यज्ञसिद्धि के लिए अग्नि—वायु—सूर्य्य से क्रमशः ऋग्-यजुः सामलक्षण तीनों नित्य ब्रह्मों [वेदों] का दोहन किया ।

६—ईश्वर ने अपनी इच्छा से सूर्य्य द्वारा वेदों को उत्पन्न किया। (१९ मत)

ज्ञान-क्रिया-अर्थ तन्त्रों का सञ्चालक, 'नैवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव-स्थाता" (छा० उपनिषत्) इस सामश्रुति के अनुसार विश्वकेन्द्र में बृहतीछन्द नामक विषुवद्वृत्त (इक्वेटर) के मध्य में प्रतिष्ठित, प्रत्यक्षदृष्ट सहस्रांशु सूर्य्य ही ईश्वर की इच्छा से, किंवा इच्छात्मिका प्रेरणा से तीनों वेद उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में ईश्वर अपनी वेद-निर्म्माणेच्छा को सूर्य्य द्वारा पूर्ण करता है। इस मत का समर्थक निम्नलिखित वचन है।

१—तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
स तिस्रो वाचः प्रेरयति, ऋचोयजूंषिसामानि। [या.नि.परि. १४]।

—— :०: ——

७—ईश्वर न अपनी इच्छा से यज्ञपुरुषद्वारा वेदों को उत्पन्न किया। (२० मत)

वेद को ईश्वर ने यज्ञ से ही उत्पन्न किया है। यज्ञद्वारा ईश्वर से उत्पन्न होनेवाले इस वेद को अस्मदादि लौकिक पुरुषोंनें वेदसाक्षात्कर्ता ऋषियों से प्राप्त किया है। वही वेदराशि भिन्न भिन्न देशों में जाकर आम्नायभेद से कई शाखाओं में विभक्त होगई है। इस वेदाम्नाय के प्रवर्तक सात महर्षि ही मुख्य मानें गए हैं। इस मत का समर्थक निम्नलिखित वचन है—

१—यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्-तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा सप्तरेभा अभिसंनवन्ते ॥ [ऋक्सं०]॥

१—यह वचन जैसे इस छठे मत की ओर लगाया जाता है, वैसे ही इसी वचनको प्राचीनन्यायाभिमत ४ र्थ मत का पोषक भी माना जासकता है। इस का अर्थ उसी मत के निरू-पण में किया जायगा।

—— :(०): ——

१—त्रयीवाक् के मार्ग को ऋषियोंनें यज्ञद्वारा प्राप्त किया है। अतीन्द्रियार्थद्रष्टा महर्षियों

उक्त सातों ही मतों में—"वेद का मुख्य कर्त्ता ईश्वर है, यह शब्दराशिरूप वेद ईश्वरकृत होने से पौरुषेय है, अनित्य है, शरीरधारीमनुष्यपुरुषकृत न होने से अपौरुषेय है" इस नव्यन्याय मत का समावेश है। इसीलिए हमनें इन सातों मतों का नव्यन्याय मत में अन्तर्भाव माना है। इन सातों मतों के ४–३-भेद से दो कल्प है। जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

२—वेद ईश्वरकृत हैं, पौरुषेयापौरुषेय हैं, अनित्य हैं। (नव्यन्यायमत)

४
- १–१–[१४]–प्रतिकल्प की सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर नवीन वेद बनाता है।
- २–२–[१५]–नित्यसिद्धवाक्तत्त्व से ईश्वर शब्दवेद, एवं विश्वको उत्पन्न करता है।
- ३–३–[१६]–वेद एवं विश्व को ईश्वरने अपनी इच्छानुसार बनाया है।
- ४–४–[१७]–ईश्वरने वेद बनाकर ब्रह्मा एवं महर्षियों द्वारा उसे लोक में प्रवृत्त किया।

——:o:——

३
- ५–१–[१८]–ईश्वरने अपनी इच्छा से अग्नि–वायु–सूर्य्य द्वारा वेदों को उत्पन्न किया।
- ६–२–[१९]–ईश्वरने अपनी इच्छा से सूर्य्यद्वारा वेदों को उत्पन्न किया।
- ७–३–[२०]–ईश्वरने अपनी इच्छा से यज्ञद्वारा वेदों को उत्पन्न किया।

——o——

इति—नव्यन्यायमत प्रदर्शनम्

——:*:——

में ही विद्वानोंनें वेदवाक् को प्राप्त किया है। उसी वाक् को लेकर अनेक शाखाओं से अनेक देशों में सम्प्रदाएं प्रतिष्ठित की हैं। ऐसी इस त्रयीवाक् की ओर [विशेषरूप से] सप्तरेभा [सप्तर्षि] ही अनुगत हुए हैं।

३-पञ्च-अवान्तरमतयुक्तं—

प्राचीनन्यायाभिमत-मतप्रदर्शनम्

१—प्राचीनन्यायदर्शनाभिमत–मतप्रदर्शन

प्राचीनन्याय के मतानुसार वेद ऋषिकृत हैं, साथ ही में पौरुषेय हैं। यद्यपि ये शब्द-राशिरूप वेद कूटस्थ नित्य नहीं है, तथापि इन की प्रवाहनित्यता में कोई सन्देह नहीं किया जासकता। लौकिकशब्द अनित्य होते हुए भी जैसे प्रवाहनित्य हैं, एवमेव वैदिकशब्द अनित्य होते हुए भी प्रवाहनित्य हैं। अपिच जिस प्रकार लौकिकशब्द आप्तपुरुषों के वचन होने से प्रमाणभूत मानें जाते हैं, एवमेव वैदिकशब्द भी आप्तवचन होने से स्वतःप्रमाण हैं। भारद्वाजादि जिन आप्तपुरुषोंनें आयुर्वेदादि की रचना की है, वे ही वेद के प्रवर्त्तक हुए हैं। जैसे आयुर्वेदादि को आप्तवचन होने से प्रामाण्य है, एवमेव इन वेदों को भी आप्तवचन होने से प्रामाण्य है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित प्रमाण हमारे सामने आते हैं—

१—"आप्तोपदेशः शब्दः" (न्या० द० १।१।७)।

२—"स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्" (न्या० द० १।१।८)।

३—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत् प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यत्वात्"

(न्या० द० २।१।६८)।

गोतमसूत्रों के भाष्यकार सर्वश्री "वात्स्यायन" कहते हैं—

४—मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम्। लौकिकेषु चैतत् समानम् इति। आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्म्माणः। × ÷ + ×। दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनाऽऽयुर्वेदेनाऽऽदृष्टार्थो वेदभागोऽनुमन्तव्यः-प्रमाणमिति। आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वात्। + + × ×। द्रष्टृ-प्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एव वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति।

नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे—'तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्" इत्युक्तम्। शब्दश्च वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं न नित्यत्वात्"
(वात्स्यायनभाष्य २।१।६८)।

५—'न भिद्यते लौकिकाद् वाक्याद् वैदिकं वाक्यम्। प्रेक्षापूर्वकारि-पुरुषप्रणीतत्वेन । तत्र लौकिकस्तावत् परीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारमेवं ब्रूयात्-अधीष्व, यजस्व, ब्रह्मचर्यं चर इति। कुत एष ऋषिरुपपन्नाऽनवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति"
(४।२ ६२)।

६—"य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खल्वितिहास-पुराण धर्म्मशास्त्रस्य चेति"। (४।१।६२)। इति।

उक्त सूत्रों तथा वात्स्यायन भाष्य का अभिप्राय यही है कि—"प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द भेद से प्रमासाधन (ज्ञानसाधन) प्रमाण चार भागों में विभक्त हैं। इन चारों में से आप्त (पहुंचवान) पुरुष का (शब्दात्मक—किंवा शब्दरूप) उपदेश ही शाब्दप्रमाण है। साक्षात्कृतधर्म्मा पुरुष ही आप्त (विषयंप्राप्त) कहलाते हैं। वे उस विषय के अन्तस्तल पर पहुंचे रहते हैं, उस विषय को यथार्थरूप से आप्त (प्राप्त) करलेते हैं। ऐसे ही आप्तपुरुषों को "तत्र भवान्" (उस विषय में आप्त—आप) कहलाते हैं। ऐसे आप्तपुरुषों का शब्दात्मक उपदेश आप्त-दादि अनाप्तपुरुषों के लिए अवश्य ही प्रमाण है" ॥ १ ॥

'शब्दप्रमाण दृष्टअर्थ, एवं अदृष्टअर्थ भेद से दो प्रकार का है। लौकिक घट-पट अन्न—गृह—आदि पदार्थ दृष्टार्थ हैं। पारलौकिक अतीन्द्रियपदार्थ अदृष्टार्थ हैं। प्रत्यक्षदृष्ट लौकिक अर्थों को पहिचाननें वालों का शब्दोपदेश लौकिक अर्थों के सम्बन्ध में प्रमाणभूत हैं। लौकिक विषयों के परीक्षक लौकिक पदार्थों के हानि-लाभ के सम्बन्ध में हमें जैसा आदेश करते हैं, वह

हमारे लिए सर्वथा मान्य होता है। कारण, वे लौकिक विषयों में आप्त हैं। इसी प्रकार पारलौकिक आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य आदि अदृष्टपदार्थों को अपनी दिव्यदृष्टि (आर्षदृष्टि योगजदृष्टि) से देखने वाले महर्षियों का शब्दोपदेश उक्त अदृष्टपदार्थों के सम्बन्ध में हम अनाप्तों के लिए प्रत्येक दशा में मान्य है। अपने अपने विषय में सभी आप्त हैं—जैसाकि भाष्यकार कहते हैं—

"आप्तः—ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्ते। एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते, नातोऽन्यथा" (वा०भा० १।१।७)।

एक महर्षि पारलौकिक अर्थों में आप्त है, तो एक आर्य अपने सदाचार में आप्त है। एक म्लेच्छ अपने हिंसाकर्म्म में आप्त है। इन्हीं आप्तों के बतलाए हुए मार्ग के अनुसरण से लौकिक–पारलौकिक व्यवहार चलते हैं। अपने अपने विषय में सब पण्डित हैं। एवं उन उन विषयों में उन उन आप्तपण्डितों का वचन ही हमारे लिए प्रमाण है। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर देवता, मनुष्य, देवयोनिएं सब की जीवनयात्रा का निर्वाह हो रहा है। यदि ऐसा न किया जाय तो, लौकिक-पारलौकिक दोनों हीं मर्य्यादाएं उच्छिन्न होजांय। हमें ९९ प्रतिशत कार्य केवल शब्दादेश पर ही करने पड़ते हैं। यदि हम अपने बुद्धिवाद के गर्व में पड़कर परीक्षा की प्रतीक्षा करने लगें, तो जीवन ही कठिन होजाय—"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" ॥ २ ॥

वेद शब्दराशिरूप है। मन्त्रशास्त्र एवं आयुर्वेदशास्त्र जैसे आप्तोपदेश होने से प्रमाण है, एवमेव वेद भी आप्तोपदेश होने से प्रमाण है। "अमुक मन्त्र के जप से अमुक फल मिलता है" इस उपदेश से हम उस कथन को प्रमाणभूत मानते हुए मन्त्रजप में प्रवृत्त होजाते हैं। एवमेव—"अमुक रोग में अमुक औषध हितकर है" आयुर्वेद के इस आदेश को शिरोधार्य कर उस औषधपान में प्रवृत्त होजाते हैं। इस प्रवृत्ति का एकमात्र कारण आप्तबुद्धि ही है। हम समझते हैं कि, उक्त आदेश परीक्षक विद्वानों का है। इस में कभी भ्रान्ति नहीं हो सकती। वेद

भी आप्तमहर्षियों का वाक्य है । अतः "अमुक कर्म्म से अमुक फल मिलता है" इत्यादि वेदोपदेशों पर हमारी स्वत एव निष्ठा होजाती है । यदि निष्ठा नहीं होती है, तो होनी चाहिए । जिस मनुष्यने अपने जीवन में एकबार भी 'ब्राह्मी' नहीं देखी हो, जिसे स्वप्न में भी यह मालुम नहीं हो कि, ब्राह्मी ज्ञानवर्द्धिका है, तो भी केवल आप्तोपदेश के आधार पर इसे उसको अपनाना पड़ेगा । "हम तो जभी मानेंगे, जब कि उस की पूरी जांच करलेंगे" ऐसा दुराग्रह रखनें वाले अश्रद्धालुओं को भी आयुर्वेदोपदेश में आप्तभाव के कारण बिना परीक्षा के ही प्रवृत्त होजाना पड़ता है । महर्षि गोतम कहते हैं कि, जिस हेतु [आप्तप्रामाण्यबुद्धि] से तुम आयुर्वेद को प्रमाण मानलेते हो, उसी आप्तभाव के कारण वेद को भी प्रमाण मानो ॥ ३ ॥

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥

इस आप्तवचन के अनुसार युगान्त में अन्तर्हित वेदों का युग के आदि में महर्षियों द्वारा आविर्भाव हुआ करता है । दूसरे शब्दों में मन्वन्तर के आदि में वेदसम्प्रदाय प्रवर्त्तक ऋषियों द्वारा युगान्त में अन्तर्हित वेद प्रादुर्भूत होता रहता है । इस प्रकार वेद का यह उद्धारक्रम निरन्तर (अनादिकाल से) चला आरहा है । ऐसी स्थिति में वेद के नित्यसिद्ध, किंवा कूटस्थ नित्य न होने पर भी हम इसे 'प्रवाहनित्य' अवश्य ही मान सकते हैं । आप्तप्रामाण्य के कारण वेद में प्रामाण्य मानना पड़ता है । लौकिक दृष्टार्थों के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था है । अर्थात उन के शब्दोपदेश को भी आप्तबुद्ध्या ही प्रमाण माना जाता है । साक्षात्कृतधर्म्मापुरुष ही आप्त कहलाता है । आप्तोपदेशभूत दृष्टार्थस्वरूप आयुर्वेद के द्वारा अदृष्टअर्थ का प्रतिपादन करनें वाले वेदों की प्रामाणिकता का भी अनुमान लगाया जासकता है । अर्थात् जिस हेतु से आयुर्वेद प्रमाणभूत है, वेद की प्रामाणिकता में भी वही हेतु है । क्योंकि आप्तभाव दोनों के लिए समान है । अपिच दोनों के (आयुर्वेद और वेद के) प्रवक्ता-द्रष्टा हैं । साक्षात्कार करनें वाले ही द्रष्टा कहलाते हैं । आयुर्वेदादि के प्रवक्ता-द्रष्टा पुरुष हैं, इसलिए वह प्रामाणिक है, इसी आधार पर द्रष्टा के प्रवचनरूप वेद की प्रामाणिकता में भी सन्देह नहीं किया जासकता । निष्कर्ष यही हुआ

कि, ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, भारद्वाजादि जो महर्षि आयुर्वेदादि के प्रवक्ता हैं, वे ही वेद के प्रवक्ता हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मादि के उपदेशभूत आयुर्वेदादि यदि प्रमाण हैं, तो उन्हीं ब्रह्मादि महर्षियों से कहे गए वेद की प्रामाणिकता में भी कोई सन्देह नहीं रह जाता। हां इस सम्बन्ध में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि, शब्द अर्थ का वाचक है। वह वाच्य अर्थ के ज्ञान का कारण है। इसलिए इस शब्दराशि को प्रमाण माना जाता है। 'शब्द नित्य है, इसलिए वह प्रमाण है" इस भ्रम में कदापि नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि शब्द (न्यायमतानुसार) सर्वथा अनित्य है ॥ ४ ॥५—६—स्पष्ट हैं।

इस प्राचीनन्यायमत के अवान्तर पांच विभाग होजाते हैं। इन का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—ईश्वरावतार ब्रह्मा ने वेद का निर्म्माण किया। (२१ मत)

ब्रह्मा ईश्वर के अवतार थे। इन्होंने हीं सर्वप्रथम वेदों को उत्पन्न किया है निर्गुण सगुण भेद से ब्रह्म के दो विवर्त्त हैं। इन में दूसरा सगुणब्रह्म निराकार—साकार भेद से दो भावों में परिणत होरहा है। इन में से दूसरा साकार ब्रह्म परमात्मा, अन्तरात्मा, शरीरात्मा, भेद से तीन भागों में विभक्त है। ये तीनों हीं आत्मा पुनः तीन तीन भागों में विभक्त हो रहे हैं। परमात्मा के सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट् ये तीन विवर्त्त हैं। अन्तरात्मा के जीवात्मा, क्षेत्रज्ञात्मा भूतात्मा, ये तीन विवर्त्त हैं। एवमेव शरीरात्मा के वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, भेद से तीन विवर्त्त हैं।

अथवा प्रकारान्तर से देखिए। ईश्वरतत्व निर्गुण—सगुण भेद से दो भागों में विभक्त है। इन में दूसरा सगुणेश्वर धर्म्मोपहित, धर्म्मविशिष्ट भेद से दो भागों में विभक्त है। इन में दूसरा धर्म्मविशिष्ट ईश्वरात्मा, जीवात्मा, विपिविष्टात्मा, भेद से तीन भागों में विभक्त है। ये तीनों हीं आत्मविवर्त्त पुनः तीन तीन भागों में विभक्त हैं। ईश्वरात्मा के सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट् ये तीन विवर्त्त हैं। जीवात्मा के क्षेत्रज्ञात्मा, महानात्मा, भूतात्मा ये तीन विवर्त्त हैं।

एवं शिपिविष्टात्मा के असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, सृमर—भ्रूणादिरूप ससंज्ञ भेद से तीन विवर्त्त हैं। इन सब आत्मविवर्त्तों की समष्टि ही ईश्वरप्रपञ्च है।

उक्त ब्रह्म विवर्त्तों में से धर्म्मविशिष्ट ब्रह्म के अवयव भूत ईश्वरात्मा के तीन अवयवों में से जो मध्य का 'हिरण्यगर्भ' नाम का विवर्त्त है, उसे ही हम ईश्वरावतार ब्रह्मा, किंवा प्रजापति कहेंगे। इसी ईश्वरावतार, प्रजासृष्टि विधाता धाताने वेदों का निर्म्माण किया हैं। इस मत के समर्थक निम्न लिखित श्रुति–स्मृति वचन हैं।

१—हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजुः सं०)।

२—अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम्।
वेद विद्याविधातारं ब्रह्माणममितंद्युतिम् (म.शान्तिप० २०७अ०)

——०:❀:०——

२—ईश्वरावतार मत्स्यभगवान् ने वेद बनाया है। (२२ मत)।

कितनें हीं विद्वानों के मतानुसार यह वेद ईश्वरावतार 'मत्स्य' भगवान् की वाणी है। मत्स्यावतार ही वेद के आदि प्रवर्त्तक हैं, जैसाकि नीचे लिखी पङ्क्तियो से स्पष्ट होजाता है-

---

१.—सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। येही सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च के अधिपति थे। इन्होंनें हीं पृथिवी और इस द्युलोक को धारण किया। हम इन से अतिरिक्त और किस देवता के लिए हवि का विधान कर सकते हैं।

२— ईश्वरने (अपने अवतारभूत हिरण्यगर्भ नामक) धाता [ब्रह्मा] को ही सम्पूर्ण भूतों का अध्यक्ष बनाया। वे ब्रह्मा वेदविद्या के प्रवर्त्तक थे, एवं महातेजस्वी थे।

*"ननु अशरीरात् कथं वेद-घटादि शब्दव्यवहारसम्प्रदायः। उच्यते-सर्गादावदृष्टोपगृहीतभूतभेदात्---मीनशरीरोत्पत्तावदृष्टवदात्मसंयोगाददृष्ट सहकृतप्रयत्नवदीश्वरसंयोगाद्वा सकलवेदार्थगोचरज्ञानात् विवक्षासहितान्मीनकलेवरकण्ठताल्वादिक्रियाजन्यसंयोगाद् वेदोत्पत्तिः। एवं कुलालादिशरीरावच्छेदेनादृष्टसहकृतप्रयत्नवदीश्वरसंयोगात् तद् बुद्धीच्छासहितचेष्टोत्पत्तौ सकलघटानुकूलव्यापारो घटोत्पत्तिः। एवं प्रयोज्य-प्रयोजकज्ञानाय व्यापाराभिमतशरीरावच्छेदेनापि अदृष्ट सहकृतेश्वर-ज्ञानेच्छाप्रयत्नादेवव्यवहारः। ततस्तत् सुशीलो बालो व्युत्पद्यते। सोऽयं भूतावेशन्यायः।

यत्तु यथा लिप्यादिना मौनिश्लोकोऽनुमानाय पठ्यते, तथा सर्गान्तरोत्पन्नतत्त्वज्ञानवताभोगार्थं सर्गादावुत्पन्नेन मन्वादिनासर्वज्ञेन ईश्वराभिप्रायस्थवेदः साक्षात्कृत्सानूद्यते। ततोऽग्रिमसम्प्रदायः। स एव कायव्यूहं कृत्वा वाग्व्यवहारं करोतीति मतम्। तन्न। प्रतिसर्गाद्यनन्तकल्पनायां गौरवात्। तेषामेव क्षित्यादिकर्तृत्वसंभवेन-ईश्वरानुगमाच्च" (तत्वचिन्तामणि)

——— o:❀:o ———

*"अयं घट"—"अयं वेदः" इत्यादि शब्दव्यवहारसम्प्रदाय कण्ठताल्वादि जन्य अभिघात रूप शरीरव्यापार की अपेक्षा रखते हैं। ईश्वर शरीरव्यापाररहित है। फिर यह शब्दव्यवहार-सम्प्रदाय किससे, कब चला ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए 'चिन्तामणि'कार कहते हैं—' सृष्टि के आरम्भ में अदृष्ट के बल से उपगृहीत भूतभेद से मीनशरीर की उत्पत्तिहुई है एवं अदृष्टवत् आत्मसंयोग से किंवा अदृष्ट से युक्तप्रयत्न के समान ईश्वरेच्छा के संयोग से (मीनशरीर में) सम्पूर्ण वेदार्थों के देखने का ज्ञान प्राप्त होजाने से तत्तद्विवक्षाओं से युक्त मीनशरीर के कण्ठताल्वादी के अभिघात से उत्पन्न तत्तद्संयोग विशेषों से ही वेदशब्द किंवा शब्दात्मकवेद

उत्पन्न हुआ है' यह मानलेने पर शरीरव्यापारसापेक्ष शब्दसम्प्रदाय की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार कुलालादि शरीर से युक्त, उसी अदृष्ट से युक्त प्रयत्न से ईश्वरसंयोगद्वारा, ईश्वरसंयोगयुक्त बुद्धि एवं इच्छायुक्त चेष्टा के प्रादुर्भूत होने से सम्पूर्ण घटों के व्यापार के उदय से घटोत्पत्ति एवं घटशब्दोत्पत्ति हुई है। इस तरह प्रयोज्य प्रयोजक के परिज्ञान के लिए व्यापाराभिमत शरीरसत्ता स्वीकार करलेने पर भी, दूसरे शब्दों में शरीरका सहयोग मानलेने पर भी अदृष्टसहकृत ईश्वरज्ञानसे उद्भूत इच्छा के प्रयास का सहयोग अवश्य ही मानना पड़ता है। अर्थात् ईश्वरेच्छा से ही मीनने स्वशरीरव्यापार से वेदसम्प्रदाय प्रवृत्त किया है, एवं ईश्वरेच्छा से ही कुलालादि घटसम्प्रदायप्रवृत्ति के हेतु बनते हैं। उसी ईश्वरेच्छा से एक कम ऊमरवाला बालक "काका-मामा बाबा" इस प्रकार बोलने लगता है। यही **"भूतावेशन्याय"** है। अर्थात् जिस प्रकार एक भूत (प्रेतात्मा) जैसे परकाय में प्रवेशकर बोलने लगता है, एवमेव ईश्वरेच्छा ही तत्तत् शरीरों में प्रविष्ट होकर तत्तत् कार्यकलापप्रवृत्ति का कारण बनती है। इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी कहता है—

जिस प्रकार लिपि के आधार पर एक व्यक्ति लिपिमयश्लोकों का अनुमान करता हुआ (अन्दाजा लगाता हुआ) चुपचाप पढ़ लेता है, इसी प्रकार दूसरे सर्ग में (पूर्वसर्ग में) उत्पन्न तत्त्वज्ञान से युक्त भोग के लिए सर्गादि में उत्पन्न मनु आदि सर्वज्ञ महानुभाव ईश्वराभिप्रायस्थवेद का साक्षात्कार करके उसका अनुवाद किया करते हैं। तात्पर्य्य यह हुआ कि, ईश्वर एक प्रकार का पत्र है। उसका वेदतत्वात्मक अभिप्राय ही वेदलिपि है। इस वेदलिपि को मौनवृत्ति से ईश्वर प्रेरणा से मन्वादि ने देखा। देखकर शब्दद्वारा प्रकट किया। इस क्रम से वेदसम्प्रदाय आगे आगे चलपड़ा। मन्वादि राजर्षि, एवं वसिष्ठादि महर्षि उसी के तो शरीर हैं जिस प्रकार एक योगी कायव्यूहप्रक्रिया से अनेक शरीर धारण कर कर्म्मभोग में समर्थ होजाता है, एवमेव वह ईश्वर कायव्यूहरूप मन्वादि अनेक शरीर धारण कर वेदवाक् का व्यवहार करता हुआ वेदसम्प्रदाय चलाता है"। इस पूर्वपक्षी मत का खण्डन करते हुए मणिकार कहते हैं—ऐसी परिस्थिति में प्रतिसर्ग के आदि में अनेक सर्वज्ञों की कल्पना करने से गौरव होगा। साथ ही में वेदवत् उन्हीं

१—ईश्वरावतार अग्नि–वायु–सूर्य्य नामक देवताओंनें वेद बनाया है। (२३ मत)

ऋग्–यजुः–साम नाम से प्रसिद्ध तीनों वेद क्रमशः अग्नि, वायु,–सूर्य्य नामक तीन अभिमानी देवताओं से उत्पन्न हुए हैं। "अभिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" (शा०सूत्र०) के अनुसार संसार में सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–अग्नि–वायु–वरुण आदि जितनें भी जड़ पदार्थ हैं, उन सब का (प्रत्येक का) एक एक अभिमानी* देवता होता है। ये देवता पुरुष के समान ही शरीरधारी चेतनजीव हैं। पुरुष में जहां ११ इन्द्रिएं हैं, वहां इन देवताओं में अष्टसिद्धि, नवतुष्टि इन १७ सिद्धितुष्टियों के समावेश से २८ इन्द्रिएं हैं। ये देवता अपने ऐश्वर्य के प्रभाव से तीनों लोकों में यथेच्छ यातायात करने में समर्थ हैं।

ऊर्ध्वं सत्वविशालस्तमो विशालस्तु मूलतः सर्गः।
मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तः॥ (सां०कारिका)।

इस सांख्यसिद्धान्त के अनुसार भूतसर्ग सत्वविशाल, रजोविशाल, तमोविशाल भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन में तमोविशालसर्ग आप्यजीव है, रजोविशालसर्ग वायव्यजीव हैं, एवं सत्वविशालसर्ग सौम्यजीव है। ये तीनों क्रमशः १–५–८ इस क्रम से विभक्त हैं। यही सांख्योक्त १४ प्रकार का भूतसर्ग है। इन में सत्वविशाल सौम्यजीव यक्ष[1]-राक्षस[2] पिशाच[3]–गन्धर्व[4]–ऐन्द्र[5]–पैत्र्य[6]–प्राजापत्य[7]- ब्राह्म[8] भेद से आठभागों में विभक्त है। ये आठों ही

का क्षित्यङ्कुरादि का कर्तृत्व सम्भव होने से उन्हें ही ईश्वर मानना पड़ेगा। फलतः अनेक ईश्वर होजायंगे। यह महा अनर्थ होगा। अतः वेद-घटादि-सम्प्रदायव्यवहार के सम्बन्ध में पूर्वोक्त सिद्धान्त ही स्वसिद्धान्त (एकेश्वरवादसिद्धान्त) के अनुसार समीचीन है।

:o:

* पुरुषविध, अपुरुषविध, मन्त्र, कर्म्म, अभिमानी, आत्म आदि भेद से देवता आठ प्रकार के होते हैं। इन सब का विशद वैज्ञानिक निरूपण "शतपथविज्ञानभाष्य" के प्रथमव० के १०–११–१२ अंकों में देखना चाहिए।

अपात् (चरणरहित) जीव हैं । ये चान्द्रमण्डल (चन्द्रिका) में ही निवास करते हैं । इन आठों में से ५ वां ऐन्द्रसर्ग ही "इन्द्रः सर्वा देवताः" [शत० ब्रा०] इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार देवसर्ग है । देवता ३३ हैं । इन में अग्नि, वायु, सूर्य्य ये तीन देवता ही मुख्य, एवं श्रेष्ठ है । यह इन के वर्गनाम [जातिनाम] है । व्यक्तिविशेष से इन नामों का कोई सम्बन्ध नहीं है । अग्निजातीय, वायव्यजातीय, सूर्य्यजातीय, अनन्त अग्नि— वायु—सूर्य्य देवता हैं। मनुष्यादि तिर्यक्सर्गवत् इन का भी समय समय पर जन्म—मृत्यु हुआ करता है । जिस प्रकार अस्मदादि वायव्यजीव वायु के आधार पर, मत्स्यमकरादि आप्यजीव पानी के आधार पर अपनें चिदाभास को प्रतिष्ठित रखते हुए क्रमशः वायु-एवं पानी के आधार पर श्वास प्रश्वास व्यापार में समर्थ होते हैं, एवमेव अष्टविध ये सौम्यदेवता सोम के आधार पर ही अपने चिदाभास एवं श्वास निःश्वास व्यापार को प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होते हैं । यही [सोमही] इन के जीवन का मूलाधार है । इन में जहां जन्मसे ही अणिमादि आठ सिद्धिएं नौ तुष्टिएं, रहती हैं, मनुष्य योगप्रक्रियाओं के द्वारा इन सिद्धि तुष्टियों को प्राप्त कर सकता है । जन्मसिद्ध इन सिद्धियों, एवं तुष्टियों के प्रभाव से ये देवता विशेषज्ञान, एवं विशेषशक्ति से युक्त है । इस ज्ञानोत्कर्ष. एवं शक्त्युत्कर्ष से ही ये अस्मदादि की अपेक्षा विशेष भग' सम्पत्ति से युक्त होते हुए 'ईश्वर के अवतार' कहलाते हैं ।

हम जिन देवताओं की उपासना करते हैं वे यही अभिमानी देवता हैं । जिसे सर्व-साधारण अग्नि कहते हैं, जिस में कि अन्नादि का परिपाक होता है, वह "भूताग्नि" है । स्पर्शानुभूतवायु 'भौतिकवायु है । प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यपिण्ड 'भौतिकसूर्य्य' है । प्रत्यक्षदृष्ट गंगा-तोय 'भौतिकजल' है । हम इन भौतिक अग्नि-वायु-सूर्य्य--जलादि की उपासना नहीं करते। अपितु इन में रहने वाले प्राणात्मक अग्नि-वायु सूर्य्य-गंगा-आदि अभिमानी देवताओं की उपासना करते हैं । अस्तु यह सब विषय प्रकृत से असंबद्ध है । यहां हमें केवल अग्नि-वायु सूर्य्य इन तीन अभिमानी देवताओं की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है ।

पूर्व के १८ वें मत में भौतिक अग्नि-वायु-सूर्य्यों को वेदत्रयी का कर्त्ता बतलाया था,

परन्तु प्रकृतमतानुसार इन तीनों के अभिमानी देवता ही त्रयीवेद के उत्पादक हैं। जड़पदार्थ से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। भौतिक देवता जड़ हैं, फलतः उन से वेदोत्पत्ति मानना असंगत है। चेतन, शरीरधारी अभिमानी इन तीनों प्राणात्मक देवताओं से ही वेद उत्पन्न हुए हैं। ईश्वर की विभूतिरूप, अतएव ईश्वरावतार अग्निनाम के जीवविशेष से ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद एवं सुर्य्य से सामवेद उत्पन्न हुआ है। इस मत के आधारपर निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्तवचन है।

१—त्रयो वेदा असृज्यन्त-अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः।
(ऐ० ब्रा०)।

२—अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ (मनुः)

३-प्रत्यक्षानुमानोपमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु-अन्तिमोवेद इति चेन्न। मन्वादिस्मृतिष्वतिव्याप्तेः। समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनमित्येतस्यागमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात्। अपौरुषेयत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेन्न। वेदस्यापि परमेश्वरनिर्म्मितत्वेन पौरुषेयत्वात्। शरीरधारिजीवपुरुषनिर्म्मितत्वाभावादपौरुषेयत्वमिति चेन्न।

१—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, एवं आदित्य से सामवेद— इस क्रम से ईश्वरने तीनों देवताओं से तीन वेद उत्पन्न किए।

२—यज्ञसिद्धि के लिए ईश्वरने अग्नि-वायु-रवि से ऋग्-यजुः-सामलक्षण सनातन त्रयीब्रह्म का दोहन किया।

३—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम (शब्द) इन चारों प्रमाणों में से वेद आगम प्रमाण (शब्दप्रमाण) रूप है यह भी नहीं कहा जासकता। वेद का यह लक्षण मानलेने पर मनुस्मृति आदि इतर ग्रन्थों को भी वेद मानना पडेगा। क्योंकि यह भी शब्दप्रमाणकोटि में अन्तर्भूत है। "समयबलानुसार सम्यकरूप से परोक्षानुभव का साधक प्रमाण ही आगम

"सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यादि श्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरत्वात्। कर्म्मफलरूपशरीरधारिजीव निर्म्मितत्वाभावमात्रेणापौरुषेयत्वं (वेदस्य) विवक्षितमिति चेन्न। जीवविशेषैरग्निवाय्वादिभिर्वेदानामुत्पादितत्त्वात्। 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदोवायोः, सामवेद आदित्यात्" (ऐ० ब्रा० ५।३२।) इति श्रुतेः। ईश्वरस्य अग्न्यादि प्रेरकत्वेन निर्म्मातृत्वं द्रष्टव्यम्"

(श्रीसायणाचार्यविरचित-ऋग्वेदभाष्योपोद्घात)

— ❧ —
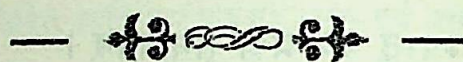
४—ईश्वरावतार सूर्य्यनामक देवता ने वेद बनाए हैं। (२४ मत)

जिस प्रकार सम्पूर्ण देवताओं में (३३ देवताओं में) अग्नि–वायु–सूर्य्य ये तीन अभिमानी देवता श्रेष्ठ है, एवमेव इन तीनों में अभिमानी सूर्य्य देवता को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। द्युलोकस्थ भौतिकसूर्य्य के अभिमानीदेवता सूर्य्यदेवता में ही मध्यमस्थानीय [अन्तरिक्षस्था-

---

प्रमाण है" इस आगमलक्षण की व्याप्ति स्मार्त्त ग्रन्थों में भी हो रही है। यदि कहो कि हम आगम का 'अपौरुषेय होता हुआ परोक्ष अनुभव का साधक प्रमाण ही आगम है। यह लक्षण करेंगे, तो इस से भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि वेद को परमेश्वर पुरुषने बनाया है, इसलिए वेद पौरुषेय है। फलतः उक्तलक्षण अव्याप्त होजायगा। पुरुष का अर्थ "शरीरधारी जीवपुरुष" मानलेने से भी काम नहीं चल सकता। कारण "उसके हजार मस्तक हैं, हजार आंखे हैं" इत्यादि श्रुतिएं स्पष्ट ही ईश्वर को शरीरधारी बतला रही हैं। "कर्म्मफलरूप शरीरधारी जीवपुरुष" के ग्रहण से भी लक्षणसमन्वय नहीं होसकता। क्योंकि "जीवविशेष अग्नि–वायु–सूर्य्य से वेदों की उत्पत्ति होती है"। ईश्वर अग्न्यादि देवताओं को वेदनिर्म्माण के लिए प्रेरित करता है।

——:(०):——

नीय] वायु, एवं पृथिवीस्थानीय अग्नि का जन्म हुआ है—*। इस प्रकार वायु, अग्नि के स्वरूपसमर्पक सूर्य्यदेवने हीं तीनों वेद [ईश्वरेच्छा से] उत्पन्न किए हैं। इस मत का समर्थक निम्न लिखित वचन है—

१—तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमंयन्ति मतयो वावशानाः॥
वह्निरादित्यो भवति। स तिस्रो वाचः प्रेरयति–ऋचो, यजूंषि, सामानि।
ऋतस्यादित्यस्य कर्म्माणि ब्रह्मणो मतानि। एष एवैतत् सर्वमक्षरम्।
[या० नि० परिशिष्ट १४।]।

१—वह वह्नि (सावित्राग्निरूप आदित्य) ऋत (परमेष्ठी) ब्रह्म की मनोमयी (सोममयी) विश्वधात्री (विश्व को धारण करने वाली) वाक् को (आम्भृणीवाक् को), एवं ऋग् यजुःसामात्मिका त्रयीवाक् को प्रेरित करता है। जिस प्रकार गोपति (ग्वाले) को ढूंढतीं हुईं गाएं उस की ओर अनुगत हो जातीं हैं, एवमेव कामनामयी बुद्धिरूपा सौररश्मिएं (रश्मिरूपगाएं) गोपतिस्थानीय (पारमेष्ठ्य) सोम की ओर अनुगत रहतीं हैं। वह्नि इस मन्त्र में आदित्य है। ऋक्–यजुः–सामरूप तीनों वाक्प्रपञ्चों को वह वह्निरूप आदित्य ही प्ररित करता है। .... + + + + ।

---

* भवद् भूतं भविष्यच्च जङ्गमं स्थावरं च यत्। अस्यैके सूर्य्यमेवेदं प्रभवं प्रलयं विदुः॥ १॥
कृत्वैष हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति। देवान् यथायथं सर्वान्निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥ २॥
दिव्यौ दिव्यप्रसूत्रौ द्वावग्नी मध्य (म) पार्थिवौ। .... ॥ ३॥
बृहद्देवता

५—ईश्वरावतार सर्वहुत यज्ञपुरुष ने वेद बनाए हैं। (२५ मत)।

यज्ञपदार्थ सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी आदि की तरह आधिभौतिक जड़पदार्थ है। इस यज्ञ के अभिमानी देवता भगवान् विष्णु हैं, अतएव "यज्ञो वै विष्णुः" "विष्णुर्वै यज्ञः" इत्यादि रूप से दोनों को एक वस्तु मानलिया जाता है। यह विष्णुदेवता यजनीय, दूसरे शब्दों में पूजाई होने से भी "यज्ञ" नाम से व्यवहृत किए जाते हैं। यज्ञमूर्त्ति इन्हीं विष्णुभगवान् से सम्पूर्ण वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्ट है—

१—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजुः सं० ३१)।

उक्त पांचों ही मतों का—"वेद का मुख्य कर्त्ता स्वयं ईश्वर नहीं, अपितु ईश्वर का अवतार है। अवतारकृत शब्दराशिरूप यह वेद पौरुषेय है, अनित्य है, मवान्तरनित्य है" इस प्राचीनन्यायमत का समावेश है। इसी आधार पर हमने इन पांचों मतों का उक्त प्राचीनन्यायमत में अन्तर्भाव माना है।

३—वेद ईश्वरावतारकृत हैं, पौरुषेय हैं, मवान्तरनित्य हैं। (प्राचीनन्यायमत)

१—(२१)→ईश्वरावतार ब्रह्मा ने वेद का निर्म्माण किया है।
२—(२२)→ईश्वरावतार मत्स्यभगवान् ने वेद बनाया है।
३—(२३)→ईश्वरावतार अग्नि-वायु-सूर्य्य नें वेदत्रयी बनाई है।
४—(२४)→ईश्वरावतार सूर्य्य ने वेद बनाया है।
५—(२५)→ईश्वरावतार सर्वहुत यज्ञपुरुषने वेद बनाया है।

इति-प्राचीनन्यायमतप्रदर्शनम्

३

१—उस सर्वहुत नाम के यज्ञपुरुष से ऋक्, साम, छन्द यजुः उत्पन्न हुए हैं।

४-सप्त-अवान्तरमतयुक्तं—

सांख्यदर्शनाभिमत-मतप्रदर्शनम्

४-सांख्यदर्शनाभिमत-मतप्रदर्शन

अब क्रमप्राप्त सांख्यमत का विचार कीजिए। "प्रधाना" नाम से प्रसिद्ध प्रकृति के आधार पर प्रतिष्ठित यह दर्शन "प्राधानिकदर्शन" नाम से प्रसिद्ध है। इस के मतानुसार वेद अनित्य है, अपौरुषेय हैं। जिस प्रकार सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमा, वृक्षाङ्कुर, पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थ अपने आप समय पर उत्पन्न होजाते हैं, उसी प्रकार से (प्राकृतिक नियमों के अनुसार) वेद भी समय समय पर अपने आप उत्पन्न हुआ करते हैं। प्राकृतिक पदार्थों की तरह वेद भी प्रावाहिक है, उत्पत्ति विनाशशाली है, अतएव हम इसे सर्वथा अनित्य कहने के लिए तय्यार हैं। समय समय पर उत्पन्न होने वाले, एवं समय समय पर नष्ट होने वाले वेद कभी नित्यसिद्ध नहीं माने जासकते। वेदों की अनित्यता प्रकृतिसिद्ध है, परन्तु साथ ही में हम इस के बनाने वाले किसी पुरुषविशेष को नहीं पाते, अतः कहेंगे हम इसे अपौरुषेय ही। निम्न लिखित प्राधानिक सूत्र उक्त मत का ही समर्थन करते हैं।

१—"न नित्यत्वं, वेदानां कार्यत्वश्रुतेः" (सां० ५।४५।)।
२—"न पौरुषेयत्वं, तत् कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्" (५।४६।)।
३—'मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्" (५।४७।)।
४—"नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वं, अङ्कुरादिवत्" (५।४८।)।
५—" तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादि प्रसक्तिः" (५।४६।)।
६—"यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्" (५।५०।)।

"स तपोऽतप्यत, तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त" [प्रजापतिने तप किया। इस तप से तीन वेद उत्पन्न हुए] इत्यादि श्रुतियोंनें स्पष्ट शब्दों में वेद की कार्य्यता सिद्ध की है। वेद सूर्य्यचन्द्रादिवत् उत्पन्न होने वाला कार्य विशेष है। कार्य अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्तभावापन्न होने से सर्वथा अनित्य है। ऐसी दशा में कार्यरूप इन वेदों को हम अवश्य ही अनित्य मानने के लिए तय्यार हैं॥ १॥

इतर काव्यों की तरह कार्यकोटि में प्रविष्ट होते हुए वेद यदि अनित्य हैं तो कैसा इन्हें पौरुषेय माना जासकता है ? इस प्रश्न का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, वेद पौरुषेय नहीं है। कारण, इसके निर्म्माता पुरुष का हम सर्वथा अभाव पाते हैं। सांख्यशास्त्र प्राधानिकशास्त्र है। वह ईश्वर नाम के पुरुषविशेष की सत्ता अवश्य मानता है, परन्तु उसका विश्व से वह कोई सम्बन्ध नहीं मानता। प्रकृति की व्यक्तावस्था ही सांख्यमतानुसार सर्ग है, व्यक्त की अव्यक्तावस्था ही प्रलय है। इसी प्रकृति के कारण उक्तदर्शन "प्राधानिक" नाम से भी प्रसिद्ध है। ईश्वरपुरुष कार्य्यकारणातीत बनता हुआ सर्वथा निर्लेप है। इसी अभिप्राय से—"ईश्वरासिद्धेः" (सां०सू०) यह कहा गया है। जब ईश्वरपुरुष का किसी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, तो ऐसी दशा में हम उसे वेद का कर्त्ता क्योंकर मान सकते हैं। फलतः इन अनित्य, किंवा प्रवाहनित्य प्राकृतिक वेदों का अपौरुषेयत्व सिद्ध होजाता है। २।

ईश्वरपुरुष कर्त्ता न सही, सुप्रसिद्ध पुरुष (महर्षि आदि) को ही क्यों न वेद का कर्त्ता मान लिया जाय ? इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आगे जाकर सूत्रकार कहते है कि, संसार में 'मुक्त' 'अमुक्त' भेद से पुरुषवर्ग दो भागों में विभक्त है। मुक्तात्मा पुरुष यद्यपि सर्वज्ञ होने से वेदरचना में समर्थ है, तथापि सर्वथा असंग होने से ईश्वरपुरुषकोटि में आता हुआ यह वेदनिर्म्माण की इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इधर अमुक्तात्मा असर्वज्ञ, अतएव भ्रान्त बनता हुआ वेदरचना में अयोग्य है। इस प्रकार मुक्त-अमुक्त दोनोंही वेदरचना सम्बन्ध में असंग-असर्वज्ञ क्रमशः इन दोनों कारणों से अयोग्य ठहर जाते हैं। फलतः वेदों का अपौरुषेयत्व अक्षुण्ण रह जाता है। ३ ॥

यदि वेद को अपौरुषेय माना जायगा तो इसे नित्य भी मानना पडेगा ? इस आपत्ति का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि, यह कोई नियम नहीं है कि, जो अपौरुषेय हो वह नित्य ही हो। अङ्कुर, लता, वृक्ष आदि का कोई कर्त्ता नहीं है। ये अपने आप प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले अपौरुषेय पदार्थ हैं। फिर भी ये अनित्य है। तथैव अपौरुषेय वेद भी अनित्यही है। ४ ॥

"तिलाङ्कुरादि का कर्त्ता तो कोई अवश्य है, परन्तु वह हमें चर्मचक्षु से दिखलाई नहीं देता। वह हमारे लिए अदृश्य है । अदृश्यपुरुष से उत्पन्न, अतएव पौरुषेय अङ्कुरादि अनित्य हैं। ऐसी स्थिति में वेद की अनित्यता में आप अङ्कुरादि दृष्टान्त को उपस्थित नहीं कर सकते"? यदि कोई यह आक्षेप करें, तो इस का समाधान यही है कि, यदि अङ्कुरादि का कोई कर्त्ता माना जायगा, तो 'दृष्टबाधदोष' उपस्थित होगा। "जो जो पौरुषेय (पुरुष से उत्पन्न) हैं, वे वे शरीरजन्य हैं" यह सर्वसिद्ध व्याप्ति है। ऐसी अवस्था में यदि अङ्कुरादि पौरुषेय होते, तो उन का कर्त्ता कोई शरीरी अवश्य ही उपलब्ध होता। परन्तु उपलब्ध नहीं होता अतः हम वेदवत् अङ्कुरादि को अपौरुषेय ही मानने के लिए तय्यार हैं ॥ ५ ॥

वादी पुनः प्रश्नाक्षेप करता है कि, "आदिपुरुष के मुख से वेद निकले हैं, यह सर्वसम्मत (श्रुतिसम्मत) पक्ष है। ऐसी स्थिति में पुरुषनिःश्वासरूप इन वेदों को हम अवश्य ही पौरुषेय कह सकते हैं।" इस आक्षेप का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, पौरुषेयत्व का—'पुरुषोच्चरितमात्रत्वं पौरुषेयत्वम्" यह लक्षण नहीं है। पुरुष के मुख से निकला है, इसी लिए इसे पौरुषेय नहीं माना जासकता। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, सुषुप्तिकाल में पुरुष (जीवात्मा) सर्वथा निर्व्यापार है। उस अवस्था में श्वास-प्रश्वास अविकलरूप से निकलते रहते हैं। ये व्यापार सर्वथा अपौरुषेय हैं। इन्हें कोई पौरुषेय नहीं कहता। वस्तुतः पौरुषेय का—"जिस पदार्थ के देखते ही—'यह पदार्थ अमुक व्यक्ति द्वारा बड़ी बुद्धिमानी से बनाया गया है"—यह भाव उत्पन्न होजाय, वही पौरुषेय है" यह लक्षण है। वेद अबुद्धिपूर्वक है। घटपटादि पदार्थ ही कृतबुद्धिविषयक बनते हुए पौरुषेय हैं। वेद तो आदिपुरुष के मुख से बिना प्रयास के अपने आप ही निःश्वासवत् निकला हुआ है। ऐसी स्थिति में इसे कथमपि पौरुषेय नहीं कहा जासकता ॥ ६ ॥

इस मत के अनुसार वेदों का ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वेद प्राकृतिकतत्व है। इसी सांख्यमत के आधार पर सात अवान्तर मत और होजाते हैं। संक्षेप से इन का भी दिग्दर्शन करादिया जाता है।

१–प्रकृतिसिद्ध अग्नि-वायु-सूर्य्य इन तीनों भौतिक पदार्थों से तीनों वेद अभिन्न हैं। (२६मत)

न०न्यन्यायमतानुसार अग्नि-वायु-सूर्य्य इन तीनों भौतिक पदार्थों से क्रमशः तीनों वेदों की उत्पत्ति बतलाई गई थी (देखिए न०य०न्या० ५ मत, एवं प्राचीनन्यायमतानुसार ईश्वरावतार इन तीनों के अभिमानी देवताओं से क्रमशः तीनों वेदों की उत्पत्ति बतलाई गई थी (देखिए प्रा०न्या०म० ३ मत) इन दोनों मतों से सर्वथा विलक्षण एक मत यह भी है कि न इन भौतिक अग्न्यादि पदार्थों से वेद उत्पन्न हुए, एवं न इन के अभिमानी देवताओं से वेद उत्पन्न हुए। अपितु इन तीनों भौतिक पदार्थों का ही नाम वेद है। दूसरे शब्दों में इन में और वेदों में जन्य-जनकभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु दोनों में अभिन्नता है। अग्नि ही ऋग्वेद है. हंस नाम से प्रसिद्ध वायु ही यजुर्वेद है। आदित्य ही सामवेद है। कारण स्पष्ट है। जब हम तीनों वेदों को उठाकर देखते हैं तो उन में क्रमशः हमें ऋग्वेद में विभूतियुक्त अग्नि का, यजुर्वेद में विभूतियुक्त वायु का, एवं सामवेद में विभूतियुक्त सामवेद का ही निरूपण मिलता है। जिस प्रकार प्रकृतिसिद्ध व्याकरणादि विद्याओं के प्रतिपादक शास्त्र व्याकरणादि शब्दों से व्यवहृत होते हैं, एवमेव अग्नि-वायु-सूर्य्यरूप तीनों वेदों के प्रतिपादक वेदग्रन्थ भी इन्हीं शब्दों से व्यवहृत देखे जाते हैं। अथर्ववेद ने स्पष्टशब्दों में वेद, एवं देवताओं का अभेद बतलाते हुए इस मत का समर्थन किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट होजाता है-

[1]—येऽर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥

(अथर्वसं० १०।८।१७)।

—०:※:०—

१—जो (अल्पज्ञ) मनुष्य प्रथम (अर्वाक्) कोटि के ऋग्वेद के विद्वान् के सम्बन्ध में, मध्यम कोटि के यजुर्वेद के विद्वान् के विषय में, एवं तृतीय (पुराण) कोटि के सामवेद के विद्वान् के सम्बन्ध में निन्दापरक वचनों का प्रयोग करते हैं, दूसरे शब्दों में जो इतथी वेदवेत्ता

१—प्रकृतिसिद्ध भौतिक सूर्य्य तीनों वेदों से अभिन्न है। (२७ मत)

नव्यन्यायानुसार भौतिक सूर्य्य से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं (देखिए नव्यन्याय० ६
मत) प्राचीनन्यायानुसार ईश्वरावतार अभिमानी सूर्य्य से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं (दे०
प्रा०न्या० ४ मत)। परन्तु प्रकृतमतानुसार भौतिक प्राकृतिक सूर्य्य, और तीनों प्राकृतिक
वेद अभिन्न हैं। सूर्य्य और वेदों का जन्यजनकभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु सूर्य्य ही साक्षात्
वेद है। किंवा त्रयीवेद ही साक्षात् सूर्य्य है। जिस प्रकार 'आगमशास्त्र' में प्रधानरूप से
पृथिवी के पदार्थों का निरूपण हुआ है, एवमेव इस निगम* (वेद) शास्त्र में प्रधानरूप से
सौरपदार्थों का निरूपण हुआ है। अग्नि—वायु—आदित्यादि सम्पूर्ण देवता सूर्य्य का ही विवर्त्त-
वाद है—"नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" सौरब्रह्माण्डमयविश्व (रोदसीत्रैलोक्य) का विज्ञान-
प्रतिपादक शास्त्र ही वेदशास्त्र है। इस मत का समर्थक निम्न लिखित श्रौतप्रमाण हमारे सामने
आता है—

१—सैषा त्रयीविद्या तपति, य एष तपति। (शत० १०।५।२।१)।

विद्वान् की अवहेलना करते हैं, वे आदित्य, अग्नि, वायु की ही निन्दा करते हैं। श्रुति का
अभिप्राय यही है कि, ऋक्-यजुः-साम का ज्ञाता विद्वान् अग्नि-वायु-सूर्य्यमूर्त्ति है। श्रुति का
उक्त कथन तभी सङ्गत हो सकता है, जब कि वेदों को देवताओं से अभिन्न मान लिया
जाय।

१—वह यह त्रयीविद्या ही तप रही है, जोकि यह सूर्य्य तप रहा है।

---

* इस विषय का विशदविवेचन "दशमहाविद्या" नाम के निबन्ध में देखना चाहिए। इस का कुछ अंश
कल्याण के शक्त्यङ्क में भी प्रकाशित होचुका है।

२—आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति । तत्र ता ऋचः, तदृचां मण्डलम् । स ऋचां लोकः । अथ य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चि-र्दीप्यते, तानि सामानि । स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मि-न्मण्डलेऽर्चिषि पुरुषः, तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति, य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः ।

(नारायणोपनिषत्) ।

३—यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम् । ता ऋचः । स ऋचां लोकः । अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम् । तानि सामानि । स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः । तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति । तद्धैतद् विदस आहुः-त्रयीवा एषा विद्या तपतीति । वाग्-हैव तत् पश्यन्ती वदति । (शत० १०।५।४) ।

२—यह आदित्यरूप मण्डल तप रहा है । इस (सौरमण्डल) में जो ऋचाएं हैं, वह ऋचाओं का मण्डल है । वह ऋचाओं का लोक है । जोकि इस मण्डल में अर्चि (प्रकाश) प्रदीप्त हो रही है, वे साम हैं । वह सामों का लोक है । एवं जोकि इस मण्डल में अर्चिभाग (के केन्द्र) में पुरुष है, वे यजु हैं । वह यजुओं का लोक है । इस प्रकार यह त्रयी विद्या ही तप रही है, जोकि इस आदित्य के केन्द्र में हिरण्मयपुरुष (तपरहा) है ।

३—जो कि यह मण्डल (सूर्य्यबिम्ब) तप रहा है, वह 'महदुक्थ' किंवा 'महोक्थ' है । वे ऋचाएं हैं । वह ऋचाओं का लोक है । जोकि यह अर्चिमण्डल (प्रकाशमण्डल) प्रदीप्त हो रहा है, वह महाव्रत है । वे साम हैं । वह सामों का लोक है । एवं जोकि इस मण्डल (बिम्ब के केन्द्र) में जो पुरुष है, वह अग्नि है । वे यजु हैं । वह यजुओं का लोक है । इस प्रकार यह त्रयी विद्या ही (सूर्य्यरूप से) तप रही है । (उस युग के) साधारण

४—सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता—ऋचो, यजूंषि, सामानि । × × × । सा या सा वागसौ स आदित्यः । × × × । मण्डलमेवर्चः । अर्चिः सामानि । पुरुषो यजूंषि । (शत० १०) ।

— ❧ —

१—प्रकृतिसिद्ध अग्नीषोमात्मक भौतिक यज्ञ तीनों वेदों से अभिन्न है । (२८ मत)

नव्यन्यायानुसार भौतिक यज्ञ से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं—(दे०न०न्या० ७ मत) । प्राचीनन्यायानुसार भौतिकयज्ञ के अभिमानी देवता, ईश्वरावतार यज्ञपुरुष से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं—(दे०प्रा०न्या० ५ मत) । परन्तु प्रकृतमतानुसार वेद और भौतिकयज्ञ अभिन्न हैं । यज्ञ ही वेद है, वेद ही यज्ञ है । दोनों में जन्य—जनकभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु अभेद सम्बन्ध है । सम्पूर्ण वेद में यज्ञ ही का तो प्रतिपादन हुआ है । यज्ञ से अतिरिक्त वेद में और है क्या । हौत्र-औदुगात्र-आध्वर्यव-किंवा शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह इन कर्म्मों की समष्टि का ही नाम यज्ञ है । ऋग्वेद से होता द्वारा ऋङ्मय हौत्र, एवं शस्त्र कर्म्म होता है । यजुर्वेद से अध्वर्यु-द्वारा यजुर्मय आध्वर्यव, एवं ग्रह कर्म्म संपन्न होता है । सामवेद से उद्गाता नाम के ऋत्विक् द्वारा औदुगात्र, एवं-स्तोत्र कर्म्म संपन्न होते हैं । इस प्रकार तीनों वेद एकमात्र यज्ञकर्म्म का

शास्त्रानभिज्ञ मनुष्य भी इस सूर्य्य के लिए—'अरे ! यह तो त्रयी विद्या तप रही है" यह कहते थे । वे वाङ्मय सूर्य्य को, किंवा सूर्य्यरूपा 'पश्यन्ती' नाम की वाक् को देखकर ही ऐसा कहते थे । अथवा सूर्य्यरूपा स्वयं पश्यन्ती वाक् ही सर्वसाधारण को कहती है कि, देखो ! मैं त्रयीविद्यामयी हूं ।

४—सो यह वाक् ऋक्, यजुः, साम भेद से तीन भागों में विभक्त है । मण्डल ही ऋचाएं हैं । अर्चि साम है । पुरुष यजु है । सो यह वाक् यही साक्षात् सूर्य्य है ।

—:(०):—

स्वरूप सम्पादन करते हुए वास्तव में यज्ञात्मक ही हैं। यही सिद्धान्त निम्न लिखित वचनों से प्रतिध्वनित हो रहा है—

१—ब्रह्म वै यज्ञः।

२—सैषा त्रयीविद्या यज्ञः। (शत० १।१।४।३)।

३—एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावानेष वेदः। (शत० ५।५।२।१)।

४—वाग्धि यज्ञः (ऐ०ब्रा० ५।२४।)।

५—वागविवृताश्च वेदाः (मुण्डक)।

—:*:—

४—प्रकृतिसिद्ध कालचक्र से वेद उत्पन्न हुआ है। (२९ मत)

प्रजापति से आरम्भकर स्थावरजङ्गमात्मक सम्पूर्ण विश्वचक्र एकमात्र 'कालचक्र, की गति से ही उत्पन्न हुआ है। सब का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण कालचक्र ही है। इसी प्राकृतिक कालचक्र के अनुसार वेद भी उत्पन्न हुआ है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित वचन हैं—

१—सप्तचक्रा वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतन्त्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यर्वाङ् कालः स ईयते प्रथमोऽनुदेवः ॥ १ ॥

१—ब्रह्म [वाङ्मयवेदब्रह्म] ही यज्ञ है।

२—ऋग्-यजुः-सामात्मिका त्रयीविद्या यज्ञ है।

३—इतना ही यह सम्पूर्ण यज्ञ है, जितना कि यह सम्पूर्ण वेद है।

४—वाक् [वेदमयीवाक्] ही यज्ञ है।

५—वाक् का विवर्त्तभाव [फैलाव] ही वेद है।

—:*:—

१—यह (संवत्सररूप) कालचक्र सात चक्रों (सात अहोरात्र वृत्तों) का वहन

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ।
तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ।
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ॥ ३ ॥
कालोह भव्यं भूतं च मन्त्रो अजनयत् पुरा ।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ ४ ॥

—:o:—

५—सृष्टि के आरम्भ में यह वेद प्रकृति के अनुसार स्वयं उत्पन्न हुआ है । [३०]

सृष्टि के आदिकाल में [आरम्भ में] वेद स्वयमेव प्रादुर्भूत हुए हैं । जिस वेदराशि में मनुष्यबुद्धि से सर्वथा परे की अलौकिक विद्याओं का निरूपण हुआ है, उस अलौकिक वेदशास्त्र का निर्म्माण मनुष्य करे, यह कथमपि सम्भव नहीं है । समुद्र-पर्वतादि पदार्थों का निर्म्माण

जाता है इस कालचक्र (रूप संवत्सर) के (सात अहोरात्र वृत्तों के कारण) सात केन्द्र हैं । अमृतभावापन्न सूर्य्यकेन्द्र इस चक्र का अक्ष (धुरा) है । ऐसा यह कालचक्र इन सम्पूर्ण [सातों] भुवनों को अपने अवाङ्प्राण से [मर्त्यप्राण से] प्रेरित करता है । यह कालचक्र सब का आदि-देव है । १ । काल सबका ईश्वर है । स्वयम्भू प्रजापति का भी यह पिता (उत्पादक) है । इसी से सब कामनाओं का उदय हुआ है । इसी से कामनापूर्वक सब कुछ उत्पन्न हुआ है । उत्पन्न वह सारा प्रपञ्च इसी कालचक्र पर प्रतिष्ठित है । २ । काल ही ब्रह्म [स्वयम्भू] बनकर परमेष्ठी को धारण करता है । कालने प्रजा उत्पन्न की है । कालने हीं सर्वप्रथम प्रजापति को उत्पन्न किया है । ३ । कालने हीं भूत भविष्यत का निर्म्माण किया है । कालने हीं सृष्टि के आरम्भ में वेदमन्त्र उत्पन्न किए हैं । काल से ही ऋचाएं उत्पन्न हुई हैं । काल से ही यजु उत्पन्न हुआ है ।

जैसे मनुष्यशक्ति के बाहर की बात है, एवमेव प्राकृतिक, सत्यसंहित वेद भी असत्यसंहित मनुष्य की असत्यकृति से एकान्ततः बहिर्भूत है। "ईश्वरने वेदों को बनाया होगा"-यह कहना भी सुसङ्गत प्रतीत नहीं होता। कारण स्पष्ट है। पहिले तो ईश्वर की सत्ता मानना ही कठिन है- [ईश्वरासिद्धे०] शब्दबल के आधार पर यथाकथंचित् यदि ईश्वर की सत्ता मान भी ली जाती है, तब भी उसे क्लेश-कर्म्म-विपाक-आशयादि से सर्वथा असंस्पृष्ट ही मानना पड़ेगा। न उस में क्रिया है, एवं न प्रवृत्तियों के मूलकारण राग-द्वेष का ही उस में समावेश है। वह तो [विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार] नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त, निष्क्रिय, निरञ्जन, अनन्तकल्याणगुणाकर है। न वह विश्व का कर्त्ता माना जासकता, न उसे विश्वावयवभूत वेद का कर्त्ता कहा जासकता। विश्व के यच्चयावत् पदार्थ नित्य-प्रकृतिजात-पुरुषजात भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। आकाश-परमाणु आदि पदार्थ नित्यजात हैं, नित्यसिद्ध हैं। ये किसी से उत्पन्न नहीं हुए हैं, अपितु स्वयंसिद्ध है। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-ग्रह-नक्षत्रादि पदार्थ प्रकृतिजात हैं। इन्हें ही प्राकृतिक कहा जाता है। एवं गृह-वस्त्र-पुस्तक-घट आदि पदार्थ पुरुषजात हैं। ये पदार्थ पौरुषेय कहलाते हैं।

उक्त विभाग के अनुसार किसी ने वेदपदार्थ का नित्यसिद्ध पदार्थों में अन्तर्भाव माना है, किसी ने प्रकृतिजात में, एवं किसी ने पुरुषजात में इन का समावेश माना है। ये विभाग केवल व्यावहारिक हैं। यदि व्यापकदृष्टि से विचार किया जाता है तो सर्वसाक्षी, निराकार, चिद्घन पुरुष (ब्रह्म), एवं तत्सम्बन्धिनी प्रकृति देवी के अतिरिक्त और कुछ भी नित्य नहीं है—"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"। कोई पदार्थ क्षण, किंवा त्रुटि-कालपूर्व, एवं कोई परार्द्ध्यकालपूर्व उत्पन्न हुआ है। उत्पन्न सब हैं। इसी प्रकार पुरुषजात विभाग का भी कोई मूल्य नहीं है। जिन पुरुषों (मनुष्यों) से गृह-वस्त्रादि पौरुषेय पदार्थों का निर्म्माण माना जाता है, वे पुरुष भी प्रकृतिपरतन्त्र हैं। उन का जन्म, मृत्यु, स्वरूपसंगठन, स्वभाव, मनोवृत्ति, कर्म्मसामर्थ्य, ज्ञानशक्ति, कहां तक गिनावें, स्वयं उन की स्वरूपसत्ता की बागडोर भी प्रकृतिदेवी के ही हाथ में है— 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'।

ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि, पुरुषधौरेय (ईश्वर) सर्वथा निर्लेप है। सब कुछ प्रपञ्च एकमात्र प्रकृतिसिद्ध ही है। इसी सर्वसम्मत, एवं सर्वानुभूत सामान्य सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के आदि में सूर्य्य-चन्द्रादि इतर प्राकृतिक पदार्थों की तरह वेद भी प्रकृतिसिद्ध होते हुए स्वतः ही उत्पन्न हुए हैं। इसी मत का समर्थन करते हुए आप्तपुरुष कहते हैं—

१—सैषा त्रयीविद्या प्रथमं जायते, यथैत्रादोऽमुत्राजायत-एवम्।

(शत० २।३।२०)।

२—वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।

(म० शा० कपिलवाक्य)।

———०:※:०———

६—तीनों प्राकृतिक लोकों से क्रमशः तीन वेद उत्पन्न हुए हैं। [३१ मत]

भूः-भुवः-स्वः नाम से प्रसिद्ध पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नाम के तीन लोक हैं। इन से क्रमशः पृथिवी से ऋग्वेद, अन्तरिक्ष से यजुर्वेद द्युलोक से सामवेद उत्पन्न हुआ है। ऐसा इसलिए मानना पड़ता है कि तीनों वेदों में क्रमशः ऋग्वेद में प्रधानरूपसे पार्थिव आग्नेयपदार्थों का, यजुर्वेद में आन्तरिक्ष्य वायव्यपदार्थों का, एवं सामवेद में दिव्य सौरपदार्थों का ही प्रतिपादन देखा जाता है। इसी लिए ऋग्वेद का आरम्भ—"अग्निमीळे पुरोहितम्" इत्यादि-रूप से पृथिवी के अधिष्ठाता अग्निदेवता को प्रधान मान कर ही हुआ है। "पुरोहितम्" शब्द ही पृथिवीलोक का परिचायक है। यजुर्वेद के आरम्भ में 'इषेत्वोर्जेत्वा वायवस्थ देवः"

१—यह त्रयीविद्या सर्वप्रथम उसी प्रकार उत्पन्न हुई है, जैसे कि पूर्वकाल में यह उत्पन्न हुई थी।

२—वेद लोकों के सम्बन्ध में प्रमाणमात्र है। वेदों का निर्म्माण पीछे से नहीं हुआ है। अपितु ये प्रकृति सिद्ध हैं।

इत्यादिरूप से वायुदेवता को प्रधानता दी गई है। वायुदेवता अग्नि की ही तरलावस्था है। अतएव यजुर्वेदव्याख्यानभूत "शतपथ" के आरम्भ में–'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" इत्यादिरूप से अग्नि की स्तुति की गई है। एवमेव सामवेद का आरम्भ 'अग्न आयाहि वीतये' इस मन्त्र से हुआ है। 'आयाहि' शब्द द्युलोक का ही संग्राहक है। द्युस्थानस्थ अग्नि वास्तव में पृथिवी पर आता है। इस प्रकार हम तीनों लोकों से ही तीनों वेदों का विकास मानने के लिए तय्यार हैं। जैसाकि श्रुति कहती है—

१—प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयीविद्या संप्रास्रवत्। तामभ्यतपत्। तस्या अभितप्ताया सम्प्रास्रवन्त–भूः, भुवः, स्वरिति" (छां उ. २।२३।)।

७—तीन छन्दों, तीन सवनों, एवं तीन स्तोमों से त्रयीवेद उत्पन्न हुआ है। (३२)

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ ये तीन लोक सुप्रसिद्ध हैं। इन तीनों के क्रमशः अष्टाक्षर गायत्रीछन्द, एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, एवं द्वादशाक्षर जगतीछन्द ये तीन छन्द हैं। तीनों के क्रमशः त्रिवृत्स्तोम (९ अहर्गणात्मक) पञ्चदशस्तोम (१५ अहर्गणात्मक), एवं एकविंशस्तोम (२१ अहर्गणात्मक) ये तीन स्तोम हैं। एवं तीनों के अष्टवसुदेवतात्मक प्रातःसवन, एकादशरुद्रात्मक माध्यन्दिनसवन, तथा द्वादशआदित्यात्मक सायंसवन भेद से तीन सवन हैं। प्रातःसवनात्मक, त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न, गायत्रीछन्दोयुक्त पृथिवीलोक से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ है। माध्यन्दिनसवनात्मक, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, त्रिष्टुप्छन्दोयुक्त अन्तरिक्षलोक से

१—प्रजापति (त्रैलोक्यमूर्त्ति लोकात्मक प्रजापति) ने अपने अवयवभूत तीनों लोकों को तपाया। तप्त इन तीनों लोकों से त्रयीविद्या का स्रोत निकला। पुनः त्रयीविद्या को तपाया। इस तप्त त्रयीविद्या से क्रमशः भूः-भुवः-स्वः रूप तीन महाव्याहृतिएं उत्पन्न हुई।

यजुर्वेद उत्पन्न हुआ है। एवं सायंसवनात्मक, एकविंशस्तोमावच्छिन्न, जगतीछन्दोयुक्त द्युलोक से सामवेद उत्पन्न हुआ है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित वचन हैं। इस मत की प्रामाणिकता भी यत्र तत्र ब्राह्मणग्रन्थों में स्फुट है।

———:o:———

उक्त सातों मतों में—"वेद प्राकृतिक हैं, कृतक हैं, अपौरुषेय हैं, अनित्य हैं" इस चौथे **सांख्यमत** की समानरूप से व्याप्ति है। अतएव इन सातों को हम सांख्यमत में अन्तर्भूत मानने के लिए तय्यार हैं।

४—वेद प्रकृतिसिद्ध हैं। अपौरुषेय हैं। अनित्य हैं। (सांख्यमत)

१-२६—→यह वेद प्रकृतिसिद्ध अग्नि-वायु-सूर्य से अभिन्न है।
२-२७—→यह वेद प्रकृतिसिद्ध सूर्य्य से अभिन्न है।
३-२८—→यह वेद प्रकृतिसिद्ध यज्ञ से अभिन्न है।
४-२९—→यह वेद प्रकृतिसिद्ध कालचक्र से उत्पन्न हुआ है।
५-३०—→यह वेद प्रकृति से स्वतः उत्पन्न हुआ है।
६-३१—→यह वेद प्रकृतिसिद्ध तीनों लोकों से उत्पन्न हुआ है।
७-३२—→यह वेद प्रकृतिसिद्ध छन्द-स्तोम-सवनों से उत्पन्न हुआ है।

इति—सांख्यमतप्रदर्शनम्

४

५-सप्त-अवान्तरमतयुक्तं—

वैशेषिकदर्शनाभिमत-मतप्रदर्शनम्ॐ

५—वैशेषिकदर्शनाभिमत—मतप्रदर्शन

हर्षि उलूक (कणाद) के मतानुसार वेद (वेदग्रन्थ) विद्वान् महर्षियों के बनाए हुए हैं, अतएव ये सर्वथा पौरुषेय (मनुष्य-कृत) हैं, एवं सर्वथा अनित्य हैं। साथ ही में दृष्टिभेद से वेद अकृतक हैं, अपौरुषेय हैं, अत एव सर्वथा नित्य भी हैं। वेद शब्द शब्दराशिरूप वेदग्रन्थ (वेद की पुस्तक) में भी प्रयुक्त होता है, एवं शब्दप्रतिपाद्या वेदविद्या के साथ भी वेदशब्द का सम्बन्ध है। शब्दापेक्षया वेद पौरुषेय हैं, अनित्य हैं। विद्यापेक्षया वेद अपौरुषेय हैं, नित्य हैं। लोक में जिन वेदों का पारायण होता है, वे वेद अनित्य हैं। एवं शब्दात्मक वेद से प्रतिपादित विद्यात्मक वेद नित्य हैं। दूसरे शब्दों में वेदग्रन्थ अनित्य हैं, वेदविद्या नित्य है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

१—"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (वै०द० ६।१।१।)।

२—"ब्राह्मणे संज्ञाकर्म्म सिद्धिलिङ्गम्" (वै. द. ६।१।२।)।

३—"आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्म्मेभ्यः" (वै. ९।२।१३।)।

इन सूत्रों का तात्पर्य्य यही है कि, वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक ही होती है। हम जब गद्यात्मक, अथवा पद्यात्मक वाक्य रचना करते हैं. तो उसमें "प्रज्ञान" सहकृत "विज्ञान" (मनोयोगपूर्विका बुद्धि) की अपेक्षा रहती है। बिना बुद्धि के वाक्यरचना असम्भव है। इधर वेदशास्त्र वाक्यरचना का संग्रहमात्र है। यह बिना बुद्धि के व्यापार के सम्भव नहीं है। बुद्धि परिच्छिन्नतत्व है। बुद्धिव्यापार एकमात्र परिच्छिन्न पुरुष का ही धर्म्म है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, वाक्य संग्रहात्मक यह वेद विद्वान् महर्षियों की कृति है, अतएव यह पौरुषेय है ॥ १ ॥

अपि च 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध वेदभाग में नामों का जो निर्वचन हुआ है, उस से भी वेद का बुद्धिपूर्वकत्व ही निर्म्माण सिद्ध होता है। "सो रोदीत्-तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्, रुद्रः किल रुरोद" (वह रोया इस लिए उसका नाम रुद्र होगया, रुद्र रोया) इत्यादिरूप से तत्तन्नामों की व्युत्पत्ति (निर्वचन) की गई है। यह निर्वचन स्पष्ट ही बतला रहे हैं कि, वेदों की रचना पुरुषविशेषों के द्वारा बुद्धिपूर्वक ही हुई है। क्योंकि शब्दों का यथावत् (व्याकरणानुसार) निर्वचन करना मनुष्यबुद्धि का ही काम है ॥२॥

उक्त दोनों सूत्र वेद की पौरुषेयता, एवं अनित्यता का निरूपण करते हैं, एवं तृतीय सूत्र आर्षज्ञान को लक्ष्य में रखता हुआ (शब्दवेदप्रतिपाद्य वेदविद्या को लक्ष्य में रखता हुआ) वेद की अपौरुषेयता, एवं नित्यता का प्रतिपादन करता है। नित्य वेदतत्त्व, किंवा वेदविद्या को ऋषियों नें अपनीं आर्षदृष्टि से पहिचाना है। वह आर्षज्ञान (वेदविद्यारूपज्ञान) सर्वथा अपौरुषेय, एवं नित्य हैं। इस नित्यज्ञान (नित्यवेद) की प्राप्ति का उपाय एकमात्र धर्म्मबुद्धि ही है। इस प्रकार धर्म्मबुद्धिद्वारा उस नित्य अपौरुषेय वेद को प्राप्त कर ऋषियोंनें जिस शब्दराशिद्वारा उसे हमारे सामने रक्खा है, वही वेद पौरुषेय, एवं अनित्यशब्दमय होने से अनित्य है ॥३॥

यही मत सर्वमान्य कहा जासकता है। भगवान् पतञ्जलिने भी इस वैशेषिक मत को ही प्रधानता दी है। एवं महाभाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार कैयट, एवं जयादित्य ने भी इसी मत का समर्थन किया है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट होजाता है—

१—"ननु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते—नित्यानि छन्दांसि—इति। यद्यप्यर्थो नित्यः। या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति-काठकम्, कापालकम्, मौद्गलम्, पैप्पलादकम्"—इति।

(महाभाष्य. ४।३।१०१।)।

२—"शौनकादिभ्यश्छन्दसि" (४।३।१०६।)। शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः। वाजसनेयिनः। "कठचरकाल्लुक्" (४।३।१०७)। कठाः, चरकाः-(महा. ४।३।१०६–१०७) इति।

३—"महाप्रलयादिषु वर्णानुपूर्वीविनाशे पुनरुत्पाद्य ऋषयः संस्कारातिशयात् वेदार्थं स्मृत्वा शब्दरचनां विदधतीत्यर्थः" (कैय्यट४।३।१०१।)।

४—"पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (पा. सू. ४।३।१०५)। पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणप्रोक्तेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः-याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि, सौलभानि इति। किं कारणं-तुल्यकालत्वात्। एतान्यपि तुल्यकालानि इति" (म. भा.)। पुराणप्रोक्तेष्विति किम्। याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि. आश्मरथ्यः, कल्पः। याज्ञवल्क्यादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्त्ता। तया व्यवहरति सूत्रकारः" इति। (जयादित्यः)।

५—'तेन दृष्टं साम" (पा. सू. ४।२।७)। वासिष्ठं, वैश्वामित्रं, कालेयम्। यस्य साम्नोविशिष्टकार्यविषयोविनियोगो ज्ञानातिशयसम्पदा कलिनाऽऽज्ञायि, तत् तेन दृष्टमित्युच्यते" (कैय्यटः)।

उक्त वचनों का अभिप्राय यही है कि, वेदपदार्थ यद्यपि नित्य है, इसी लिए छन्द को नित्य कहा जाता है, परन्तु वर्णानुपूर्वीरूपशब्द सर्वथा अनित्य है। तत् समय में महर्षिगण उस अपौरुषेय नित्य वेदार्थ (वेदविद्या) का स्मरण करके पौरुषेय अनित्य वर्णानुपूर्वी द्वारा वेदार्थ को प्रकट किया करते हैं। यही मत विज्ञान सम्मत है, जैसाकि आगे की "विज्ञानवेदनिरुक्ति" में स्पष्ट होजायगा। इस मत के आवान्तर सात भेद होजाते हैं। उनका भी संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—यह वेद अग्नि, वायु, सूर्य्य नाम के तीन देवर्षियों का वाक्य है। (३३ मत)

पुरायुग में (जो कि युग पुराण-महाभारतादि में "देवयुग" नाम से प्रसिद्ध है) इस पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित 'भौमस्वर्ग" में अग्नि-वायु-सूर्य्य नाम की देवजातिएं अतिसुप्रसिद्ध थीं। जिस प्रकार पृथिवीलोकस्थानीय भारतवर्ष में निवास करनें वाले प्रत्यक्षद्रष्टा पुरुष ऋषि एवं महर्षि कहलाते थे, एवमेव भौमस्वर्गनिवासी मनुष्यविध भौमदेवताओं में जिन देवताओं

नें वेदतत्व का साक्षात् कर वेदमन्त्रों का निर्म्माण किया था, वे "देवर्षि" नाम से प्रसिद्ध थे। अग्नि-वायु-सूर्य्य नाम की जातियों में से अग्नि-वायु-सूर्य्य नाम के व्यक्तिविशेषों नें ही मनुष्यों के (भौमपृथिवीलोकनिवासी अस्मदादि मनुष्यों के) लिए क्रमशः ऋग्-यजुः-साम मन्त्रों का निर्म्माण किया है। प्राचीनन्यायमत के ३ मत विभाग में जिन अग्नि-वायु-सूर्य्यों का उल्लेख किया गया है, वे नित्य अभिमानी पुरुषविध अपाद देवता हैं। एवं प्रकृतमत के अग्न्यादि तीनों देवता अस्मच्छदृश सपाद मनुष्य देवता थे। उस मत के, एवं इस मत के देवताओं में यही विशेषता समझनी चाहिए। वे देवता देवता कहलाते हैं, एवं सृष्टि के प्रलयकाल तक उनकी प्रावाहिक नित्यता अक्षुण्ण है। इधर वेदसाक्षात्कर्त्ता तदनुसार वेदमन्त्र निर्म्माता मनुष्यविध-देवता महर्षि किंवा देवर्षि कहलाते थे। साथ ही में भौमस्वर्ग व्यवस्था के उच्छेद के साथ साथ ही इन भौमदेवताओं का महाभारतकाल में ही उच्छेद होगया है। इस मत का समर्थक निम्न लिखित सायणवचन ही पर्य्याप्त है।

१—"जीवविशेषैरग्निवाय्वादिसैर्वेदानामुत्पादितत्वात्" (ऋ० उपोद्घात)

२—यह वेद अजपृश्णि नामक ऋषियों का वाक्य है। (३४ मत)

भौमपृथिवीलोक की प्रजा मनुष्य कहलाती थी। यह प्रजा चार वर्णों, एवं चार अवर-वर्णों में विभक्त थी। वर्णप्रजा के चार विभाग क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से, एवं अवरवर्णप्रजा के चार विभाग क्रमशः अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ इन नामों से प्रसिद्ध थे। इन में वर्णप्रजा का ब्राह्मणवर्ग विद्यातारतम्य से ब्रह्म-ऋषि-देव-विप्र-ब्राह्मण इन पांच भागों में विभक्त था। जो भारतीय ब्राह्मण वेदतत्व के द्रष्टा होते थे, उन्हें ही महर्षि किंवा मनुष्यर्षि कहा जाता था। इन्हीं में अजपृश्णि, सिकता निवावरी, ...

१—प्राचीनन्याय मत के ३ मत से गतार्थ।

नाम के तीन प्रसिद्ध महर्षि होगए हैं। प्रकृतमतवादियों का कहना है कि, मनुष्यर्षिवर्ग में प्रसिद्ध अजपृष्णि नामक तपस्वियों नें हीं वेदमन्त्रों का निर्म्माण किया है। इस मत का समर्थक निम्न लिखित श्रुति वचन है—

१* अजान् ह वै पृष्णीन्–तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू–अभ्यानर्षत्।
तद् ऋषयो अभवन्। त एतं ब्रह्मयज्ञमपश्यन्।

—०:*:०—

१—यह वेद अथर्वाङ्गिरा नामक ब्रह्मर्षि का वाक्य है। (३५)

अग्नि की घनावस्था का नाम अग्नि है, तरलावस्था वायु है, विरलावस्था आदित्य है। इस प्रकार एक ही अग्निरस तीन स्वरूप धारण कर लेता है–(देखिए शत० १०।६।५)। इन में घनाग्नि (पार्थिवअग्नि) से ऋग्वेद का, तरलाग्नि (आन्तरिक्ष्यवायु) से यजुर्वेद का, एवं विरलाग्नि (दिव्य-आदित्य) से सामवेद का विकास हुआ है। ऐसी स्थिति में हम अग्नि की तीन अवस्थाओं से विकसित उक्त तीनों वेदों की समष्टि को-"अग्निब्रह्म" शब्द से व्यवहृत करने के लिए तय्यार हैं। सर्वप्रथम त्रयीरूप इसी अग्निब्रह्म (अग्निवेद का प्रादुर्भाव होता है, अतएव हम इसे ज्येष्ठब्रह्म कहने के लिए तय्यार हैं। इसी प्रकार भृगुतत्त्व–एवं अङ्गिरातत्व, इन दो तत्त्वों की, किंवा दो वेदों की समष्टि सोमब्रह्म है। यही सुब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है।

जेष्ठब्रह्मलक्षण अग्नि तीन लोकों के भेद से तीन आयतनों में प्रतिष्ठित होता हुआ- "अग्निर्भूस्थानः" वायुरन्तरिक्षस्थानः, सूर्योद्युस्थानः" (या० निरुक्त) इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार तीन भागों में विभक्त हो जाता है। अग्नित्रयी से तीन लोक विभक्त हैं, तीनों लोकों से तीन देवता विभक्त हैं, एवं तीनों देवताओं के भेद से तीन वेद विभक्त हैं। "अस्ति व चतुर्थो देवलोक आपः" (शत. ब्रा.) इस निगम सिद्धान्त के अनुसार चौथा आपोलोक है। इस एक ही लोक में भृगु अङ्गिरा नामक स्नेह–तेजोलक्षण दो प्रकार का सोम प्रतिष्ठित

१*—मीमांसामत के ६ मत से गतार्थ।

है। आपः-वायु-सोम तीनों की समष्टि स्नेहमय भृगुसोम है। अग्नि-यम-आदित्य इन तीनों की समष्टि तेजोमय अङ्गिरासोम है। इस प्रकार यह षड्ब्रह्ममूर्त्ति सोम एक ही लोक में प्रतिष्ठित है। इन छओं का लोक एक है, अतएव इन का सोमदेवता भी एक ही माना जाता है। इसीलिए इस का वेद भी एक ही है। षड्ब्रह्ममयसोमावच्छिन्न वही वेद—'अथर्ववेद" नाम का चौथा वेद है। इस प्रकार तीन अग्निवेद, एक सोमवेद, सम्भूय चार वेद होजाते हैं। इन सब विषयों का विशद निरूपण आगे की विज्ञानवेदनिरुक्ति में होने वाला है।

उक्त चारों वेदों के प्रवर्त्तक (वक्ता—कर्त्ता) चतुर्मुख ब्रह्मा हैं। जो व्यक्ति वेदशास्त्र का मूलप्रवर्त्तक है, जिसे जगद्गुरु की उपाधि से विभूषित किया गया है, वही ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध है। देवयुग में भिन्न भिन्न चार वैज्ञानिक आचार्यों नें भिन्न भिन्न चार वेदों का उपदेश दिया है। चारों में वेद प्रवर्त्तकत्व सामान्य है, अतएव व्यासज्यवृत्ति (समुदायवृत्ति) से 'ब्रह्मा' शब्द चारों की समष्टि के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी अभिप्राय से एक ही ब्रह्मा को चतुर्मुख मान लिया गया है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि, प्रथम ब्रह्मा स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध थे। इन्हें हीं आदिब्रह्मा कहा जाता था। दूसरे ब्रह्मा हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध थे। तीसरे ब्रह्मा अपान्तरतमा नाम से प्रसिद्ध प्राचीनगर्भ महर्षि थे एवं वरुणपुत्र भृगु, ब्रह्मपुत्र अङ्गिरा दोनों मिलकर अथर्वा नाम के चौथे ब्रह्मा थे।

उक्त चारों ब्रह्माओं में स्वयम्भू ब्रह्मा पहिले ब्रह्मा थे, साथ ही में देवव्यवस्था के प्रथम प्रवर्त्तक होने से यह प्रथमजदेव (पहिले देव) थे। पश्चिमभारतवर्ष में आर्य्यायण (ईरान) प्रान्त में बाल्हीक (बलख) नाम की वरुण राजधानी के समीप पुष्कर नाम (आजदिन बुखारा नाम से प्रसिद्ध) के तीर्थ में ये निवास करते थे। बाल्हीकनगरनिवासी वहां के सम्राट् वरुण के औरस पुत्र भृगु थे। अतएव ये वारुणि कहलाते थे। आरम्भ में ये बाल्हीक में ही रहते थे। परन्तु विद्योत्कर्ष के प्रभाव से आगे जाकर स्वयम्भू ने इन्हें अपना दत्तकपुत्र बना लिया। तब से इन का भी अभिजन (स्वदेश) पुष्कर ही होगया। ब्रह्मपुत्र अङ्गिरा भी पुष्कराभिजन ही थे। अपान्तरतमा नाम के प्राचीनगर्भ महर्षि ब्रह्मा के कृत्रिमपुत्र थे।

ये सरस्वतीग्राम में निवास करते थे। वितस्ता (झेलम) और सिन्धु नद के सङ्गम स्थान के समीप पश्चिमभारत में सरस्वती नाम की नदी बहती है। इस सरस्वती नदी के सम्बन्ध से ही तत्प्रान्तस्थ ग्राम भी पुराणों में सरस्वतीग्राम नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। यहीं सुप्रसिद्ध वरुण के अन्यतम सखा महर्षि वसिष्ठ का आश्रम था। यहीं महर्षि प्राचीनगर्भ रहते थे। अत एव इन्हें पुराणों में "सारस्वतऋषि" नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इन चारों में आदिब्रह्मा स्वयम्भू, हिरण्यगर्भ, प्राचीनगर्भ, इन तीनों ब्रह्माओं नें स्वर्गभूमि नाम से प्रसिद्ध प्राग्मेरु (पामीर) प्रदेश में प्रतिष्ठित हिरण्यशृङ्ग नाम से प्रसिद्ध पर्वत के शिखर पर हिरण्यशृङ्ग से निकलने वाली 'यक्षु' नदी के प्रवाह स्थान में विराजमान होकर त्रयीवेद का निर्म्माण किया था। इस से कुछ समय पीछे भृगु-अङ्गिरा नामक दोनों ब्रह्माओं नें (जोकि अथर्वा नाम से प्रसिद्ध थे) वाल्हीक प्रान्त में प्रतिष्ठित होते हुए अथर्ववेद का निर्म्माण किया था। अर्वाक्कालीन होने से ही यह चतुर्थवेद—"अथ—अर्वाक्—सम्बभूव" इस निर्वचन से अथर्ववेद कहलाया।

इन चारों में स्वयम्भू शेष तीनों के पिता थे। तीनों ब्रह्मा इन के मानसपुत्र थे। साथ ही में ये तीनों पर्षद्ब्रह्मा भी थे। इस प्रकार एक ही आदिब्रह्मा स्वयम्भूने—हिरण्यगर्भ—अपान्तरतमा—भृग्वङ्गिरा इन तीनों के संयोग से चारों वेदों को प्रवृत्त किया। इसी समष्टि के कारण स्वयम्भू चतुर्मुख ब्रह्मा कहलाए। इसी आधार पर—"चतुर्मुखब्रह्मा ने चारों वेद बनाए" यह किंवदन्ती प्रचलित हुई। कुछ भी हो, ये चारों ही चतुर्वेद के प्रवर्त्तक थे, यह निश्चित सिद्धान्त है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित प्रमाण हैं—

१—स्वयम्भूः———पुष्कराभिजनः
२—हिरण्यगर्भः———हिरण्यशृङ्गाभिजनः } त्रयीवेदवक्तारः
३—अपान्तरतमा———सरस्वतीग्रामाभिजनः
४ { १वरुणपुत्रोभृगुः, २ब्रह्मपुत्रोऽङ्गिराः } वाल्हीकाभिजनौ } अथर्ववेदवक्तारौ
} चतुर्मुखोब्रह्मा।

१—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्यकर्त्ता भुवनस्यगोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा, अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २॥
(मुण्डक)।

४—यह वेद अपान्तरतमा ऋषि का वाक्य है। (३६)

सुप्रसिद्ध "अपान्तरतमा" नाम के महर्षि ने वेद का प्रवचन किया है। यह महर्षि आदिब्रह्मा भगवान् स्वयम्भू के मानसपुत्र थे। सुप्रसिद्ध वेदवक्ता कृष्णद्वैपायन इन्हीं अपान्तरतमा के अवतार माने गए हैं। महाभारतादि में यही प्राचीनगर्भ नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। कहीं कहीं इन्हीं का –"सारस्वतऋषि" नाम भी सुना जाता है। इस मत का समर्थक निम्नलिखित वचन है।

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्य्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥
(म. भा. शा. मोक्षधर्म०)।

५—यह वेद ऊर्ध्वरेता अनेक ऋषियों का वाक्य है। (३७ मत)

गुहानिहित, अलौकिक, आश्चर्यमयी, तत्तद् विश्वविद्याओं का साक्षात्कार करने वाले महामहर्षियों के मुख से निकली हुई शब्दराशि ही वेद है। जिस समय विश्व की उन्नति-अवनति से सम्बन्ध रखने वाला, २५ हजारवर्ष में 'नाक" नाम से प्रसिद्ध कदम्बवृत्तपरपर्य्यायक

१—इन दोनों मन्त्रों का अर्थ मीमांसामतान्तर्गत ७ (सप्तम) मत के अर्थ से गतार्थ है।

विष्णुपद की परिक्रमा करने वाला सुप्रसिद्ध ध्रुवनक्षत्र वेदविद्याप्रवर्त्तक अभिजिन्नक्षत्र पर विद्यमान था, उस समय भौमत्रैलोक्य में वेदविद्यापारङ्गत अनेक महर्षि विचरण करते थे। तत् कालीन केवल गृहस्थ ऋषियों की ही संख्या ५०००० (पचास हजार) थी। इनके अतिरिक्त आबाल ब्रह्मचारी वीतराग महर्षियों की संख्या ८८००० (अट्ठासी हजार) थी। ये ब्रह्मचारी विद्या के अभ्युदय के लिए सांसारिक स्त्रीपुत्रादि साधारण सुख सामग्री का एकान्ततः (जन्म से ही) परित्याग करते हुए विश्व के तत्वानुसंधान में प्रवृत्त रहते थे। येही महर्षि ऊर्ध्वरेता कहलाते थे। उन्हीं महामहर्षियों की प्रतिभा, कार्यकुशलता, सत्यप्रवणता, एवं परिपूर्ण गवेषणा (खोज) का यह फल है कि, आज हम वेदशास्त्र नाम से प्रसिद्ध उस दिव्यविभूति के अधिपति बन रहे हैं, जिसके कि सामने वर्त्तमान युग का सुसमृद्ध वैज्ञानिक जगत् भी श्रद्धा से अपना मस्तक नत किए हुए है, एवं जिस योग्यता का ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की कौन कहे, समस्त भूमण्डल के साहित्य में उपलब्ध नहीं होसकता। अस्तु कहना यही है कि, ऊर्ध्वरेता इन महर्षियों नें ही वेदग्रन्थों का निर्म्माण किया है। इस मत के उपोद्बलक निम्न लिखित प्रमाण द्रष्टव्य है—

१—अष्टाशीति सहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम्।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव॥
(म. भा. सभा. ११ अ०।) १।

२—ब्रह्मकल्पे पुराब्रह्मन् ब्रह्मर्षीणां समागमे।
लोकसम्भवसन्देहः समुत्पन्नो महात्मनाम्॥ २॥

१—हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर। उर्ध्वरेता महर्षि संख्या में ८८००० हैं एवं प्रजायुक्त गृहमेधी (गृहस्थ) महर्षि ५०००० हैं।१।

२—हे ब्रह्मन्! पुरायुग (देवयुग) में, जोकि युग ब्रह्मकल्प नाम से प्रसिद्ध है, ब्रह्मर्षियों के समागम में उन महात्मा महर्षियों के हृदय में लोक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हुआ।२।

तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थायनिश्चलाः ।
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥ ३ ॥
तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत् ।
दिव्या सरस्वती तत्र स्वं बभूव नभस्तलात् ॥ ४ ॥

३—यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः । (शत० ब्रा०) ।१।
एष वै ऋषिरार्षेयो यः शुश्रुवान् । (”....) ।२।
तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तम् । (”....) ।३।
तदेतद् ऋषिः पश्यन्नभ्युवाच । (”....) ।४।
ये वै ते न ऋषयः पूर्वे प्रेतास्ते कवयः ।
तानेव तदभ्यतिवदति । (ऐ० आ० ६।४) ।५।

इस सन्देह की निवृत्ति के लिये (विश्वोत्पत्तिविज्ञानार्थ) इन महर्षियोंनें ध्यान योग का आश्रय लेते हुए, मौनव्रतधारण करते हुए सर्वथा निश्चलभाव से प्रतिष्ठित होते हुए, अन्नाहार का एकान्ततः परित्याग करते हुए, केवल वायु पर अवलम्बित रहते हुए एकसहस्र दिव्यवर्षों तक तप किया ।३।

इस तप के प्रभाव से उत्पन्न उन महर्षियों की दिव्यवाणी (वेदवाणी) सब लोगोंनें सुनी । वह दिव्या सरस्वती उन के मुख से अपने आप आकाशमार्ग से प्रकट हुई ।४।

३—वेदसाक्षात्कर्त्ता, एवं वेदवक्ता ऋषि ही आर्षेय (ऋषिगोत्रप्रवर्त्तक) हैं ।१।
वही ऋषि आर्षेय है, जोकि वेदों को यथावत् सुनचुका है ।२।
इसी अभिप्राय से ऋषिने यह कहा है ।३।
इस सम्पूर्ण वैज्ञानिक रहस्य का साक्षात्कार करके ऋषि कहते हैं ।४।
जो ऋषि हमारे पूर्वज थे, वे ही (वेदमन्त्रों के निर्म्माता) कवि थे । उन्ही को यह कह रहा है ।५।

४—नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रविद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्राहुर्दैवीं वाचमुद्यसम् ॥ (मै० श्रुतिः)

५—यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवा तपसा श्रमेण ।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके ॥

६—ऋषिवचनाच्च । ऋषिवचनं वेदः । यथा किञ्चिदिज्यार्थं आहरेत् । इति ।
(सुश्रुतसूत्रस्थान अ० ४०) ।

१—यह वेद वसिष्ठादि ७ महर्षियों का वाक्य है । (३८)

यह शब्दात्मक वेद वसिष्ठादि सात महर्षियों का वाक्य है । आर्यसाहित्य में यद्यपि सप्तर्षिवर्ग अनेक भागों में विभक्त देखा जाता है, परन्तु इन में वेदप्रवर्त्तकसप्तर्षि, गोत्रप्रवर्त्तकसप्तर्षि, एवं सृष्टिप्रवर्त्तकसप्तर्षि ये तीन वर्ग ही मुख्य मानें जाते हैं। सृष्टिप्रवर्त्तक ऋषि वर्ग में ऊर्ध्ववर्ग सप्तर्षिवर्ग भेदसे दो वर्ग हैं । यद्यपि—"विरूपास इदृषयस्तद्द गम्भीरवेपसः" (ऋक्संहिता) के अनुसार सृष्टिप्रवर्त्तक ऋषि असंख्य हैं, तथापि चार-आत्मा, दो पक्ष, १ पुच्छप्रतिष्ठा भेद से सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति से उत्पन्न होने वाली सप्तावयवभूता प्राजापत्यसृष्टि के सम्बन्ध से सबका सप्तसंख्या में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है । इन

४—मन्त्र बनाने वाले, मन्त्र जानने वाले मन्त्रपति उन ऋषियों को नमस्कार है । मुझे उन मन्त्रकृत- मन्त्रविद्ऋषियों नें दैवीवाणी का उपदेश दिया है । मैं यावज्जीवन उस उपदेश को न भूलूं ।

५—जिस दिव्य वेदवाक् का देवतुल्य मन्त्रनिर्म्माता महर्षियोंनें तप एवं श्रम से अन्वेषण किया है, उस वाग्देवी का मैं हविर्द्रव्य से यजन करता हूं । वह मेरे आत्मा को पुण्यलोकों में प्रतिष्ठित करै ।

६—ऋषिवचन से भी यही सिद्ध है । वेदऋषियों का वाक्य है + × + ।

प्राणात्मक सृष्टिकर्त्ता ऋषियों के सर्वप्रथम द्रष्टा मनुष्य ऋषि भी उन्हीं प्राणऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। जिस विद्वान्ने सर्वप्रथम भृगुप्राण का साक्षात्कार किया, वह, एवं तद्वंशधर भृगु नाम से ही प्रसिद्ध हुए। एवमेव **वसिष्ठ-विश्वामित्र-अङ्गिरा-कश्यप** आदि तत्तद् प्राणों के परीक्षक तत्तद्विद्वान् भी वसिष्ठ-विश्वामित्र-अङ्गिरा-कश्यप आदि नामोंसे ही प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार प्राणात्मक ऋषि सृष्टिप्रवर्त्तक माने जाते हैं, एवमेव प्राणीरूप सात मनुष्य महर्षि **गोत्रप्रवर्त्तक** माने गए हैं। धर्म्मसूत्र के अनुसार आजदिन भारतवर्ष में सभी ब्राह्मण सप्तगोत्रों के मूलप्रवर्त्तक, सप्तर्षियों के ही वंशधर माने जाते हैं।

तीसरा विभाग वेदप्रवर्त्तकसप्तर्षियों का है। ये **प्राणविध, प्राणीविध** भेद से दो भागों में विभक्त हैं। शब्दात्मक वाङ्मय **शास्त्र**नामक वेद के प्रवर्त्तक प्राणिविध (मनुष्यविध) महर्षि हैं। एवं अग्निलक्षणवाङ्मय **ब्रह्मसंज्ञक** वेद के प्रवर्त्तक प्राणविध नित्य ऋषि हैं। इन दोनों के ही—

१–भृगु, २–अङ्गिरा, ३–अत्रि, ४–मारीच–(मरीचिपुत्र)–कश्यप, ५–मत्स्य, ६–वसिष्ठ, ७–अगस्त्य, ८–कौशिक **विश्वामित्र,** ९–पुलस्त्य, १०–पुलह, ११–क्रतु, १२–प्राचेतस दक्ष इत्यादि नाम सुने जाते हैं।

सर्वप्रथम वेदकर्त्ता महर्षियों की **१–मत्स्य, २–वसिष्ठ, ३–अगस्त्य** ४–भृगु ५–**अङ्गिरा, ६–अत्रि, ७–कश्यप, ८–भरद्वाज,** भेद से आठ संख्याएं उपलब्ध होती हैं। इन में से **मत्स्य** ऋषि को छोड़ कर शेष सातों **गोत्रप्रवर्त्तक**, एवं **शाखाप्रवर्त्तक** माने जाते हैं। इन्हीं सात गोत्रों में वेदों का संतनन विशेष रूप से रहा। वास्तव में इन्हीं सातों को, एवं सातों के वेदद्रष्टा वंशधरों को वेदों के प्रवर्त्तक मुख्य आचार्य मानना चाहिए। इन में से किसी गोत्र के तो मूलपुरुष ही विशेषयोग्यताशाली हुए हैं। **वसिष्ठ–अगस्त्य–अत्रि** तीनों मूलपुरुष इसी कोटि में हैं। इन के वंशधरों नें इन के समान प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की। किन्तु विश्वामित्रगोत्री मधुच्छन्दा मूलपुरुष से भी आगे बढ़गए। एवमेव भृगु तथा अङ्गिरागोत्र में भी इनके वंशधरों नें मूल पुरुषों से कहीं अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। **ऋग्वेद** में जैसी प्रसिद्धि भार्गव **गृत्समद** की देखी

जाती है, वैसी साक्षात् भृगु की भी नहीं । इसी प्रकार अङ्गिरागोत्र में पुत्रों की श्रेणि में अथर्वा, एवं बृहस्पति ने, पौत्रों की श्रेणि में गोतम-भरद्वाज-कण्व प्रगाथ ने, प्रपौत्रों की श्रेणि में वामदेव और कक्षीवान् नें जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है; वह सौभाग्य मूलपुरुषभूत स्वयं अङ्गिरा को भी प्राप्त नहीं हुआ । अङ्गिरावंशज तत्कालमें जगद्गुरु एवं सर्वश्रेष्ठ मानेजाते थे । आगे जाकर इन की महत्ता यहां तक बढी कि, इन को सप्तर्षिगणना में सम्मिलित कर लिया गया । यही दूसरा सप्तक १-भरद्वाज, २-कश्यप, ३-गोतम, ४-अत्रि, ५-विश्वामित्र ६-जमदग्नि, ७-वसिष्ठ इस नाम से प्रसिद्ध हुआ । इन सब का क्रमबद्ध उल्लेख ऋग्वेदानुक्रमणिका के ६ मण्डल के ६७ वें सूक्त में द्रष्टव्य है ।

१-गोत्रप्रवर्त्तकाः सप्तर्षयः

१-भरद्वाजः । २-कश्यपः । ३-गोतमः । ४-अत्रिः । ५-विश्वामित्रः । ६-जमदग्निः । ७-वसिष्ठः ।
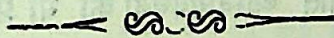
२-वेदप्रवर्त्तकाः सप्तर्षयः

१-वसिष्ठः । २-अगस्त्यः । ३-भृगुः । ४-अङ्गिराः । ५-अत्रिः । ६-कश्यपः । ७-भरद्वाजः ।

३-सृष्टिप्रवर्त्तकाः सप्तर्षयः

१-मरीचिः । २-अङ्गिराः । ३-अत्रिः । ४-वसिष्ठः । ५-पुलस्त्यः । ६-पुलहः । ७-क्रतुः ।

उक्त प्रपञ्च से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, वेद में जितनें भी मन्त्र उपल-

न्ध होते हैं, वे सब उक्त सातों वेदप्रवर्त्तक महर्षियों, एवं तद्वंशधरों के ही कहे हुए हैं। अनुक्रमणिका, बृहद्देवता, सम्पूर्णऋग्वेद, सायणभाष्य, इतिहास (महाभारत), पुराण सब में विशेषरूप से इसी मत का समर्थन हुआ है। निम्न लिखित मन्त्र भी यही कह रहा है-

१—यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तमन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसन्नवन्ते ॥
(ऋक्सं० ८।२।२३।३)।

७—यह वेद आम्नायवचनों से संगृहीत है। (३९ मत)

लोकपरम्परा से जनश्रुति के आधार पर जो वाक्य चिरकाल से चले आते हैं, जिन के मूलप्रवर्त्तक का पता नहीं हैं, ऐसे वाक्यों को ही "आम्नायवचन" कहा जाता है। जब तक इन किंवदन्तीरूप आम्नायवचनों का पूर्णपरीक्षा द्वारा मिथ्यात्व सिध्द नहीं हो जाता, तब तक ऐतिहासिक प्रमाणों की भांति आम्नायवचनों को भी प्रमाणभूत ही माना जाता है। सम्भवतः देवयुग से ही सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में अज्ञातनामा तत्त्वद्विद्वानों का जो अन्वेषण हुआ, एवं उस अन्वेषण के आधार पर वे धर्म्म—विज्ञानतत्त्व जिन अज्ञातविद्वानों द्वारा शब्द-द्वारा प्रयुक्त हुआ, चिरकाल से चले आनेवाले वे आम्नायवचन जहां जिस रूप से सुने गए, अपान्तरतमा महर्षि के अवतार कृष्णद्वैपायन ने उन उन प्रवादवाक्यों को उन उन ऋषिसम्प्रदायों से पूर्ण अनुसन्धान द्वारा संगृहीत कर उन का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बना डाला। वही आम्नायवचनसंग्रह—"मन्त्रसंहिता" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी संहितानिर्म्माण के कारण कृष्णद्वैपायन "वेदे व्यासज्ञो यस्य" इस निर्वचन के अनुसार वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध हुए।

प्रकारान्तर से देखिए। जो कथा लोकपरम्परा से चिरकाल से व्यवहार में चली आ रही हो, किन्तु जिस कथा के सम्बन्ध में "प्रथमप्रवर्त्तक अमुक व्यक्ति था" यह पता न चले, जो केवल श्रुति परम्परा से (कानोंकान) सदैव सुनी जाती हो, साथ ही में शिष्टविद्वान्

जिसे प्रमाणभूत मानते हुए तदनुकूल व्यवहार में लारहे हों, ऐसी प्रामाणिक, शिष्टानुगृहीत कथा को "आम्नायवचन" कहा जाता है । यह आम्नायवचन स्वतःप्रमाण होते हुए सर्वथा सत्य होते हैं । इसी सनातनविश्वास के अनुसार धर्म्म, एवं विज्ञान के सम्बन्ध में जो जो कथारूप (सूक्तरूप) वाक्य (मन्त्र) जिन जिन देशों में, जिन जिन ऋषियों के घरानों में विशेषरूप से सुने जारहे थे, एवं जिन जिन वाक्यों (मन्त्रों) के अनुसार उन उन ऋषिसम्प्रदायों में चिरकाल से यज्ञादि धर्म्मक्रियाओं का अनुवर्त्तन चला आरहा था, उन सब वाक्यरूपमन्त्रों, किंवा मन्त्ररूप वाक्यों का महाभारतकाल में भगवान् वेदव्यास ने बड़ी सावधानी से संग्रह कर उन्हें चार भागों में विभक्त किया । प्रत्येक विभाग के क्रमशः २१-१०१-१०००-९ इतने संग्रहग्रन्थ हुए । ये ही वेदसंहिताएं कहलाईं । स्वयं व्यास ने इसी मत का समर्थन किया है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट होजाता है—

१—आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः ।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसूताः सर्वतो मुखाः ॥
(म० शा० २६१ अ० २५९ श्लो०) ।

२—आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
तं विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ब्राह्मणस्यानुदर्शनात् ॥

मताभास

"मन्त्रब्राह्मणोर्वेदनामधेयम्" (का०) इस श्रौतसूत्रसिद्धान्त के अनुसार यद्यपि वेदग्रन्थ विद्वत्समाज में मन्त्र-ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त मानें जाते हैं । परन्तु इन दोनों में संहिता को ही (इन में भी उपलब्ध-वैदिकप्रेस अजमेर में मुद्रित चार संहिताओं को ही) वेद कहना चाहिए । क्योंकि ये चारों संहिताएं ही ईश्वरप्रोक्त हैं । शेष शाखारूप संहिताएं, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषत् आदि भाग शुद्ध पौरुषेय हैं, ईश्वरप्रोक्त नहीं । भिन्न

भिन्न ऋषियों नें भिन्न भिन्न काल में इन का निर्म्माण किया है। वे ब्राह्मणग्रन्थ आजदिन उन के कर्त्ता ऋषियों के नाम से ही पैङ्ग्य कौषीतकि, ऐत्तरेय, तैत्तिरीय, शाङ्खायन इत्यादि रूप से प्रसिद्ध हैं। कौन ब्राह्मण किस ऋषि की कृति है ? यह तत्तद्ब्राह्मणग्रन्थों को देखनें से ही स्पष्ट होजाता है।

उक्त मत मत नहीं, किन्तु केवल कल्पनामात्र है। इसी लिए हमनें इसे मताभास कहा है। यह मत सर्वथा अवैज्ञानिक है, वेदतत्वानभिज्ञ सामान्यमनुष्य की कपोलकल्पनामात्र है। इस मत का उपोद्बलक कोई शास्त्रीय वचन नहीं है।

———— :०: ————

उक्त सातों मतों का—"वेदमहर्षिकृत हैं, पौरुषेय हैं, अनित्य हैं" इस ५ वें वैशेषिक मत के साथ समन्वय है। अत एव इन सातों को हमनें वैशेषिकमत में अन्तर्भूत माना है।

५—वेदमहर्षिकृत है, पौरुषेय है, अनित्य है। (वैशेषिकमत)।

१—३३→यह वेद देवर्षियों का वाक्य है।

२—३४→यह वेद अजपृश्णि का वाक्य है।

३—३५→यह वेद ब्रह्मर्षि का वाक्य है।

४—३६→यह वेद अपान्तरतमा का वाक्य है।

५—३७→यह वेद ऊर्ध्वरेता ऋषियों का वाक्य है।

६—३८→यह वेद सप्तर्षियों का वाक्य है।

७—३९→यह वेद आम्नायवचनों से संगृहीत वाक्यग्रन्थ हैं।

०— ०→वेद का संहिता भाग ईश्वरकृत है, ब्राह्मणभाग महर्षिकृत है (मताभास)

इति-वैशेषिकमतप्रदर्शनम्।

५

६-अवान्तरमतत्रययुक्तं—

नास्तिकदर्शनाभिमत-मतप्रदर्शनम्

६—नास्तिकदर्शनाभिमत-मतप्रदर्शन

इस मत के सम्बन्धमें हमें कुछ भी वक्तव्य नहीं है। कारण स्पष्ट है। नास्तिक-दर्शन की मूलभित्ति अभिनिवेश (हट-दुराग्रह) है। एवं अभिनिविष्ट का सन्तोष करना सर्वथा असम्भव है—"नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्"। नास्तिकों का स्वरूप बतलाते हुए अभियुक्त कहते हैं—

> नास्तिवेदोदितोलोक इति येषां मतिः स्थिरा।
> नास्तिकास्ते.............................. ॥१॥
> अवैदिकप्रमाणानां सिद्धान्तानां प्रदर्शकाः।
> चार्वाकाद्याः षड्विधास्ते ख्यातालोकेषु नास्तिकाः ॥२॥

जो अवैज्ञानिक मनुष्य विज्ञानघन वैदिकतत्त्वों को समझने में असमर्थ होते हुए वेद-प्रतिपादित परलोक-आत्मा-परमात्मा-आत्मगति-श्राद्ध-अवतार-मूर्त्तिपूजन-वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में अपने अभिनिवेश से—"यह सब कुछ मिथ्या है" यह दृढ निश्चय रखते हैं, अतिवादशून्य वेही व्यक्ति नास्तिक कहलाते हैं। ये लोग वेदविरुद्ध, स्वकपोलकल्पित, सर्वथा नवीन, नितान्तभ्रान्त सिद्धान्तों से सामान्य जनता को मोह में डाला करते हैं। इनके—चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, आर्हत ये ६ भेद हैं। सभी वेदमार्ग के विरुद्ध जाने वाले हैं। इनमें नास्तिकों के शिरोमणि बृहस्पति माने गए हैं। बृहस्पति मत का अनुगमन करने वाले चार्वाकों का कहना है कि—"पृथिवी, जल, तेज, वायु भेद से चार तत्त्व हैं। इन चारों भूतों के समन्वयविशेष (खुबी) से शरीर में अपने आप चेतना का उदय होजाता है। शरीरनाश के साथ साथ ही चेतना भी नष्ट होजाती है। चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है। शरीर से अतिरिक्त कोई नित्य-आत्मा नहीं है। तीनों वेद, एवं तत्प्रतिपादित कर्म्मकलाप धूर्त्तों का प्रलापमात्र है। शरीरव्याधि ही नरक है, शरीरस्वास्थ्य ही स्वर्ग है। प्रजा को सुखी रखने वाला राजा ही परमेश्वर है। देह का विनाश ही मोक्ष है।

सम्पूर्ण जगत् अपने आप स्वभाव से ही–उत्पन्न एवं नष्ट होता रहता है, जैसा कि आचार्य कहते हैं —

अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥

इस नास्तिकमत के अनुसार वेद स्वार्थलोलुप, अवैज्ञानिक, ग्रामीणमनुष्यों की रचना-मात्र है । इस मत के अवान्तर तीन मतविभाग माने जासकते हैं । इनका संक्षेप से दिग्दर्शन करा के मतवादप्रकरण समाप्त किया जाताहै ।

१—यह वेद स्वार्थीमनुष्यों के स्वार्थसिद्धि का द्वारभूत वाक्यसंग्रहमात्र है । (४० मत)

चार्वाकशिरोमणि बृहस्पति का कहना है कि, पुरायुग में अपनी तीक्ष्णबुद्धि के प्रभाव से तत्कालीन मानवसमाज में अपने आप को सर्वश्रेष्ठ, ईश्वर के मुख से उत्पन्न कहने वाले ब्राह्मणवर्गने संसार को धोका देने के लिए तद्युगीय ग्राम्यभाषा में अपने अपने नामों से वाक्य बनाकर, उन्हें ईश्वर का सन्देश कहते हुए सर्वथा कल्पित स्वर्गादि की विभीषिका उपस्थित की है । इन धूर्त्तों का वह स्वार्थसाधक ग्राम्यभाषामय असत् साहित्य ही वेद है । इस मत के उपोद्बलक निम्नलिखित वचन हैं ।

१—न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥१॥
अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥२॥

१—न स्वर्ग नाम का कोई अभ्युदयसाधक परलोक है, न अपवर्ग नाम का निःश्रेयसंसाधक कोई मुक्तिधाम है । न (अनित्य शरीर से अतिरिक्त) परलोकगामी कोई (नित्य) आत्मा है । एवं न वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल धर्म्मकर्म्म किसी उत्कृष्ट फल के देने वाले हैं ।१।

प्रातः सायं किया जाने वाला, जरामर्यसत्र नाम से प्रसिद्ध (वेदप्रतिपादित)

२—पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् ।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पना ॥४॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥५॥

अग्निहोत्र, ऋग–यजुः–साम भेद भिन्न तीनों वेद, आध्यात्मिक–आधिभौतिक–आधिदैविक भेदभिन्न तीनों दण्ड, अथवा कायिक–वाचिक–मानसिक पापों के फलरूप तीनों दण्ड, अथवा त्रिवर्ण के सन्यासियों के लिए विहित तीन दण्ड, अथवा वाक्–धिक्–पौरुषदण्ड, ललाट पर भस्मावलेप, ये सब प्रपञ्च बुद्धि एवं पुरुषार्थशून्य अकर्मण्य मनुष्यों की जीविका के साधन हैं ।२।

२–"ज्योतिष्टोम नाम से प्रसिद्ध सोमयाग में मारा गया पशु स्वर्ग में जायगा" यदि यह वेद वचन सत्य है, तो फिर यजमान अपने पिता का ही (यज्ञ में) वध क्यों नहीं कर डालता । भला अपने पिता को स्वर्ग कौन नहीं पहुंचाना चाहेगा ।३।

मृतप्राणियों के लिए यदि श्राद्ध का अन्न तृप्ति का कारण बनता है, तो फिर विदेश जाते हुए यात्री को पाथेय (मार्गभोजन) देना व्यर्थ है । जिस मार्ग से परलोक जैसे विदूर लोकस्थ प्राणी को अन्न पहुंचा दिया जाता है, क्या उसी मार्ग से इसी लोक में पाथेय नहीं पहुंचाया जासकता ? ।४।

यदि आत्मा नाम का (कल्पित) जीव इस शरीर को छोड़कर परलोक चला जाता है, तो वह क्यों नहीं अपने बन्धुओं के स्नेह से आकर्षित होकर कभी कभी उन से मिल जाया करता ।५।

मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद् विद्यते क्वचित् ॥

३—त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्ड-धूर्त्त-निशाचराः ।
जीवहिंसां प्रशंसन्ति यज्ञे मांसाशनेच्छया ॥६॥
दर्शयन्ति च देहान्ते स्वर्गसौख्यप्रलोभनम् ।
देवदुश्चरितं चाद्धुर्मनोरञ्जनहेतवः ॥७॥

४—असारं सर्वमत्रोक्तं न किञ्चित्तत्त्वमस्ति हि ।
नास्तीश्वरस्तस्माद् भयं मिथ्या प्रदर्श्यते ॥८॥
यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥९॥

मृतमनुष्यों के (सिवाय जलाने के) और कोई प्रेतकार्य बाकी नहीं बचता है।

३-भांड-धूर्त्त-निशाचर ये तीन हीं वेद के रचयिता हैं। यह लोग मांस खाने की इच्छा से यज्ञ में पशुवध की प्रशंसा करते हैं।६।

साथ ही में शरीर के मरने पर स्वर्गसुख का प्रलोभन देते हैं। अर्थात् कहते हैं कि, यज्ञकर्त्ता भी इस शरीर से पृथक् होने पर स्वर्ग जायगा, साथ ही में यज्ञ में मारे हुए पशु का भी अत्मा स्वर्ग जायगा। जिन मनुष्यों को इन्होंने देवता मान रक्खा है, उनके दुश्चरित्रों को (इन्द्र का जारत्व-विष्णु का मोहिनी रूप धारण आदि को) ये देवताओं का मनोविनोद बतलाते हैं।७।

४—वस्तुतः वेदों में जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा निःसार है। इनमें, एवं इनके अनुयाई ब्राह्मणों के कथन में कुछ भी तत्त्व नहीं है। ईश्वर नाम का कोई पदार्थ नहीं है। ये धूर्त ईश्वर के नाम से जनता को झूंटा भय दिखलाते रहते हैं।८।

मनुष्य को चाहिए कि, वह जब तक जीवे, सुख से जीवे। कर्ज करके घृतपान करे। भला खाक में मिला पुतला भी कहीं फिर कर्ज चुकाने वापस आया है।९।

* श्रीः *

विषयोपक्रम

क ही वेदपदार्थ के सम्बन्ध में जैमिनि-व्यास, उदयनाचार्य, गोतम, कपिल, कणाद आदि दार्शनिकों के भिन्न भिन्न विचार हैं। आगे जाकर आस्तिकवर्ग की यह विचारधारा ३६ भागों में विभक्त होजाती है। ऐसी दशा में-"एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः" इस लक्षण के अनुसार एक ही वेदापौरुषेयत्व-पौरुषेयत्व के सम्बन्ध में परस्पर में सर्वथा विरुद्ध अनेक मतवादों के उपस्थित होनें से एक तटस्थ जिज्ञासु के हृदय में सन्देह का प्रादुर्भूत होना सर्वथा अनिवार्य है। इन सन्देहों की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है-वैज्ञानिक वेद का स्वरूप परिचय प्राप्त करना। वेद का वैज्ञानिक स्वरूप समझलेने के पीछे पूर्वप्रतिपादित सभी मतवादों का यथावत् समन्वय होजाता है। वेद का वैज्ञानिक स्वरूप समझलेने के पश्चात् आप वेदों को 'नित्यकूटस्थ अपौरुषेय' भी कह सकते हैं 'ईश्वरकृत' भी मान सकते हैं, 'ईश्वरावतारकृत' भी मान सकते हैं, 'प्राकृतिक' भी मान सकते हैं, एवं 'महर्षिकृत' भी कह सकते हैं। अवारपारीण एक ही विज्ञानधरातल पर सब दार्शनिकमत प्रतिष्ठित हैं। अपनी अपनी दृष्टि से सभी मत सत्य हैं। सत्याधार उसी वैज्ञानिक वेद की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१-वैज्ञानिक वेद में मूलवेदनिरुक्ति

राग-द्वेष पाप-पुण्य, सुख-दुःख, सत्-असत्, निरुक्त-अनिरुक्त, मूर्त्त-अमूर्त्त अहः-रात्रि, शुक्ल-कृष्ण, विद्या-अविद्या, सर्ग-प्रलय, उत्पत्ति-विनाश, आगति-गति, अग्नी-सोम, शीत-ग्रीष्म, पति-पत्नी, पुरुष-प्रकृति, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, आदि आदि असंख्य द्वन्द्वभावों से नित्य समाकुलित,

विविधभावाक्रान्त, स्थावरजङ्गमात्मक इस मायामय विश्व का मूल क्या है ? किस से यह विश्व उत्पन्न हुआ है ? किस आधार पर यह विश्व प्रतिष्ठित है ? इत्यादि प्रश्नों की अपनी ओर से उत्थानिका करती हुई साथ ही में इन प्रश्नों का सम्यक् समाधान करती हुई श्रुति कहती है—

(प्रश्नश्रुति) १—किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत्,
यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तत्,
यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥१॥ ?

(उत्तरश्रुति) २—ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्,
यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वः,
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥२॥

(तै० ब्रा० २।८।९।६-७) इति ।

१—"वह कौन सा वन (जङ्गल) था, उस वन में वह कौनसा वृक्ष था जिसे काट-छांट कर पृथिवी-द्यु-अन्तरिक्षरूप त्रैलोक्य बना दिया गया । हे विद्वानों ! अपने मन से उक्त दोनों प्रश्नों का विचार करते हुए सृष्टिविद्या के आचार्यों से उक्त प्रश्नों का उत्तर पूंछो । साथ ही में उन्हीं आचार्यों से यह भी पूंछो कि जिस तत्त्वने इन सातों भुवनों को अपने ऊपर धारण कर रक्खा है, साथ ही में जो तत्त्व सातों का नियन्ता बन रहा है, वह कारणब्रह्म कौन है ?"

२—(आचार्य उत्तर देते हैं)-'ब्रह्म ही वह वन था, उस वन में ब्रह्म ही वृक्ष था, जिस ब्रह्म वृक्ष को काठ-छांट कर त्रैलोक्य बना दिया गया । हे प्रश्नकर्त्ता विद्वानों ! मैं पूर्ण अन्वेषण

करने के पश्चात् अन्तःकरण से तुम्हें बतलाता हूं कि ब्रह्मने हीं सम्पूर्ण भुवनों को धारण कर रक्खा है, एवं ब्रह्म हीं भुवनों का अध्यक्ष है।

श्रुति के उक्त प्रश्न, एवं समाधान को सामान्य मनुष्य नहीं समझ सकते। "ब्रह्म ही वन था, ब्रह्म ही वृक्ष था। उस वृक्ष से त्रैलोक्य बनगया" केवल इन अक्षरों से अस्मदादि साधारण जन अपनी जिज्ञासा शान्त नहीं कर सकते। सृष्टिविषयक सभी प्रश्नों का विशद वैज्ञानिक समाधान **ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य** में किया जाचुका है। यदि प्रकृत में भी उसका पिष्ट-पेषण किया जायगा तो आवश्यकता से अधिक विस्तार और भी अधिक विस्तृत होजायगा फलतः प्रतिपाद्यविषय में संकोच करना पड़ेगा। इसलिए यहां इस सम्बन्ध में हम केवल यही कह देना पर्य्याप्त समझते हैं कि जिस ब्रह्म को श्रुतिने वन बतलाया है, वह परात्पर ब्रह्म है। **सर्वबल विशिष्ट रस ही** का नाम परात्पर है। यही परमेश्वर है। परात्पर-परमेश्वर निःसीम है, व्यापक है। दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न है। जिस प्रकार एक अरण्य की इयत्ता अननुमेया होती है, उसी प्रकार असीम परात्पर की इयत्ता नहीं की जासकती। इसी आंशिक सादृश्य को लेकर श्रुतिने परात्परब्रह्म की वन के साथ तुलना की है-(देखिए ई० वि० भा० प्र० ख० प्राक्कथन १८पृष्ठ से पृष्ठ २७पर्यन्त)।

उस व्यापक परात्पर में ससीम असंख्य मायाबल हैं। अमित को मित (सीमित) बना देनेवाला सर्वबलकोशाधिष्ठाता ज्येष्ठ-एवं श्रेष्ठ बलविशेष ही "माया" नाम से व्यवहृत हुआ है। इन मायाबलों का परात्परधरातल के जिस जिस प्रदेश में उदय होता है, वह परात्पर प्रदेश मायारूप पुर से सीमित होता हुआ पुरुष' नाम धारण करलेता है। मायाबल चूंकि असंख्य हैं, अतएव मायाबलावच्छिन्न असंख्य ही मायीपुरुष उस व्यापक परात्पर धरातल पर उदित होजाते हैं। जिसप्रकार एक महा अरण्य में थोड़े थोड़े, अथवा अधिक अधिक फासले पर अनन्त वृक्ष प्ररोहित रहते हैं, ठीक इसी प्रकार महाअरण्यस्थानीय इस व्यापक परात्पर प्रदेश में वृक्षस्थानीय असंख्य मायीपुरुष प्रतिष्ठित रहते हैं। प्रत्येक मायीपुरुष एक एक स्वतन्त्र

ईश्वर है। प्रत्येक ईश्वर का एक एक स्वतन्त्र विश्व है। परात्पर में ऐसे असंख्य ईश्वर, किंवा विश्वेश्वर हैं, अतएव वह इन ईश्वरों की अपेक्षा परमेश्वर कहलाता है। परमेश्वर जहां एक है, वहां ईश्वर असंख्य हैं। जङ्गल एक होता है, परन्तु उसमें वृक्ष अनेक होते हैं। (देखिए ई० वि० भा० प्र० पुरुषनिरुक्तिप्रकरण २६५ पृष्ठ से २८३ पृ० पर्यन्त)

वृक्षरूप पुरुष को उपनिषत्–एवं गीताशास्त्रने अश्वत्थवृक्ष नाम से सम्बोधित किया है। इस अश्वत्थवृक्ष की एकसहस्र शाखाएं मानीं गईं हैं। प्रत्येक शाखा एक एक क्षुद्र विश्व है। प्रत्येक विश्व में भूः–भुवः-स्वः-महः--जनः--तपः-सत्यम् ये सात सात लोक हैं। सप्तवितस्तिकायात्मक शाखेश्वर ही उपेश्वर है। ईश्वर के गर्भ में ऐसे सहस्र उपेश्वर हैं। सहस्रोपेश्वरों को अपने गर्भ में रखने वाला अश्वत्थेश्वर वृक्षवत् स्तब्ध खड़ा है। यही ईश्वरवृक्ष विश्वात्मक भुवनों का अन्यतम अध्यक्ष है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

> यस्मात् परं नापरमपरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
> वृक्ष इव स्तब्धो दिवितिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

इस अश्वत्थेश्वर पूर्णपुरुष के अमृत-ब्रह्म–शुक्र ये तीन विवर्त्त हैं। तीनों में क्रमशः ३–५–३ ये अवान्तर विभाग हैं। अव्यय–अक्षर-आत्मक्षर की समष्टि "अमृतम्" है। प्राण–आपः–वाक्–अन्न–अन्नाद की समष्टि ब्रह्म है। वाक्–आप–अग्नि की समष्टि "शुक्रम्" है। इन तीनों से अतिरिक्त उस व्यापक परात्पर का भी इसमें समावेश है। वही तुरीयपद है। इसप्रकार पुरुषब्रह्म चतुष्पाद होजाता है। इन चारों में परात्पर–अमृत–ब्रह्म ये तीन पाद तो अक्षुण्ण रहते हैं, शेष चौथा शुक्रपाद विश्वरूप में परिणत होता है—(देखिए ई० शुक्रनिरुक्ति)। इसी अभिप्राय से "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादो स्येहाभवत् पुनः" यह कहा जाता है। सम्पूर्ण वृक्षब्रह्म विश्व नहीं बनता, अपितु उसका एक भाग ही विश्व बना है, यही बात बतलाने के लिए पूर्व श्रुतिने "वृक्ष को काट कर भुवन बनाये हैं" यह कहा है। परात्परावच्छिन्न अव्यय विश्व का आलम्बन है, अक्षर कर्त्ता है क्षर उपादानमूल है, ब्रह्म उपा-

दानारम्भण है, शुक्र उपादान है, स्वयं विश्व कार्य है। ये सब एक ही परात्पर ब्रह्म के विवर्त्त हैं। वही ब्रह्म मायावच्छेदेन वृक्षब्रह्म बना है। वही योगमायावच्छेदेन विश्व बना है—"तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते"। वही लोकात्मक है, वही लोक है—'तस्य लोकाः, स उ लोक एव' (बृ० आ० ४।४।१३)। इसी आत्माद्वैतसिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर पूर्व की प्रश्नोत्तर श्रुतियोंनें सर्वत्र "ब्रह्म" शब्द का ही व्यवहार किया है।

१–परात्परब्रह्म→"ब्रह्मवनम्"

२–पुरुषब्रह्म—

१—परात्परः
२—अमृतम्
३—ब्रह्म
४—शुक्रम्

→ 'चतुष्पाद्ब्रह्म—त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः-पादोऽस्येहाभवत् पुनः'

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को सच्चिदानन्दघन बतला रहीं हैं। साथ ही में 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च" इत्यादि श्रुतियाँ उसी ब्रह्म को विश्वरूप में परिणत मान रहीं हैं। इससे हमें मानना पड़ता है कि, विश्वमूल ब्रह्म भी सच्चिदानन्द है, एवं इस मूलब्रह्म के अंशरूप से उत्पन्न विश्व भी सच्चिदानन्द ही है। पूर्व में बतलाया गया है कि, चतुष्पाद्ब्रह्म का शुक्रभाग ही विश्वरूप में परिणत हुआ है, एवं उस शुक्र के वाक्—आपः—अग्नि ये तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों में वाक् ही मूलशुक्र है। "वाग्विवृताश्च वेदाः" के अनुसार वेदतत्व इसी वाक्शुक्र का विवर्त्त है। इसी वाङ्मय सच्चिदानन्दलक्षण वेद को हम इस वेदप्रकरण में—'मूलवेद' कहेंगे।

वाङ्मय इस मूलवेद के विकास के लिए ब्रह्मा—विष्णु—महेश, नामक तीन देवता व्यापार करते हैं। पुराण के मतानुसार तीनों वेदों के प्रवर्त्तक उक्त तीनों देवता ही हैं, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। निगमशास्त्र के मतानुसार वेद का प्रादुर्भाव ब्रह्मा—विष्णु-इन्द्र इन तीन देवताओं के 'वीरण" (प्रतिस्पर्द्धारूप उत्तेजना) से हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

"उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम् ॥

किं तत् सहस्रमिति ? इमे लोकाः, इमे वेदाः,
अथो वाक्—इति ब्रूयात्" (ऐ०ब्रा० ६।१५)।

'इन्द्र और विष्णु नाम के दोनों देवताओंनें सम्पूर्ण विश्व को जीत लिया है, ये दोनों किसी से भी पराजित नहीं होते हैं। साथ ही में इन दोनों में भी एक दूसरे से कभी कोई (परस्पर में) नहीं हारा है। इन्द्र विष्णु दोनोंनें जब "अप्" तत्त्व पर स्पर्द्धा की, तो इन्होंनें अपने स्पर्द्धारूप वीर्य से तीन साहस्रियाँ उत्पन्न कर दीं। वे तीन साहस्रियें कौनसी हैं? यदि कोई यह प्रश्न करे, तो उसे कहना चाहिए कि, ये तीनों लोक, ये तीनों वेद, और वाक्, ये ही तीन साहस्रियें हैं"।

विचार यह करना है कि, इन्द्र-विष्णु कौन हैं? इन की स्पर्द्धा का क्या स्वरूप है? जिस अप्तत्त्व पर ये स्पर्द्धा करते हैं, वह अप्तत्त्व क्या पदार्थ है? एवं लोक, वेद, वाक्, नाम की तीनों साहस्रियों का क्या स्वरूप है? इन प्रश्नों की मीमांसा के लिए हमें आत्ममीमांसा करनी पड़ेगी। "स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" (बृहदारण्यक) इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, एक ही आत्मा तीन स्वरूपों में परिणत होरहा है। मनोमय आत्मा पहिला पर्व है। मन ज्ञानशक्तिघन है, अतएव हम इस आत्मा को ज्ञानात्मा' कह सकते हैं। ज्ञान ही को विद्या कहते हैं, अतएव यही "विद्यामयआत्मा" कहलाने लगता है। प्राणमय आत्मा दूसरा पर्व है। प्राण क्रियाशक्तिघन है, क्रिया ही कर्म्म है, अतः हम इसे 'कर्म्मात्मा' कह सकते हैं। कर्म्म ही एक प्रकार का वीर्य्य (शक्ति-बल) है, अतएव इसे हम "वीर्य्यमयआत्मा" भी कह सकते हैं। उसी आत्मा का तीसरा विवर्त्त वाङ्मय है। वाक् अर्थशक्तिघन है, अर्थ को ही भूत कहते हैं, अतएव इसे हम 'भूतात्मा' कह सकते हैं। मनःप्राणवाक्, तीनों त्रिवृद्भावापन्न रहते हैं, जिस त्रिवृद्भाव का कि ईशभाष्य के "मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता" प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है (देखिए, ई०उ०प्र० खण्ड)। इस त्रिवृद्भाव का तात्पर्य्य पञ्चीकरण प्रक्रिया से गतार्थ है। अर्द्धभाग में मन, अर्द्धभाग में शेष प्राण-वाक्, इस त्रिवृतकरण से जो मनःप्रधान- (प्राणवागूगर्भित) एक अपूर्व स्वरूप उत्पन्न होता है, उसे ही हम यहां मनोमय आत्मा कहेंगे। इसीप्रकार प्राणप्रधान (मनो-वागूगर्भित) अपूर्वभाव को प्राणमय आत्मा, एवं वाक्प्रधान (मनः-

प्राणगर्भित) अपूर्वभाव को वाङ्मय आत्मा कहा जायगा । मनोमय ज्ञानात्मा वाक्-प्राण से युक्त होता हुआ अर्थ–क्रिया से भी युक्त है । प्राणमय कर्म्मात्मा मनो-वाक् से युक्त होता हुआ ज्ञान–अर्थ से भी युक्त है । एवमेव वाङ्मय भूतात्मा मनः-प्राण से युक्त होता हुआ ज्ञान-क्रिया से भी युक्त है । इस कथन से हमें इस निश्चय पर पहुंचना पड़ा कि, जिसे हम ज्ञानात्मा कहते हैं, वह केवल ज्ञानमय ही नहीं है, अपितु वह कर्म्म–अर्थ का भी सञ्चालक है । एवमेव कर्म्मात्मा, एवं भूतात्मा भी विशुद्ध कर्म्म, एवं भूतमय ही नहीं हैं, अपितु तीनों में तीनों शक्तियां विद्यमान हैं, । हां गौण-मुख्यभाव का अवश्य ही तारतम्य है । इस विशेषभाव के कारण ही तो ताच्छब्द्य न्याय के अनुसार इन्हें क्रमशः–ज्ञानात्मा–कर्म्मात्मा–भूतात्मा, इन नामों से व्यवहृत किया जाता है ।

सर्वप्रथम मनःप्रधान ज्ञानात्मा की तीनों कलाओं का ही विचार कीजिए । इस पक्ष में रसतत्व को ही ज्ञान कहा जायगा । इस रस के साथ बल का संयोग होता है, बल की चिति होती है । परन्तु असंग रस की प्रधानता से इस आत्मा पर बल अपना पूर्ण प्रभाव नहीं जमा सकता । इस आत्मा की वह अवस्था, जिस पर बलने कोई अधिकार नहीं जमाया है, बल सर्वात्मना जिसके गर्भ में विलीन है, ऐसे विशुद्ध ज्ञान, किंवा विशुद्ध रसपर्व को ही -"आनन्द" कहा जाता है–'रसो ह्येव सः" । यही पहिली मनःकला का उपभोग है । आगे जाकर बल का कुछ विकास होता है । बल कुर्वद्रूप है । उदित होते ही यह क्षोभ उत्पन्न कर देता है। क्षुब्धबलावच्छिन्न रस की यह दूसरी (आंशिक) कुर्वद्रूपावस्था ही "विज्ञान" नाम से प्रसिद्ध है । विज्ञान में ज्ञान भी है, तो क्रिया का भी आंशिक रूप से उदय होरहा है । तभी तो विज्ञान के सम्बन्ध में–"विज्ञायते" इस क्रियापद का प्रयोग होता है । यही दूसरी प्राणकला का उपभोग है । बल कुछ मात्रा में और चित होता है, कुछ स्थूलता आजाती है । यही स्थूलता भूतभाव है । इससे वह आत्मा भूताविष्ट होजाता है । यही इसका तीसरा "मन" विभाग है। मन में भौतिक विषय का संसर्ग होने की योग्यता है । यही तीसरी वाक्कला का उपभोग है । इस प्रकार ज्ञानघन मन से आनन्द का, क्रियाघन प्राण से विज्ञान का, एवं अर्थघना वाक्

से मन का उदय होजाता है। इन तीनों में प्रधानता मनोमय रस की ही है। अतएव इसे हम मनोविवर्त्त ही कहेंगे, यही पहिला ज्ञानात्मा, किंवा आत्मा का त्रिकल विद्या-भाग है। यह सर्वथा असंग है। द्वन्द्वभावों से इस आत्मविवर्त्त का कोई सम्बन्ध नहीं है।

१—मनोमयो ज्ञानात्मा—विद्याविवर्त्तम्

१—ज्ञानात्मा ← { विशुद्धरसः————आनन्दः————मनोमयः
बलोदयावच्छिन्नरसः————विज्ञानम्————प्राणमयम्
बलव्यापारावच्छिन्नरसः——मनः (अन्तर्मनः)—वाङ्मयम् } → मनोविवर्त्तम्

तदित्थं मनोमये ज्ञानात्मनि, आत्मनो विद्याविभागे वा
मनसस्त्रिवृद्भावेन मनः प्राण-वाचां सम्बन्धात्—कलोदयः।

———:०:———

दूसरा प्राणप्रधान **कर्म्मात्मा** है। क्रियातत्त्व, क्रियाशक्ति ही प्राण है। पूर्व में हमनें बल से क्रियाभाव का विकास बतलाया है। बात यथार्थ में यह है कि, बल की अवस्था-विशेषों ही का नाम क्रमशः **बल—प्राण—क्रिया,** है। एक ही बल तीन अवस्थाओं में परिणत होरहा है। इन तीनों का प्रत्यक्ष किया जासकता है। आप अपने हाथों से अभी कोई काम नहीं कर रहे, परन्तु काम करने की शक्ति विद्यमान है। यही शक्तिरूप बल 'बल' है। यह इसकी सुप्तावस्था है। इस अवस्था में इस बल को हम बल शब्द से ही व्यवहृत करेंगे। आपने कार्य आरम्भ कर दिया, सुप्तबल जाग्रत होगया, कुर्वद्रूप बनगया। इसी अवस्था में यह बल 'प्राण' नाम से व्यवहृत होता है। काम करते करते आपके हाथ थक जायंगे। आप अनुभव करेंगे कि, मेरे हाथों की शक्ति निकल गई। इसी आधार पर आपको मानना पड़ेगा कि, प्राणरूप में परिणत बल खर्च होरहा है। यही बल की तीसरी निर्गच्छत् अवस्था है। इसी को वैज्ञानिक लोग 'क्रिया' शब्द से व्यवहृत करते हैं। इस प्रकार वही मूलबल उक्त तीनों अवस्थाओं के कारण अन्त में "कर्म्म" रूप में परिणत होजाता है। इसी आधार पर हमनें प्राणप्रधान आत्मा को

कर्म्मात्मा नाम से सम्बोधित किया है । इस कर्म्मात्मा में भी बलचिति का तारतम्य है । जितना रस, उतना बल रस-बल की इस साम्यावस्था ही पहिली मनःकला है । त्रिधात्मक मन अन्तर्मुख होता हुआ अन्तर्म्मन था, यह मन बहिर्मुख बनता हुआ बहिर्म्मन है । मन में रसात्मक ज्ञान, तथा बलात्मक कर्म्म, दोनों का समावेश है । अतएव मन से जहां प्रज्ञामात्रा-प्रधान ज्ञानेन्द्रियों का सञ्चालन होता है, वहां इसी सर्वेन्द्रिय मन से प्राणमात्रा—प्रधान कर्म्मेन्द्रियों का भी सञ्चालन होता है-'उभयात्मकं मनः" । यही त्रिवृदात्मा की मनःकला का उपभोग है । आगे जाकर बल क्रमशः बढ़ने लगता है । इस दूसरी अवस्था को ही "प्राण" कहा जाता है । बल की चिति और होती है । इस अन्तिम चिति से रसरूप ज्ञान दब जाता है, केवल बल की ही प्रधानता रहजाती है । इसी तृतीयावस्था का नाम 'वाक्" है । प्राण में प्राणकला का उपभोग है, वाक् में वाक्कला का उपभोग है । तीनों की समष्टि कर्म्मात्मा है । इसमें प्रधानता प्राण की है, अतएव इसे हम प्राणविवर्त्त ही कहेंगे । यह ससङ्गासङ्ग है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा ।

२—प्राणमयः कर्म्मात्मा—"वीर्य्यविवर्त्तम्"

२-कर्म्मात्मा— { रसबलयोः साम्यावस्था— —मनः (मनोमयम्) | रसगर्भितं बलम्———————प्राणः (प्राणमयः) | सुप्तरसगर्भितं बलम्———-वाक् (वाङ्मयी) } —प्राणविवर्त्तम्

तदित्थं प्राणमये कर्म्मात्मनि, आत्मनो वीर्य्यभागे वा प्राणस्य त्रिवृद्भावात्—मनः—प्राण—वाचां सम्बन्धात् कलोदयः ।

———— o:o ————

तीसरा है वाक्प्रधान भूतात्मा । अर्थतत्व, किंवा अर्थशक्ति ही वाक्तत्व है । इस वाक्तत्त्व की भी रस-बल के तारतम्य से तीन अवस्थाएं हो जातीं हैं । वाक् को रसप्रधान समझिए । बलचिति से यही वाक् अंशात्मना अप्-रूप में परिणत होजाती है । बल की और चिति होती है । इससे अप् तत्त्व आंशिकरूप से अग्निरूप में परिणत होजाता है । इसप्रकार एक ही

वाक्तत्व वाक्—आपः—अग्नि, इन तीन स्वरूपों में परिणत होजाता है। वाक् में मनोकला का, आपः में प्राणकला का, एवं अग्नि में वाक्कला का उपभोग है। इस तीसरे विवर्त्त में प्रधानता वाक्-रूप अन्न की ही है। अतएव हम इसे वागूविवर्त्त ही कहेंगे। वाक् आकाश है, आकाशात्मिका मर्त्या वाक् ही बल-ग्रन्थि तारतम्य से क्रमशः वायु—तेज—जल—पृथिवी रूप में परिणत होती हुई पञ्चभूतमयी बन जाती है। पाञ्चभौतिकवर्ग ही अन्न है। अन्नात्मक भूत के सम्बन्ध से ही यह वाङ्मय आत्मा भूतात्मा कहलाया है।

३—वाङ्मयो भूतात्मा—"अन्नविवर्त्तम्"

३-भूतात्मा — {
रसगर्भिता वाक्———वाक् (मनोमयी)
सुप्तरसगर्भिता वाक्———आपः (प्राणमय्यः)
रसनिगलिता वाक्———अग्निः (वाङ्मयः)
} —वाग्विवर्त्तम्

तदित्थं वाङ्मये भूतात्मनि, आत्मनोऽन्नभागे वा वाच-
स्त्रिवृद्भावात् मनः-प्राण-वाचां सम्बन्धात् कलोदयः।

———०:०———

४—त्रयाणां समष्टिः

१—१—आनन्दः (मनोमयं मनः)
२—२—विज्ञानम् (मनोमयः प्राणः)
३—३—मनः (मनोमयी वाक्)
} —विद्या—त्रिवृन्मनः—ज्ञानात्मा

४—१—मनः (प्राणमयं मनः)
५—२—प्राणः (प्राणमयः प्राणः)
६—३—वाक् (प्राणमयी वाक्)
} —वीर्य्यम्—त्रिवृतः प्राणः-कर्म्मात्मा

७—१—वाक् (वाङ्मयं मनः)
८—२—आपः (वाङ्मयः प्राणः)
९—३—अग्निः (वाङ्मयी वाक्)
} —अन्नम्—त्रिवृता वाक्—भूतात्मा

"स वा एष आत्मा—वाङ्मयः 'प्राणमयो' मनोमयः" इत्यादिः—))

——:०:——

उक्त तीनों आत्मविवर्त्तों में क्रमशः **अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर**, ये तीनों पुरुषात्मा उपभुक्त हैं। ज्ञानात्मा अव्ययानुग्रहीत है, कर्म्मात्मा अक्षरानुग्रहीत है, एवं भूतात्मा क्षरानुग्रहीत है। त्रिपुरुषानुग्रहीत त्रिकल आत्मा ही ईश्वर है, यही जीव है, यही जगत् है। आत्मक्षर-अक्षरानुग्रहीत, भूतात्मा-कर्म्मात्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, अव्ययानुग्रहीत 'ज्ञानात्मा' ही ईश्वर है। अव्यय-क्षरानुग्रहीत, ज्ञानात्मा-भूतात्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, अक्षरानुग्रहीत 'कर्म्मात्मा' ही जीव है। एवं अव्यय-अक्षरानुग्रहीत, ज्ञानात्मा-कर्म्मात्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, क्षरानुग्रहीत 'भूतात्मा' ही जगत् है। तीनों की समष्टि ही-"सर्वम्" है। यही त्रिमूर्त्ति, है इस त्रिमूर्त्ति के आधार पर ही ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूपा त्रिमूर्त्ति का विकास हुआ है. एवं यही त्रिमूर्त्ति वेद की जननी है।

ब्रह्मा की मूलप्रतिष्ठा ईश्वर है, विष्णु की मूलप्रतिष्ठा जीव है, शिव की मूलप्रतिष्ठा जगत् है। ब्रह्मा ज्ञानात्मा से अनुग्रहीत रहते हुए **ज्ञानपति हैं**, **विष्णु** कर्म्मात्मा से अनुग्रहीत होते हुए **कर्म्मपति हैं**, एवं **शिव** भूतात्मा से अनुग्रहीत रहते हुए **भूतपति** हैं। तीनों कहने को तीन हैं। वस्तुतः एक ही मूर्त्ति की तीन विकासधाराएं हैं—**"एका मूर्त्तिस्त्रयो-देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः"**।

जिसप्रकार मनः प्राणवाङ्मय आत्मा त्रिवृद्भाव से नित्य युक्त है, एवमेव उक्त त्रिदेव-मूर्त्ति भी त्रिवृद्भाव से नित्य युक्त है। प्रत्येक देवता में इतर दोनों देवताओं का गौणरूप से उपभोग होरहा है। ज्ञानात्मसंस्था में त्रिवृद्भावयुक्त ब्रह्मा का साम्राज्य है, कर्म्मात्मसंस्था में त्रिवृद्भावयुक्त शिव का साम्राज्य है, एवं भूतात्मसंस्था में त्रिवृद्भावयुक्त शिव का साम्राज्य है, जैसा कि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है।

१—ईश्वरविवर्त्त

१—अव्ययसंस्था —
- १—आनन्दः——ब्रह्ममयो ब्रह्मा
- २—विज्ञानम्——ब्रह्ममयो विष्णुः
- ३—मनः——ब्रह्ममयः शिवः

—ॐ ज्ञानात्मानुग्रहीतत्रिवृन्मूर्त्तिः—ब्रह्मा—ज्ञानपतिः

२—जीवविवर्त्त

२—अक्षरसंस्था —
- १—मनः——विष्णुमयो ब्रह्मा
- २—प्राणः——विष्णुमयो विष्णुः
- ३—वाक्——विष्णुमयः शिवः

—ॐ कर्म्मात्मानुग्रहीतत्रिवृन्मूर्त्तिः—विष्णुः—कर्म्मपतिः

३—विश्वविवर्त्त

३—क्षरसंस्था —
- १—वाक्——शिवमयो ब्रह्मा
- २—आपः——शिवमयो विष्णुः
- ३—अग्निः——शिवमयः शिवः

—ॐ भूतात्मानुग्रहीतत्रिवृन्मूर्त्तिः—शिवः—भूतपतिः

मूलवेद का दिग्दर्शन कराते हुए हमने आत्मा को 'सच्चिदानन्दघन' बतलाया है। इन तीनों आत्मकलाओं का क्रमशः ज्ञानात्मा–कर्म्मात्मा–भूतात्मा, इन तीन आत्मविवर्त्तों के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए । ज्ञान–कर्म्म–भूतवत् आनन्दादि तीनों कलाओं का भी त्रिवृद्भाव अनिवार्य है। फलतः इन तीनों में भी प्रत्येक में तीनों का उपभोग सिद्ध होजाता है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट है । इस परिलेख का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से पाठकों को विदित होगा कि, एक ही आत्मा किसप्रकार त्रिदेव पर विश्राम कर रहा है । यद्यपि ये सभी विवर्त्त पाठकों को अटपटे से मालूम होंगे । परन्तु हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि, अटपटे संसार का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए, साथ ही में विविधभावाक्रान्त विश्व के मूलभूत आत्मवेद की अपौरुषेयता समझने के लिए यह प्रपञ्च बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होगा । यदि इसमें ऐसी ग्रन्थियाँ न होतीं, तो वेद की अपौरुषेयता, एवं पौरुषेयता के सम्बन्ध में अनेक मतवादों को प्रवेश करने का अवसर ही न मिलता ।

इति विषयोपक्रमः

१—मूलवेद में सच्चिदानन्द-आत्मलक्षण वेदनिरुक्ति—

त्मप्रकरण समाप्त हुआ । अब आत्मदृष्टि से मूलवेद का विचार आरम्भ किया जाता है। सच्चिदानन्दघन आत्मा ही विश्व का मूलाधार है । यही अपनी क्षरकला से विश्व बना हुआ है, अक्षरकला से विश्वकर्त्ता (विश्व का आत्मा) बना हुआ है, एवं अव्ययकला से विश्व का आलम्बन बना हुआ है । इस अव्ययब्रह्म की अवान्तर पांच कला मानीं गईं हैं । वे ही पांचों कलाएं क्रमशः आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, नाम से प्रसिद्ध हैं । इन में मन-प्राण-वाक्, इन तीनों कलाओं की उन्मुग्धावस्था ही "सत्ता" है , विज्ञानभाव "चित्" है , आनन्द प्रसिद्ध है । इस प्रकार पांच कलाओं का तीन कलाओं में अन्तर्भाव होजाता है ।

मूलप्रभवतत्त्व को-"यत उत्तिष्ठन्ति सर्वेभावाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'उक्थ' कहा जाता है । विश्व में जितनें पिण्ड हैं, सब एक एक स्वतन्त्र उक्थ है । प्रत्येक के आनन्द-भाग से प्राणों का उत्थान हुआ करता है । इस आनन्दमय उक्थतत्त्व को संकेतभाषानुसार 'ऋक्' कहा जाता है । इन उक्थरूप यच्चयावत् ऋचाओं का जो मूलस्रोत है, उसे ही महदुक्थ, किंवा महोक्थ (सब से बड़ा उक्थ) कहा जाता है । महोक्थ में उक्थरूप सम्पूर्ण ऋचाएं अन्तर्भूत हैं, अतएव इस महोक्थरूपा ऋक् को- 'ऋचां समुद्रः" (ऋचाओं का समुद्र) कहा जाता है । "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तै० उप०) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उक्थरूप सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्च का मूलप्रभव आनन्द ही है । अतः हम इसे अवश्य ही महोक्थ कह सकते हैं, एवं यही पहिला ' मूलऋग्वेद" है ।

प्रत्येक पदार्थ सत्ताभाव से नित्य आक्रान्त रहता है । "अस्ति" प्रतीति सर्वत्र समान-रूप से व्याप्त है । भाव भी है, अभाव भी है, इस प्रकार भावाभाव सर्वत्र सत्तारस अनुस्यूत

है। उपाधिभेद से विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इसीलिए एक की सत्ता उच्छिन्न होजाने पर भी अन्यसत्ता का उच्छेद नहीं देखा जाता। यह सत्ताभाव ही हमारे ज्ञान की अवसानभूमि है। अभिलषित पदार्थ जब तक हमें नहीं मिल जाता, तब तक हम एक प्रकार के क्षोभ का अनुभव किया करते हैं। अभिलषित पदार्थ के प्राप्त होजाने पर क्षोभ शान्त हो जाता है, तद्विषयक जिज्ञासाभाव उपरत होजाता है। विषयप्राप्ति ही आत्म-वृत्ति की अवसानभूमि है, एवं अवसान ही साम है। चूंकि अवसानप्रवर्त्तक विषय सत्तात्मक हैं, अतः हम सत्तात्मक इन पदार्थों को अवश्य ही "साम" कहने के लिए तय्यार है। जितनी व्यक्तियाँ हैं, उतनें ही सत्ताभाव हैं फलतः उतनें हीं सामों की सत्ता सिद्ध होजाती है। व्यक्तिभाव से सम्बन्ध रखने वाला यह सत्ताभाव विशेषभावापन्न बन रहा है। नाम-रूप-कर्म्मात्मक विषयों के सम्बन्ध से वही व्यापक–सामान्य–सत्ताभाव विशेषभावों में परिणत हो रहा है। इन सब विशेष-सत्ताओं का मूल वही व्यापक आत्मसत्ता है। वह इन सब सामों की अन्तिम अवसान-भूमि है। यही अवसानसामात्मक महा–सत्ताभाव "महाव्रत" नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार आत्मानन्द ऋचाओं का समुद्र कहलाता है, एवमेव यह आत्मसत्ता "साम्नां समुद्रः" (सामों का समुद्र) नाम से प्रसिद्ध है, एवं यही दूसरा 'मूलसामवेद' है।

आनन्द उस ओर है, सत्ता इस ओर है, दोनों का संयोजक ज्ञानसूत्र है। हमारे आत्मा-नन्द के साथ सत्तात्मक विषयों का योग करा देना एकमात्र चिल्लक्षण विज्ञान का ही कार्य है– "तदू विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः"। विज्ञान से ही सत्ता की उपलब्धि होती है। सत्तो-पलब्धि ही आनन्द का कारण है। संयोजक यह ज्ञानसूत्र ही आनन्दात्मा के साथ सत्ता का मेल कराने के कारण 'यजु" कहलाता है। व्यक्तिभेद से ज्ञानभेद है, ज्ञानभेद से यजु भी भिन्न भिन्न हैं। ज्ञानात्मक संयोजक इन सब यजुओं का मूलस्रोत वही आत्मविज्ञानरूप पुरुष है। यह सब यजुओं का आलम्बन महायजु है, अतएव इसे–"यजुषां समुद्रः" (यजुओं का समुद्र) कहा जाता है, एवं यही तीसरा 'मूलयजुर्वेद' है।

निष्कर्ष यह हुआ कि, विश्व में जितनें भी पदार्थ हैं, "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वे सब सच्चिदानन्दघन ईश के प्रवर्ग्यभाग बनते हुए सच्चिदानन्दात्मक हैं। पदार्थ अनन्त हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आनन्द भाग की अपेक्षा उक्थरूप ऋक् है, विज्ञानभाग की अपेक्षा अर्क (सूत्र) रूप यजु है, एवं सत्तापेक्षया साम है। इन सब का मूलाधार वही ईश है। विश्वान्तर्गत जितनें भी उक्थरूप आनन्द हैं, वे सब उसी महा आत्मानन्द की मात्रा लेकर उपजीवित हैं विश्वान्तर्गत यच्चयावात् ज्ञान उस ज्ञान की मात्राएं हैं, विश्वान्तर्गत विशेषभावापन्न सभी सत्त भाव उस महा आत्मसत्ता से सत् बन रहे हैं। ऐसी स्थिति में उस मूल सच्चिदानन्दघन आत्मा को अवश्य ही ऋक्-यजुः-सामों का समुद्र कहा जासकता है। विश्वान्तर्गत वैयक्तिक ऋक्-यजुः-साम जहां उक्थ-व्रत-अश्म-नामों से व्यवहृत हुए हैं, वहां विश्वालम्बन उस सामान्य आत्मा के आत्मरूप तीनों व्यापक वेद क्रमशः महोक्थ (ऋक्), महाव्रत (साम), पुरुष (यजुः) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही सर्वाधार पहिला आत्मवेद, किंवा मूलवेद है। आनन्द-चेतना-सत्ता ही ईश्वर है। आनन्द-चेतना-सत्ता ही क्रमशः ऋक्-यजुः-साम है। इस लिए पुराणों में सच्चिदानन्दलक्षण ब्रह्म को -"वेदमूर्त्ति" नाम से व्यवहृत किया गया है।

आत्मवेद के मौलिक विवर्त्तभाव को लक्ष्य में रखते हुए प्रकारान्तर से मूलवेद का विचार कीजिए। आत्मा को हमने सच्चिदानन्दघन बतलाया है। इस आत्मा के विश्व-विश्वात्मा-विश्वचर, भेद से तीन विवर्त्त हैं। ये ही तीनों विज्ञानभाषा में क्रमशः सृष्ट-प्रविष्ट-प्रविविक्त, इन नामों से भी व्यवहृत हुए हैं। आत्मा का जो अंश भौतिक विषयरूप में परिणत होगया है, वही इस का सृष्टरूप कहलाता है वही सृष्टरूप "विश्व" नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस श्रौत निगमवचन के अनुसार मायोपाधिक जो आत्मा एकांश से विश्व उत्पन्न कर शेषांश (तीन अंशों) से विश्व में सर्वत्र प्रविष्ट होजाता है, वही "विश्वात्मा" "विश्वाध्यक्ष" "विश्वेश्वर" इत्यादि नामों से सम्बोधित हुआ है। आत्मा का जो एकांश विश्व बन गया है, आत्मा यदवच्छेदेन (मायावच्छेदेन) विश्वात्मा बन गया है, इन दोनों से बाहर आत्मा का जो व्यापकरूप बचगया है, वही तीसरा प्रविविक्तभाग है। इसे ही "विश्वातीत" "परात्पर" "परमेश्वर" इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। आत्मा के

ये तीनों रूप क्रमशः अविज्ञेय, दुर्विज्ञेय, सुविज्ञेय, भी कहला सकते हैं। तीनों ही सच्चिदानन्द के विवर्त्त हैं। फलतः तीनों में सत्ता-चेतना-आनन्द, इन तीनों भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। परात्पर असीम होने से नित्य है। अतः हम इस के तीनों भावों को क्रमशः **नित्यानन्द, नित्यविज्ञान, नित्यसत्ता,** इन नामों से पुकारेंगे। इसी प्रारम्भिक सर्वमूल परात्पर का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—**"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"**। विश्वात्मा मर्त्य विश्वकी अपेक्षा से नित्य होता हुआ भी मायापेक्षया अनित्यवत् है। इस के तीनों विभाग क्रमशः **आत्मानन्द, आत्मज्ञान, आत्मसत्ता,** कहलावेंगे। एवं तीसरे मर्त्य विश्व के तीनों विभाग क्रमशः **विषयानन्द विषयज्ञान, विषयसत्ता,** नामों से सम्बोधित होंगे। इस प्रकार तीन विवर्त्तभेदों से सच्चिदानन्द ९ भागों में विभक्त होजाता है।

पूर्वोक्त **ऋक्[1]-साम[2]-यजुः[3]** के पारिभाषिक लक्षणों के अनुसार **आनन्द[1]-चेतना[2]-सत्ता[3]**'त्मक **'ऋक्[1]-यजुः[2]-साम[3]'** इन तीनों वेदों में क्रमशः पूर्वोक्त तीनों त्रयीवेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। **'नित्यानन्द[1]'** 'ऋग्वेद' है, **नित्यसत्ता[2]'** 'सामवेद' है इन दोनों का संयोजक **'नित्यज्ञान[3]'** 'यजुर्वेद' है, एवं यही वेदत्रयी का पहिला विभाग है। 'आत्मानन्द[1]' 'ऋग्वेद' है **'आत्मसत्ता[2]'** 'सामवेद' है, इन दोनों का संयोजक **'आत्मज्ञान[3]'** यजुर्वेद' है, एवं यही वेदत्रयी का दूसरा विभाग है। **'विषयानन्द[1]'** 'ऋग्वेद' है, **'विषयसत्ता[2]'** 'सामवेद' है, दोनों का संयोजक **'विषयज्ञान[3]'** **'यजुर्वेद'** है, एवं यही वेदत्रयी का तीसरा विभाग है।

इन विभागों का मौलिक रहस्य यही है कि, **'नित्यानन्द'** ही नित्यसत्ता, तथा नित्यविज्ञान का मूलस्तम्भ (उपक्रमस्थान) है। अतएव उपक्रमस्थानीय, उक्थलक्षण, महदुक्थरूप इस नित्यानन्द को अवश्य ही **'ऋग्वेद'** कहा जासकता है। **'नित्यसत्ता[2]'** के आधार पर ही उक्थलक्षण नित्यानन्द, तथा पुरुषलक्षण नित्यविज्ञान का पर्य्यवसान (अवसान, समाप्ति) है। अतएव अवसानस्थानीय, व्रतलक्षण, महाव्रतरूप इस नित्यसत्ता को अवश्य ही **'सामवेद'**

माना जासकता है। 'नित्यविज्ञान'[3] ही उक्थलक्षण नित्यानन्द, तथा ब्रह्मलक्षण नित्यसत्ता दोनों का संयोजक सूत्र है। इसी योजनाभाव की अपेक्षा से मध्यस्थानीय, अग्निलक्षण, पुरुषरूप इस नित्यविज्ञान को अवश्य ही 'यजुर्वेद'[3] कहा जासकता है।

इसी प्रकार आत्मसत्ता, तथा आत्मज्ञान, दोनों का मूलउक्थ बनता हुआ 'आत्मानन्द'[1] 'ऋग्वेद'[1] है। आत्मानन्द, तथा आत्मज्ञान, दोनों की अवसानभूमि बनती हुई 'आत्मसत्ता'[2] 'सामवेद'[2] है। एवं आत्मानन्द, तथा आत्मसत्ता, दोनों का संयोजक बनता हुआ 'आत्मज्ञान'[3] 'यजुर्वेद'[3] है। इसी तरह विषयसत्ता, तथा विषयज्ञान, दोनों का मूल उक्थ बनता हुआ 'विषयानन्द'[1] ऋग्वेद'[1] है। विषयानन्द, तथा विषयज्ञान, दोनों की अवसानभूमि बनती हुई 'विषयसत्ता'[2] 'सामवेद'[2] है। एवं विषयानन्द, तथा विषयसत्ता, दोनों का संयोजक बनता हुआ 'विषयज्ञान'[3] 'यजुर्वेद'[3] है। तीनों संस्थाओं में सर्वत्र ऋग्वेद 'महोक्थ' है, सामवेद 'महाव्रत' है, एवं यजुर्वेद 'पुरुष' है, जैसाकि आगे के दोनों परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है।

आत्मानुगत–त्रिद्वन्द्वपरिलेखः

१—नित्यानन्दः ☞ महोक्थम् (आनन्दः–ऋक्) २—नित्यज्ञानम् ☞ महाव्रतम् (चेतना—यजुः) ३—नित्यसत्ता ☞ पुरुषः (सत्ता—साम)	—विश्वातीतः (नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म)
१—आत्मानन्दः ☞ महोक्थम् (आनन्दः—ऋक्) २—आत्मज्ञानम् ☞ महाव्रतम् (चेतना—यजुः) ३—आत्मसत्ता ☞ पुरुषः (सत्ता—साम)	—विश्वात्मा (सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म)
१—विषयानन्दः ☞ महोक्थम् (आनन्दः–ऋक्) २—विषयज्ञानम् ☞ महाव्रतम् (चेतना—यजुः) ३—विषयसत्ता ☞ पुरुषः (सत्ता—साम)	—विश्वम् (नामरूपे सत्यम्)

उक्त विवर्त्त का दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। पहिला विवर्त्त 'आनन्द' का है। 'नित्यानन्द' ही आत्मानन्द, एवं विषयानन्द का मूल है। इसी मूलभाव के कारण हम इस नित्यानन्द को 'महोक्थरूप-ऋक' कह सकते हैं। विषयानन्द पर आनन्द का अवसान है। दूसरे शब्दों में विषय पर आनन्द का अवसान होजाता है। इसी अवसानभाव के कारण इस विषयानन्द को 'महाव्रतरूप-साम' कहा जासकता है। विषयानन्द को नित्यानन्दस्वरूप में परिणत करने वाला मध्यस्थ आत्मानन्द ही है। आत्मानन्द ही नित्यानन्दभावपरिणति का मुख्य द्वार है। दूसरे शब्दों में विषयानन्द को विशुद्ध आनन्दरूप में परिणत कर, उसे नित्यानन्द के साथ (अभेदसम्बन्ध से) युक्त करा देने वाला यही मध्यस्थ आत्मानन्द है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण इस आत्मानन्द को 'पुरुषरूप-यजु' कहा जासकता है। इस प्रकार 'ऋग्'–लक्षण केवल 'आनन्द' में हीं ('ऋग्वेद' में हीं)–'नित्य–आत्म–विषयानन्द' भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है ॥ १ ॥

वेदानुगत-त्रिवृद्वेदपरिलेखः
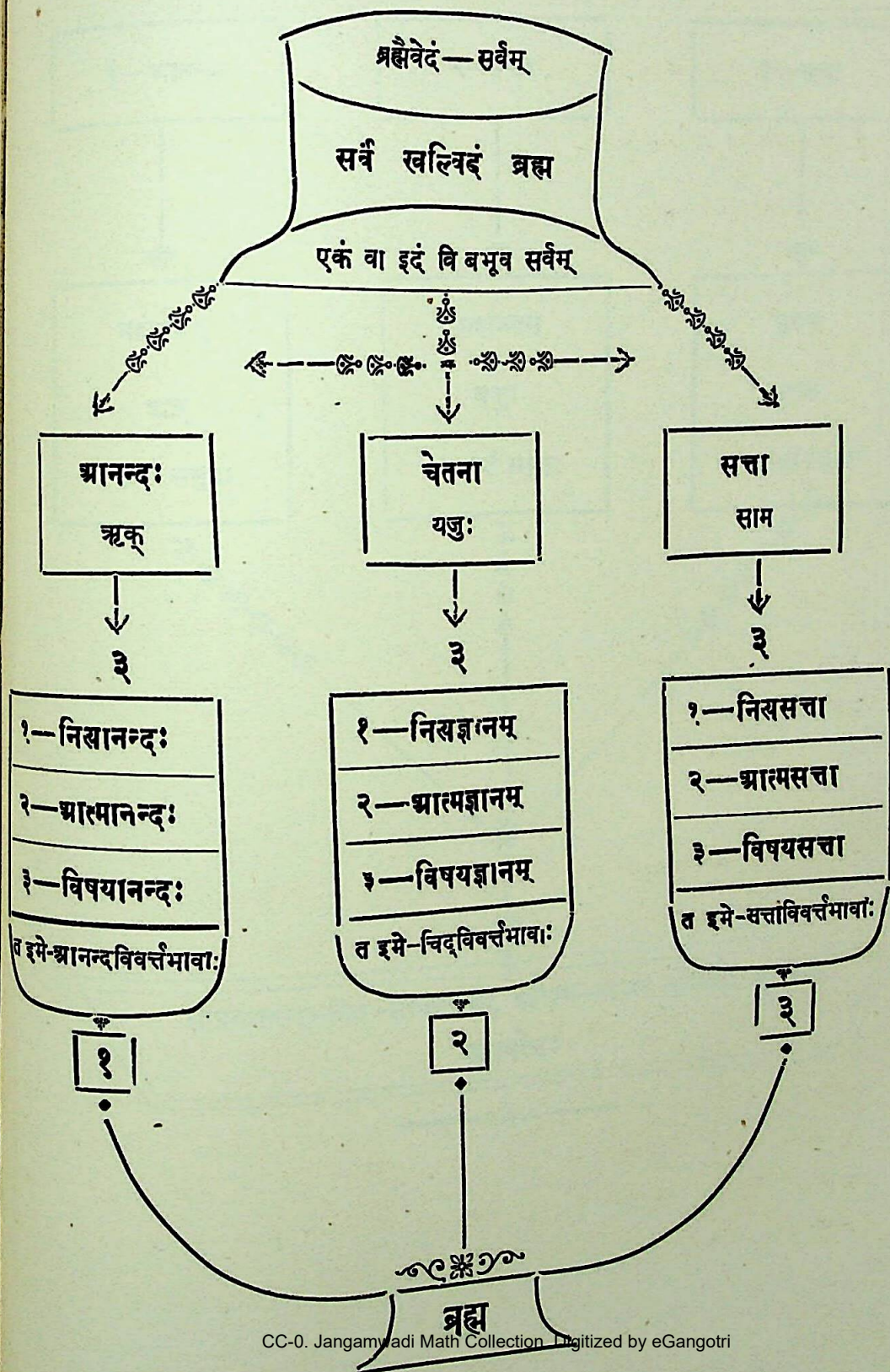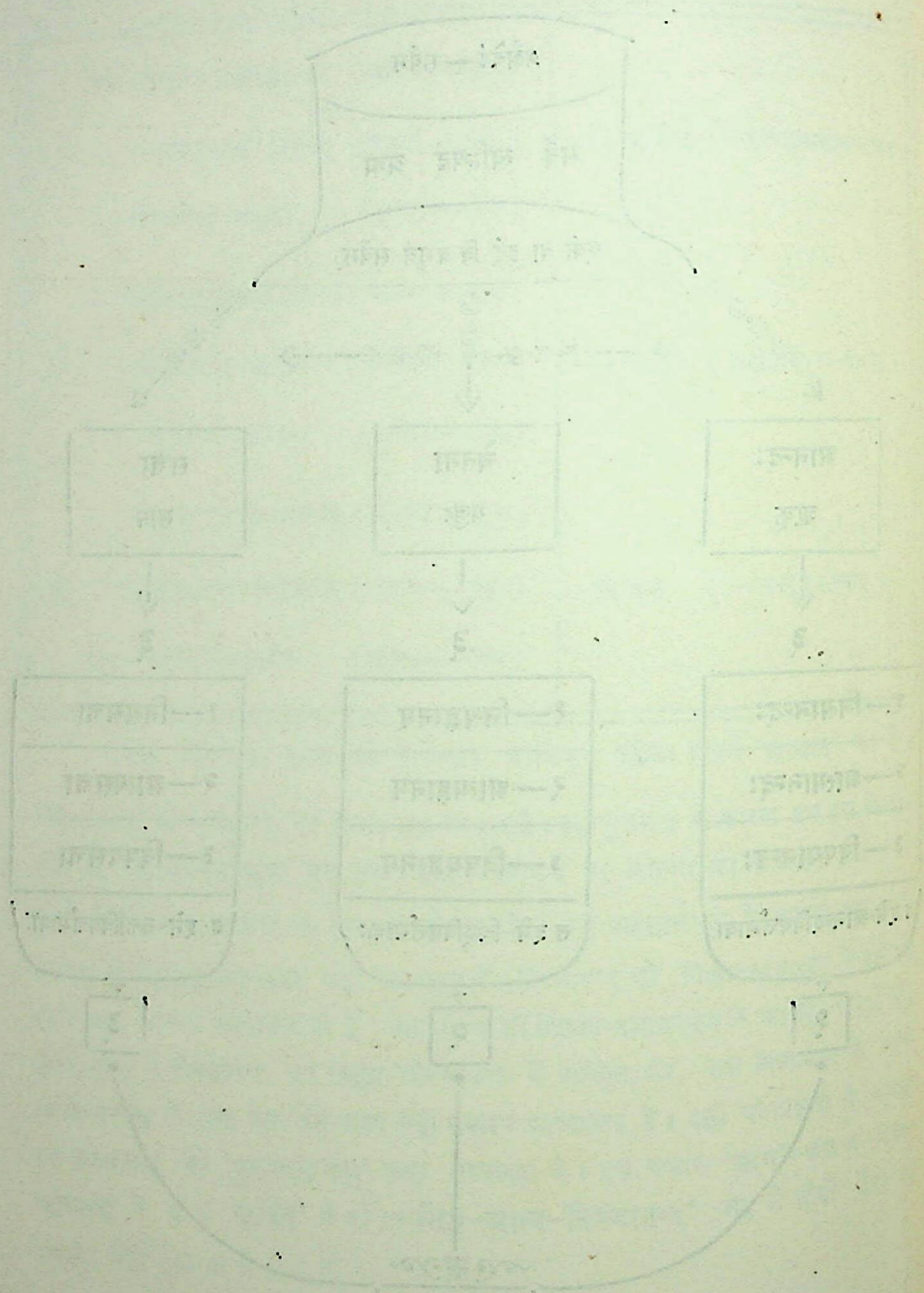
सच्चिदानन्दलक्षण–आत्मवेदपरिलेखः

—o:*:o—
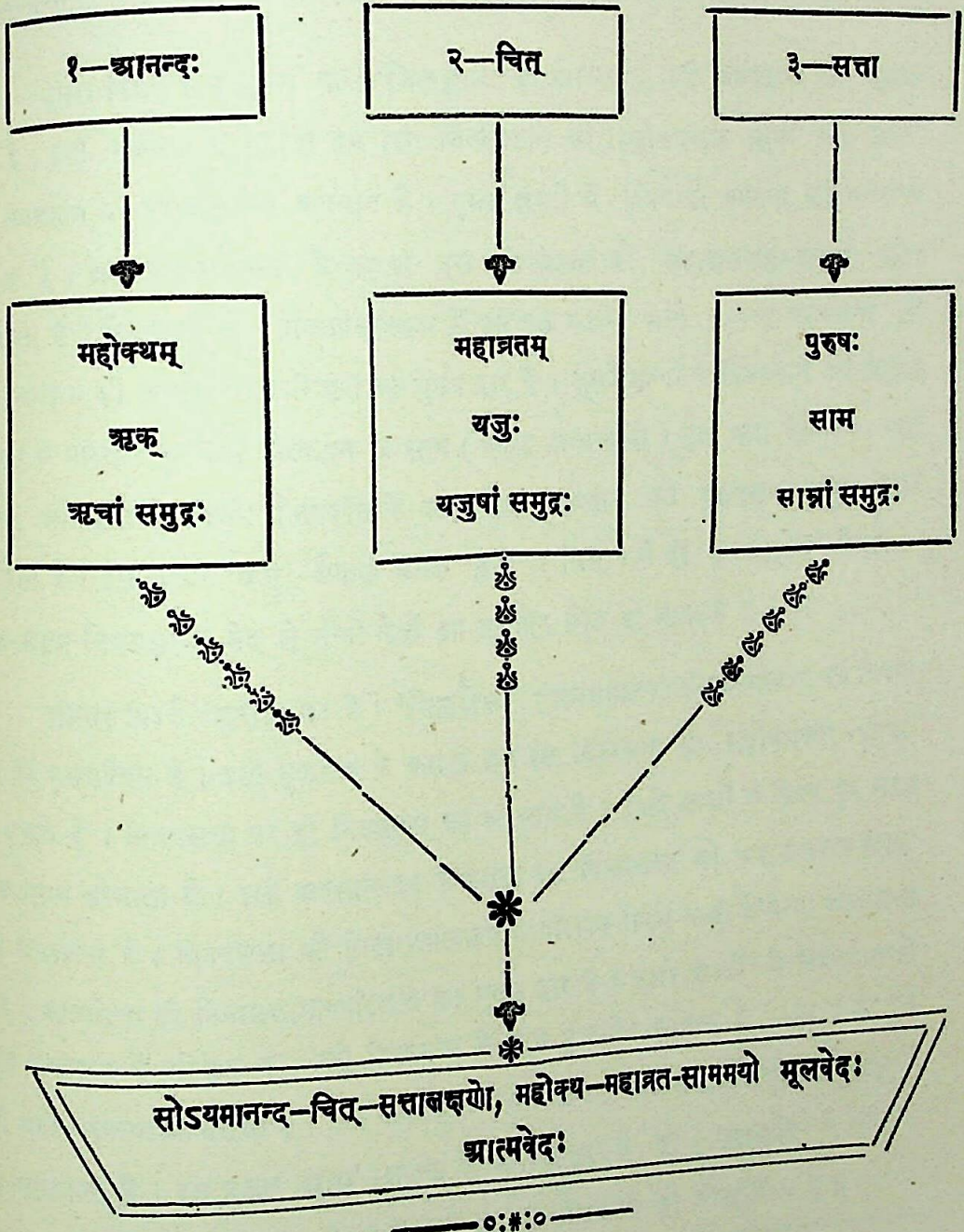
दूसरा विवर्त्त है 'विज्ञान' का। 'नित्यज्ञान'[2] ही आत्मज्ञान, एवं विषयज्ञान की मूलप्रतिष्ठा है। इसी मूलभाव के कारण हम इस नित्यविज्ञान को 'महोक्थरूप-ऋक्' कह सकते हैं। विषयज्ञान पर ही ज्ञान का अवसान है। दूसरे शब्दों में विषय पर आनन्द का अवसान होजाता है। इसी अवसानभाव के कारण इस विषयज्ञान को 'महाव्रतरूप-साम' कहा जासकता है। विषयज्ञान को नित्यज्ञानस्वरूप में परिणत करने वाला मध्यस्थ आत्मज्ञान ही है। आत्मज्ञान ही नित्यज्ञानभावपरिणति का मुख्य द्वार है। दूसरे शब्दों में विषयज्ञान को विशुद्ध ज्ञानरूप में परिणत कर उसे नित्यज्ञान के साथ (अभेद सम्बन्ध से) युक्त करा देने वाला यही मध्यस्थ आत्मज्ञान है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण इस आत्मज्ञान को 'पुरुषरूप-यजु' कहा जासकता है। इस प्रकार 'यजु'-लक्षण केवल 'ज्ञान' (चित्) में हीं ('यजुर्वेद' में हीं)-'नित्य-आत्म-विषयज्ञान' भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है ॥ २ ॥

तीसरा विवर्त्त 'सत्ता' का है। 'नित्यसत्ता'[3] (परमसामान्य) ही आत्मसत्ता, एवं विषयसत्ता की मूलप्रतिष्ठा है। इसी मूलभाव के कारण हम इस नित्यसत्ता को 'महोक्थरूप-ऋक्' कह सकते हैं। विषयसत्ता पर ही नित्यसत्ता का अवसान है। दूसरे शब्दों में विषय पर सत्ता का अवसान होजाता है। इसी अवसानभाव के कारण इस विषयसत्ता को 'महाव्रतरूप-साम' कहा जासकता है। विषयसत्ता को नित्यसत्तास्वरूप में परिणत करने वाली मध्यस्था आत्मसत्ता ही है। आत्मसत्ता ही नित्यसत्ताभावपरिणति का मुख्य द्वार है। दूसरे शब्दों में विषयसत्ताको विशुद्ध सत्तारूप में परिणत कर, उसे नित्यसत्ता के साथ (अभेद सम्बन्ध से) युक्त करा देने वाली यही मध्यस्था आत्मसत्ता है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण इस आत्मसत्ताको 'पुरुषरूप-यजुः' कहा जासकता है। इस प्रकार साम'-लक्षण केवल 'सत्ता' में हीं ('सामवेद' में हीं)-'नित्य-आत्म-विषयसत्ता' भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है ॥ ३ ॥ *

* आनन्द ही [रस ही] तीनों विवर्त्तभावों का मूलस्तम्भ है। यही सूचित करने के लिए शब्दरचनात्मक जो क्रम हमनें आनन्द विवर्त्त का माना है, चेतना-(ज्ञान)-विवर्त्त, तथा सत्ताविवर्त्त में भी वही शब्दरचना क्रम रक्खा गया है।

विवर्त्तानुगत—त्रिवृद्वेदपरिलेखः

१—१—नित्यानन्दः ॐ-महोक्थम्—ऋक्
१ २—२—आत्मानन्दः ॐ-महाव्रतम्—साम
३—३—विषयानन्दः ॐ-पुरुषः——यजुः

→ १ आनन्दः (महोक्थं-ऋक्)
[तदित्थं महोक्थलक्षणे, आनन्दमये, ऋग्वेदे नित्य-आत्म-विषयानन्दभेदाद्वेदत्रयोपभोगः]

४—१—नित्यज्ञानम् ॐ-महोक्थम्—ऋक्
२ ५—२—आत्मज्ञानम् ॐ-महाव्रतम्—साम
६—३—विषयज्ञानम् ॐ-पुरुषः——यजुः

→ २ चेतना (पुरुषः—यजुः)
[तदित्थं पुरुषलक्षणे, चिन्मये, यजुर्वेदे नित्य-आत्म-विषयचिद्भेदाद्वेदत्रयोपभोगः

७—१—नित्यसत्ता ॐ-महोक्थम्—ऋक्
३ ८—२—आत्मसत्ता ॐ-महाव्रतम्—साम
९—३—विषयसत्ता ॐ-पुरुषः——यजुः

→ ३ सत्ता (महाव्रतं-साम)
[तदित्थं महाव्रतलक्षणे, सन्मये, सामवेदे नित्य-आत्म-विषयसद्भेदाद्वेदत्रयोपभोगः]

इति—आत्मवेदनिरुक्तिः

२—मूलवेद में अमृत-मृत्युमय—आत्मलक्षण वेदनिरुक्ति

सच्चिदानन्दघन आत्मा के सृष्टिसाक्षी, मुक्तिसाक्षी भेद से दो विवर्त्त मानें जाते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध उसी पूर्वोक्त पञ्चकल अव्ययात्मा से है। आनन्दविज्ञानमनोमय वही अव्यय मुक्तिसाक्षी है, एवं मनःप्राणवाङ्मय वही अव्यय सृष्टिसाक्षी है। ग्रन्थिविमोकलक्षणा मुक्ति

में मुक्तिसाक्षी आत्मा प्रधान रहता है, सृष्टिसाक्षी आत्मा सहकारी रहता है। एवं ग्रन्थिबन्धनलक्षणा सृष्टि में सृष्टिसाक्षी आत्मा प्रधान रहता है, एवं मुक्तिसाक्षी सहकारी बना रहता है। आनन्द-विज्ञान-मनोमय आत्मा उस एक ही आत्मा का [अव्ययात्मा का] विद्याभाग है, मनःप्राणवाङ्मय आत्मा उसी आत्मा का कर्म्मभाग है। विद्याभाग में अमृतरस की प्रधानता है, अतएव ज्ञानमूर्त्ति यह अव्यय 'निष्काम' है। कर्म्मभाग में मृत्युरूप बल की प्रधानता है, अतएव कर्म्ममूर्त्ति यह अव्यय 'सकाम' है। अमृत-मृत्यु की समष्टि ही "अहं [आत्मा] है-"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !" ।

१—१—आनन्दः
२—२—विज्ञानम् } →मुक्तिसाक्षी-अव्ययात्मा-निष्कामः (अमृतम्)
३— { ३—मनः
    { १—मनः
४—२—प्राणः } →सृष्टिसाक्षी-अव्ययात्मा-सकामः (मृत्युः)
५—३—वाक्

} →आत्मा

पूर्वप्रकरण में समष्टिरूप से मूलवेद का दिग्दर्शन कराया गया था। वहां बतलाया गया था कि, आनन्द आनन्द है, विज्ञान चित् है, मनः-प्राण-वाक् की समष्टि सत्ता है। यही तीनों क्रमशः ऋक्-यजुः-सामवेद हैं। अब 'आनन्द-विज्ञान-मन' का एक स्वतन्त्र विभाग मानकर, एवं मन-प्राण-वाक् का एक स्वतन्त्र विभाग मानकर अमृत-मृत्युभेद से मूलवेद का विचार किया जाता है। मुक्तिसाक्षी, अमृतप्रधान, विद्यात्मा का आनन्दभाग विज्ञान तथा मन (अन्तर्म्मन) का मूलाधार है। मूलप्रभव को ही उक्थ, किंवा महोक्थ कहा जाता है। महोक्थरूप यह मूलानन्द ही 'ऋक्' है। 'श्वोवसीयस' नाम से प्रसिद्ध मन पर आनन्द का अवसान है। अतएव अवसानलक्षण, महव्रतस्थानीय, इस अन्तर्म्मन को हम "साम" कहने के लिए तय्यार हैं।

मन और आनन्द का संयोजक मध्यस्थ विज्ञान है। दूसरे शब्दों में अन्तर्म्मन को आनन्दरूप में परिणत करने वाला मध्यस्थ विज्ञान ही है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण पुरुषस्थानीय इस विज्ञान-भाव को हम 'यजु' कह सकते हैं। ये ही मुक्तिसाक्षी, विद्यात्मक, अव्ययात्मा के तीनों वेद हैं।

सृष्टिसाक्षी, कर्म्मप्रधान, अव्ययात्मा का मन (बहिर्म्मन) ही सम्पूर्ण कामनाओं का प्रभव है—"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"। काममय यह मन ही प्राण तथा वाक् का मूलाधार है। इसी मूलभाव के कारण हम इसे महोक्थस्थान य 'ऋक्' कह सकते हैं। वाक् पर ही मन की कामना का अवसान है। फलतः अवसानलक्षणा महाव्रतस्थानीया इस वाक् का सामत्त्व सिद्ध होजाता है। मन और वाक् का संयोजक मध्यस्थ प्राण है। दूसरे शब्दों में वाक् को मनोरूप में परिणत करने वाला मध्यस्थ प्राण ही है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण पुरुषस्थानीय इस प्राणभाव को हम 'यजु' कहने के लिए तय्यार हैं। सृष्टिसाक्षी, कर्म्मात्मक, अव्ययात्मा के ये ही तीनों वेद हैं।

१–मुक्तिसाक्षी आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यात्मक आत्मा में–

२–सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मात्मक आत्मा में–

इति–अमृतमृत्युलक्षणा वेदनिरुक्तिः

३—मूलवेद में मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मलक्षण वेदनिरुक्ति—

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" इस श्रुति के अनुसार आत्मा मनः-प्राण—वाङ्मय है। इस त्रिकल आत्मा के मन से कामना का, प्राण से तप का, एवं वाक् से श्रम का उदय होता है। काम—तप—श्रमरूप इन तीन सृष्टयनुबन्धों से उस सृष्टि-साक्षी मनःप्राणवाङ्मय आत्मा ने सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण किया है। वह आत्मा "मनसा-नित्यं कामयते, प्राणेन नित्यं तप्यते, वाचा नित्यं श्राम्यति"। काममय मन ज्ञानशक्ति है, तपोमय प्राण क्रियाशक्ति है, श्रममयी वाक् अर्थशक्ति है। ज्ञान-क्रिया अर्थरूप से वह मनः-प्राणवाङ्मय आत्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होरहा है। ज्ञानशक्तिघन काममय मन ही क्रिया—अर्थ-रूप तपःश्रममय प्राण, तथा वाक् की मूलप्रतिष्ठा है। यही मन महोक्थरूप 'ऋक्' है। अर्थमयी वाक् मनः-प्राण की अवसानभूमि होने से 'साम' है। संयोजक क्रियामय प्राण ही 'यजु' है। 'त्रिवृत्करणविज्ञान' के अनुसार आत्मा की ये तीनों कलाएं (प्रत्येक) त्रिवृद्भाव से युक्त हैं। मन भी मनःप्राणवाङ्मय है, प्राण भी मनःप्राणवाङ्मय है, एवं वाक् भी मनःप्राणवाङ्मयी है। मन की तीनों कलाएं मनोमयीं हैं, प्राण की तीनों कलाएं प्राणमयीं हैं, एवं वाक् की तीनों कलाएं वाङ्मयीं हैं। इस त्रिवृद्भाव के कारण ऋङ्मय केवल त्रिवृन्मन में भी मनः-प्राण-वाक् भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण यजुर्म्मय त्रिवृतप्राण, तथा साममयी त्रिवृता वाक् में भी मनः-प्राण-वाक् भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है। जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट होरहा है—

१—ज्ञानशक्तिमयं मनः———→महोक्थम्————→ऋक्
२—क्रियाशक्तिमयः प्राणः———→पुरुषः————→यजुः
३—अर्थशक्तिमयी वाक्———→महाव्रतम्————→साम

} → मूलवेदः

१—मनःप्राणवाङ्मये मनसि त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः

१	१—मनोमयं मनः	महोक्थम्	ऋक्	मनः (ऋग्वेदः)
	२—मनोमयः प्राणः	पुरुषः	यजुः	
	३—मनोमयी वाक्	महाव्रतम्	साम	

२—मनःप्राणवाङ्मये प्राणे त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः

२	१—प्राणमयं मनः	महोक्थम्	ऋक्	प्राणः (यजुर्वेदः)
	२—प्राणमयः प्राणः	पुरुषः	यजुः	
	३—प्राणमयी वाक्	महाव्रतम्	साम	

३—मनःप्राणवाङ्मय्यां वाचि त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः

३	१—वाङ्मयं मनः	महोक्थम्	ऋक्	वाक् (सामवेदः)
	२—वाङ्मयः प्राणः	पुरुषः	यजुः	
	३—वाङ्मयी वाक्	महाव्रतम्	साम	

इति-त्रिकलवेदनिरुक्तिः

—o:o—

४—उक्थ, ब्रह्म, साममय आत्मलक्षण वेदनिरुक्ति

यद्यपि आत्मा का (विशुद्ध -निर्धर्मक—असङ्ग आत्मा का) कोई स्वरूपलक्षण नहीं होसकता। तथापि विश्वदृष्टि से सोपाधिक बनेहुए सृष्टिमूलक आत्मा का अवश्य ही स्वरूपलक्षण किया जासकता है। "यस्य यदुक्थं स्यात्, ब्रह्म स्यात्, साम स्यात्—स तस्यात्मा"

इस आत्मलक्षण के अनुसार जो कारणभूत मौलिकतत्व जिस कार्यभूत यौगिकतत्व का उक्थ-ब्रह्म-साम होता है, उस कार्य का वह उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षण-कारण आत्मा माना जाता है। प्रभवस्थान को वैदिकभाषा में उक्थ कहा जाता है, प्रतिष्ठास्थान ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है, एवं परायणस्थान साम नाम से व्यवहृत हुआ है। उदाहरण के लिए घट को लीजिए। संसार में मृण्मय जितनें भी घट हैं, इन सब का मूलप्रभव मिट्टी है। मिट्टी से ही यच्चयावत् घट प्रभूत हुए हैं। अतः मिट्टी को हम सब घड़ों का उक्थ (प्रभवस्थान) कहने के लिए तय्यार हैं। मिट्टी से उत्पन्न घट मिट्टी को छोड़कर कभी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकते। मिट्टी ही सब घड़ों की प्रतिष्ठाभूमि है। अतः मिट्टी को हम घड़ों का ब्रह्म (प्रतिष्ठास्थान) मान सकते हैं। घट परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु मिट्टी सब घड़ों के लिए समान है। इस दृष्टि से भी मिट्टी घड़ों का साम (समरूपेण व्याप्त) है। एवं अन्त में घड़े मिट्टी में हीं लीन होजाते हैं। दूसरे शब्दों में मिट्टी ही घड़ों की अवसानभूमि है। इस दृष्टि से भी मिट्टी घड़ों का साम (परायणस्थान) है। चूंकि मिट्टी घड़ों का उक्थ-ब्रह्म-साम है, इस लिए मिट्टी घड़ों का आत्मा है। बस जहां उक्त लक्षण का समन्वय होजाय, वहीं आप आत्मशब्द का व्यवहार कर सकते हैं। इसी प्रकार विविधप्रकार के यच्चयावत् सुवर्णमय आभूषणों का उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षण सुवर्ण आत्मा कहलावेगा। विविधप्रकार के यच्चयावत् सूत्रमय वस्त्रों का उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षण तन्तु आत्मा कहलावेगा।

इसी आत्मलक्षण का आधिभौतिकसंस्था के साथ समन्वय कीजिए। विश्व में घट-पट-गृह-वन-पर्वत-सूर्य्य-चन्द्रमा आदि जितनें भी पदार्थ हैं, सब पाञ्चभौतिक हैं। इन पांचों भूतों की मूलजननी वाक् है। वाक् को आकाश कहा जाता है। यह वाङ्मय, किंवा वाग्रूप मर्त्याकाश ही बलग्रन्थि-तारतम्य से पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश रूप में परिणत होरहा है। पांचों भूत वाङ्मय हैं। वाक् ही पांचों भूतों की उक्थ (मूलप्रभव) है। यह वाक्तत्व प्राण और मन से स्वविनाभूत है। मनः-प्राण को गर्भ में रखने वाला तत्व ही वाक् है। जैसा कि वाक् नाम से ही स्पष्ट है। जो तत्व अपनी स्वरूपरक्षा के लिए मनः प्राण की याञ्चा

करता है, अपेक्षा रखता है, वह मर्त्यतत्त्व ही वाक् कहलाता है। शब्दब्रह्मविद्या के संकेतानुसार शब्दसृष्टि में असङ्ग (कण्ठताल्वादि से असंस्पृष्ट) अकार मन का वाचक है। स्पृष्टास्पृष्ट उकार प्राण का वाचक है। इस क्रम से "अ–उ–अच" यह स्थिति होती है। मन स्वयं निष्क्रिय है, क्रिया प्राण का धर्म्म है। प्राण के सञ्चालन से मन में क्रिया का सञ्चालन होता है। अतः मन की अपेक्षा प्राण का प्राथम्य सिद्ध होजाता है। ऐसी स्थिति में आप को "मन–प्राण" यह क्रम न रख कर "प्राण–मन" यह क्रम रखना पड़ेगा। फलतः 'अ–(मन)–उ–(प्राण)–अच्" इस क्रम के स्थान में—'उ–(प्राण)–अ–(मन)–अच" यह स्थिति होजाती है। 'उ–अ–अच्" इस स्थिति में उकार को वकाररूप यणादेश होजाता है। "व्–अ–अच" यह स्थिति होजाती है। वकार अकार में जा मिलता है। वकार के अकार के, और अच् के अकार के आकाररूपा दीर्घसन्धि होजाती है। चकार को कुत्व होजाता है। इस प्रकार उ–अ–अच् के यण–दीर्घ–कुत्व से "वाक्" शब्द निष्पन्न होजाता है। इस का अर्थ होता है—**प्राणमन की याञ्चा करने वाला तत्त्व।** "उश्च–अश्च इति वः, तमञ्चति, इति वाक" वाक् शब्द का यही निर्वचन है। इस से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, जिसे हम वाक् कहते हैं, वह मन–प्राण–वाक् की समष्टि है। इन तीनों में से वाक्तत्त्व जहां पूर्वकथनानुसार सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों का उक्थ (उत्पत्तिस्थान) बनता है, वहां वागविनाभूत प्राणतत्त्व सब भूतों की प्रतिष्ठा बनता है। प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि जब तक वाङ्मय भूत में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक वह भौतिक पदार्थ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। प्राण विधर्त्ता है। वस्तुकूट को एकसूत्र में बद्ध रखना इसी विधर्त्ता प्राण का काम है। जब वस्तु जीर्णशीर्ण होजाती है, तो हम उस के लिए—"अरे! इस में अब प्राण (दम) नहीं रहा" यह कहने लगते हैं। फलतः प्राणका प्रतिष्ठाभूमित्व सर्वात्मना सिद्ध होजाता है। तीसरा है मनस्तत्त्व। यह मन एक अखण्ड धरातल है, आकाशात्मा है—"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यमाकाशात्मा"। यही सब का अवसानस्थान है, परायणभूमि है। इस दृष्टि से भी इसे भौतिक पदार्थों का साम कहा जासकता है। एवं यह आकाशवत् सब में समान है, इस लिए भी

इसे साम माना जासकता है। यह है प्राकृतिक स्थिति। उक्थ ही महोक्थ है, यही ऋक् है। फलतः भूतोक्थमयी वाक् का ऋक्त्व सिद्ध होजाता है। ब्रह्म ही पुरुष है, यही यजु है। फलतः भूतों के ब्रह्मरूप प्राण का यजुष्ट्व सिद्ध होजाता है। साम ही महाव्रत है, यही साम है। फलतः भूतों के सामरूप मन का साममयत्व सिद्ध होजाता है। इन तीन विभागों से कहीं पृथक् पृथक् तीन आत्मा नहीं समझ लेने चाहिए। एक ही आत्मा के मन-प्राण-वाक्, ये तीन रूप हैं। दूसरे शब्दों में तीनों व्यासज्यवृत्त्या एक आत्मा है—'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रयं सदेकमयमात्मा'। वही आत्मा वागवच्छेदेन सम्पूर्ण भूतों का उक्थस्थान बनता हुआ ऋक् है। वही आत्मा प्राणावच्छेदेन सम्पूर्ण भूतों का ब्रह्मस्थान बनता हुआ यजु है। एवं वही आत्मा मनोऽवच्छेदेन सम्पूर्ण भूतों का सामस्थान बनता हुआ साम है। वही उक्थ है, वही ब्रह्म है, वही साम है। उक्थब्रह्मनामलक्षण, वाक्-प्राण-मनोमय, विश्वव्यापक, नित्यतत्व ही इन अनित्य भूतों का आत्मा है।

१—उक्थम्—	वाक्—	महोक्थम्—	ऋक्	स एष वेदमूर्त्तिरात्मा सर्वेषां भूतानाम्।
२—ब्रह्म—	प्राणः—	पुरुषः—	यजुः	
३—साम—	मनः—	महाव्रतम्—	साम	

ऋङ्मूर्त्ति उक्थ मन, यजुर्मूर्त्ति ब्रह्म प्राण, एवं साममूर्त्ति साम मन, तीनों हीं त्रिवृद्भावापन्न हैं। त्रिवृद्भावापन्न आत्मा के इन तीनों त्रिवृत् नित्य भावों से क्रमशः रूप-कर्म्म-नाम, इन तीन भावों का उदय होता है। त्रिवृत्मन रूपों का प्रवर्त्तक है, त्रिवृत्प्राण कर्म्मों का प्रवर्त्तक है, एवं त्रिवृता वाक् नामों की अधिष्ठात्री है। इतना ध्यान रखिए कि उक्थ सदा वाक् ही होती है, ब्रह्म सदा प्राण ही होता है, साम सदा मन ही होता है। प्रत्येक पदार्थ नाम-रूप-कर्म्म की समष्टि है। प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई नाम है, प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई रूप (आकाररूप और वर्णरूप) है, प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई कर्म है। 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्' इस क्रियासञ्चार का ही नाम कर्म है।

विज्ञानसिद्धान्त के अनुसार नामरूपात्मक कोई भी पदार्थ किसी भी क्षण में निष्क्रिय नहीं है। परिवर्त्तनरूपा क्षणिक क्रिया निरन्तर होती रहती है। इसी क्रिया के "जायते-अस्ति-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते-विनश्यति" ये ६ भावविकार मानें जाते हैं। षड्भावविकारापन्न इस कर्म्मात्मिका क्रिया से ही तत्तत् पदार्थों की अवस्थाओं में परिवर्त्तन हुआ करता है। नामरूपकर्म्ममय मर्त्य पदार्थ की आधारभूमि केन्द्रस्थ मनःप्राणवाङ्मय अन्तर्यामी ही है। नाम एक स्वतन्त्र प्रपञ्च है, कर्म्म एक स्वतन्त्र प्रपञ्च है एवं रूप एक स्वतन्त्र प्रपञ्च है। तीनों अविनाभूत हैं। मनःप्राण को गर्भ में रखने वाली वाक् नामप्रपञ्च की उक्थ-ब्रह्म-साम है, वाक्-मन को गर्भ में रखने वाला प्राण कर्म्मप्रपञ्च का उक्थ-ब्रह्म-साम है एवं वाक्-प्राण को गर्भ में रखने वाला मन रूपप्रपञ्च का उक्थ-ब्रह्म साम है। जितनें भी रूप हैं, उन सब का वाङ्मय मन उक्थ है, प्राणमय मन ब्रह्म है, मनोमय मन साम है। इस प्रकार मन ही रूपों का उक्थ-ब्रह्म-साम बनता हुआ रूपों का उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षण आत्मा है। जितनें भी कर्म्म हैं, उन सब का वाङ्मय प्राण उक्थ है, प्राणमय प्राण ब्रह्म है, मनोमय प्राण साम है। इस प्रकार प्राण ही कर्म्मों का उक्थ-ब्रह्म-साम बनता हुआ कर्म्मों का उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षण आत्मा है। जितनें भी नाम हैं, उन सब का उक्थ वाङ्मयी वाक् है, प्राणमयी वाक् ब्रह्म है, मनोमयी वाक् साम है। इस प्रकार वाक् ही उक्थ-ब्रह्म-साम बनती हुई नामों की उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षण आत्मा है। यह सब त्रिवृद्भाव का वितानमात्र है। वितानात्मक त्रिवृद्भाव से ही आत्मा की तीनों कलाएं त्रिवृत् बनतीं हुई (प्रत्येक कला) तीनों वेदों से युक्त होजातीं हैं। जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट होजाता है—

१.—मनप्राणगर्भित वाक् में उक्थ-ब्रह्म-साम भेद से तीनों वेदों का उपभोग—

१—वागेव वाग्भावेन नाम्नामुक्थम् (वाक्)—वाङ्मयी वाक्-महदुक्थम्—ऋक्	१ (महदुक्थम्) वाक्-ऋक्
२—वागेव प्राणभावेन नाम्नां ब्रह्म (प्राणः)—प्राणमयी वाक्—पुरुषः——यजुः	
३—वागेव मनोभावेन नाम्नां साम (मनः)—मनोमयी वाक्—महाव्रतम्——साम	

२—मनोवाग्गर्भित प्राण में उक्थ-ब्रह्म-साम भेद से तीनों वेदों का उपभोग—

१—प्राण एव वाग्भावेन कर्म्मणामुक्थम् (वाक्)-प्राणमयी वाक्-महदुक्थम्-ऋक्	२ (पुरुषः) प्राणः-यजुः
२—प्राण एव प्राणभावेन कर्म्मणां ब्रह्म (प्राणः)-प्राणमयः प्राणः-पुरुषः——यजुः	
३—प्राण एव मनोभावेन कर्म्मणां साम (मनः)-प्राणमयं मनः—महाव्रतम्-साम	

——०:*:०——

३—प्राणवाग्गर्भित मन में उक्थ-ब्रह्म-साम भेद से तीनों वेदों का उपभोग—

१—मन एव वाग्भावेन रूपाणामुक्थम् (वाक्)-मनोमयी वाक्—महदुक्थम-ऋक्	३ (महाव्रतम) मनः-साम
२—मन एव प्राणभावेन रूपाणां ब्रह्म (प्राणः)-मनोयः प्राणः—पुरुषः——यजुः	
३—मन एव मनोभावेन रूपाणां साम (मनः)-मनोमयं मनः—महाव्रतम्—साम	

इति—उक्थ—ब्रह्म—सामलक्षणवेदनिरुक्तिः

——०:•:०——

५—आत्म—ज्योति—प्रतिष्ठामय आत्मलक्षणवेदनिरुक्ति

मूलवेद प्रकरण का आरम्भ करते हुए हमने आत्मा को सच्चिदानन्दघन बतलाया है। इस आत्मा के अतिरिक्त सृष्टिसाक्षी आत्मा को मनःप्राणवाङ्मय कहा है। साथ ही में मन को ज्ञानशक्तिमय, प्राण को क्रियाशक्तिमय, एवं वाक् को अर्थशक्तिमयी बतलाया है। सृष्टिसाक्षी आत्मा के इन तीनों पर्वों में क्रमशः आनन्द—विज्ञान—सत्ता इन तीनों पर्वों का विकास रहता है। नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थ ही अर्थप्रपञ्च है। इस अर्थ, किंवा पदार्थ के आधार पर सत्तातत्व विकसित रहता है। घटोऽस्ति, पटोऽस्ति, इत्यादि वाक्यों में घट—पट आदि पदार्थ नामरूपकर्म्मात्मक हैं, अस्तिभाग सत्ता है। मन—प्राण—वाक् की समष्टि ही तो सत्ता है। इस सत्ता के मनोभाग[१], प्राणभाग[२], वाग्भाग[३] से ही तो अर्थ का रूपभाग—

कर्म्मभाग–नामभाग अनुगृहीत रहता है। सत्ता के (अस्तित्व के) आश्रय से ही नामरूप-कर्म्मात्मक पदार्थों का अभिनय होता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, आत्मा के सत्ताभाग का सृष्टिसाक्षी आत्मा के अर्थरूप वाग्भाग (त्रिवृद्वाग्भाग) पर ही विकास होता है। दूसरा पर्व है त्रिवृत्प्राण। यह क्रियाशक्तिमय है। यही प्राणभाग चेतना की विकासभूमि है। तीसरा त्रिवृत् मन है। यह ज्ञानशक्तिमय है। यही मनोभाग आनन्द की विकासभूमि है। ज्ञान से ही आनन्द विकसित होता है।

प्रकारान्तर से यों समझिए कि, प्रत्येक ज्ञान में **प्रज्ञा–प्राण–भूत** इन तीन मात्राओं का समावेश रहता है, जैसा कि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रज्ञा मन है, प्राण प्राण है, भूत वाक् है। इन में वाक् विषय है, प्राण इन्द्रियवृत्ति है, मन इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान है। विषय सत्ता से अनुगृहीत है, इन्द्रियवृत्ति चेतना से अनुगृहीत है, प्रज्ञान आनन्द से अनुगृहीत है। इसी आधार पर हम मन को आनन्दात्मक कह सकते हैं, प्राण को चेतनात्मक कह सकते हैं, एवं वाक् को सत्तात्मिका कहा जासकता है।

यद्यपि आनन्द–चेतना-सत्ता, मन–प्राण–वाक्, ये सभी आत्मविवर्त्त हैं। फिर भी **"रसो ह्येव सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"** इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार रसरूप (रसप्रधान) आनन्द को ही हम मुख्य आत्मा कहेंगे- **आनन्दमयोऽभ्यासात्'** (शा. सू० १।१।१२)। इस आनन्द की विकासभूमि ज्ञानशक्तिमय मन ही है। ऐसी दशा में हम आनन्दात्मक ज्ञानमूर्त्ति इस मन को आत्मा कहने के लिए तय्यार हैं। वेदतत्वमीमांसासम्मत परिभाषा के अनुसार आनन्दात्मक इस मनोमय आत्मा को ही **"रसवेद"** कहा जाता है। इसी के रसन (प्रस्रवण) से आगे के सारे विवर्त्तों का विकास हुआ है। आनन्दात्मक मनोमय आत्मा की मात्रा ले ले कर ही सब उपजीवित हैं। चेतनात्मक क्रियाशक्तिघन प्राण, एवं सत्तात्मिका अर्थशक्तिघना वाक् इस आत्मा की विभूतियां हैं। चेतना ज्योति है, प्रकाश है। तद्युक्त प्राणविभूति को भी हम चेतनाविकासभूमि के कारण **ज्योति** कह सकते हैं। सत्ता प्रतिष्ठा तत्व है। 'अस्ति" यही तो प्रतिष्ठा है। अस्तित्व का मिटना ही तो प्रतिष्ठा का उखड़ना कहलाता

है। इस प्रकार आनन्दात्मक मनोमय आत्मा, चेतनात्मक प्राणमयी ज्योति, सत्तात्मिका वाङ्मयी प्रतिष्ठा भेद से एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त हो जाते हैं।

मूर्त्ति को **छन्दोवेद** कहा जाता है, मण्डल को **वितानवेद** कहा जाता है, एवं जिस मौलिकतत्व की मूर्त्ति एवं मण्डल होता है, उसे **रसवेद** कहा जाता है। रसवेद **यजुर्वेद** है, वितानवेद **सामवेद** है छन्दोवेद **ऋग्वेद** है। इन तीनों का आगे विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में हमें केवल यही कहना है कि, रसस्थानीय पूर्वोक्त आत्मा रसरूप होने से **यजुर्वेद** है। ज्योति का ही वितान होता है। यही मण्डल में परिणत होती है। अतः आत्मा की इस ज्योतिर्विभूति को हम **सामवेद** कहने के लिए तय्यार हैं। प्रतिष्ठा ही मूर्त्ति की स्वरूपसम्पादिका है। मूर्त्ति ही **ऋग्वेद** है। फलतः आत्मा की इस प्रतिष्ठाविभूति का **ऋग्वेदत्व** सिद्ध होजाता है। इस प्रकार आत्मा—ज्योति—प्रतिष्ठा भेद से विभूतियुक्त आत्मा में तीनों वेदों का उपयोग सिद्ध होजाता है।

१—आनन्दः——→ज्ञानशक्तिमयं मनः (आनन्दविकासभूमिः)।

२—चेतना——→क्रियाशक्तिमयः प्राणः (चेतनाविकासभूमिः)।

३—सत्ता——→अर्थशक्तिमयी वाक् (सत्ताविकासभूमिः)।

———:०:———

१—आनन्दात्मको मनोमय आत्मा——→आत्मा

२—चेतनात्मकः प्राणमय आत्मा——→ज्योतिः

३—सत्तात्मको वाङ्मय आत्मा——→प्रतिष्ठा

———:०:———

१—आनन्दात्मको मनोमय आत्मा—→आत्मा—(आत्मवेदः—रसवेदः)—→यजुर्वेदः

२—चेतनात्म : प्राणमय आत्मा—→ज्योतिः—(ज्योतिर्वेदः-वितानवेदः)—→सामवेदः

३—सत्तात्मको वाङ्मय आत्मा—→प्रतिष्ठा—(प्रतिष्ठावेदः-छन्दोवेदः)—→ऋग्वेदः

पाठक यह न भूले होंगे कि, आत्मकलारूप मनः- प्राण—वाक् तीनों हीं त्रिवृत् हैं। अर्थात् मनोमय आत्मा भी मनप्राणवाङ्मय है, प्राणमय आत्मा भी मनःप्राणवाङ्मय है, एवं वाङ्मय आत्मा भी मनःप्राणवाङ्मय है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण आत्मलक्षण यजुर्वेद, ज्योतिर्लक्षण सामवेद, प्रतिष्ठालक्षण ऋग्वेद, इन तीनों में (प्रत्येक में) ऋक्- यजुः—साम इन तीनों वेदों का उपभोग होजाता है। इन तीनों विवर्त्तों का "ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य" द्वितीयखण्ड के "त्रयीवेदनिरुक्ति" प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। विशेष जिज्ञासुओं को वही प्रकरण देखना चाहिए—(देखिए—ई०उ०वि०भा०द्वि०ख० ६२ पृष्ठ से ३० पर्यन्त)। यहां प्रकरणसङ्गति के लिये इन वेदविवर्त्तों का केवल नामोल्लेख कर दिया जाता है।

१—आत्मवेदः (यजुर्वेदः)

आनन्दात्मक मनोमय तत्व को आत्मा कहा गया है आनन्दगर्भित यह मनोमय आत्मा त्रिवृद्भाव के कारण मनः—प्राण—वाङ्मय है। ये ही तीनों आत्मविवर्त भौतिक विश्व के उक्थ-ब्रह्म—साम हैं। मनोमयी वाक् उक्थ है, मनोमय प्राण ब्रह्म है, मनोमय मन साम है। आत्मा का यह उक्थभाग ही ऋक् है, ब्रह्मभाग यजु है, सामभाग साम है। उपनिषद्भाष्य में हमने वाक् को साम माना है प्राण को ब्रह्म माना है, मन को उक्थ माना है। एवं प्रकृत में वाक् को उक्थ, एवं मन को साम बतलाया जा रहा है। इस में विरोध नहीं समझना चाहिए। वहां नामरूपकर्म्म की प्रधानता है, यहां ज्ञानमय आनन्द की प्रधानता है। नामरूपकर्म में नाम वाङ्मय है, इसी पर रूपकर्म्म का अवसान है। इस लिए वहां वाक् को साम बतलाया गया है। यहां आनन्द ही अवसान है। मन आनन्दमय है, इस लिए यहां आनन्दमय मन को साम कहा गया है। कहना यही है कि, उक्थ—ब्रह्म—साम रूप से केवल आनन्दात्मक (त्रिवृत्) मनोमय, यजुर्वेदमूर्त्ति आत्मवेद में हीं तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१—तदित्थं आनन्दात्मके मनोमये आत्मलक्षणे यजुर्वेदे मनसस्त्रिवृद्भावोद्दत्रयोपभोगः।

१—आनन्दगर्भिता मनोमयी वाक्—उक्थम्—ऋग्वेदः	
२—आनन्दगर्भितो मनोमयः प्राण—ब्रह्म—यजुर्वेदः	आत्मवेदत्रयी—मनोमयी—मनः[१]
३—आनन्दगर्भित मनोमयं मनः—साम—सामवेदः	

२—प्रतिष्ठावेदः (ऋग्वेदः)

सत्तात्मक त्रिवृत् वाक्प्रपञ्च ही प्रतिष्ठा रूप ऋग्वेद है। वाक् से ही सम्पूर्ण भूतों का उत्थान होता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। यह सत्तात्मिका वाक्, किंवा वाङ्मयी सत्ता मन–प्राण–वाक् के समन्वय से तीन भागों में विभक्त है। मनोमयी सत्ता आत्मधृति कहलाती है, प्राणमयी सत्ता असतोधृति कहलाती है एवं वाङ्मयी सत्ता सतोधृति कहलाती है। प्रत्येक पदार्थ अपना एक स्वतन्त्र आस्तित्व रखता है। यही तत्तत् पदार्थ की स्वसत्ता (स्वभाव–स्वसत्ता) है। जब तक स्वसत्ता है, तभी तक पदार्थ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। यही स्वसत्ता आत्मधृति है। सत्ताशून्य पदार्थ अन्य की सत्ता लेकर सत् बन जाता है। पहिले घट सर्वथा असत् था। परन्तु आज वही मृत्सत्ता को लेकर सद्वत् बन गया है। मिट्टी से सत् घट में आने वाली यही सत्ता असतोधृति है। यह प्राणमयी है। पुस्तक मेज पर, मनुष्य पृथिवी पर, वस्त्र शरीर पर प्रतिष्ठित है। मेज–पृथिवी–शरीर की प्रतिष्ठा से पुस्तक, मनुष्य–वस्त्र प्रतिष्ठित हैं। यही परसत्ता है। सत् पदार्थ ने अन्य सत् पदार्थ की सत्ता का अनुग्रह प्राप्त कर रक्खा है। यही सतोधृति है। यह वाङ्मयी है। आत्मधृति ऋग्वेद है, असतोधृति यजुर्वेद है, एवं सतोधृति सामवेद है। इस प्रकार इन तीन धृतियों के भेद से ऋग्वेदमूर्त्ति प्रतिष्ठावेद में ही तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट है—

२—तदित्थं सत्तात्मके वाङ्मये प्रतिष्ठालक्षणे ऋग्वेदे वाचस्त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः।

१—सत्तागर्भितं वाङ्मयं मनः—आत्मधृतिः—ऋग्वेदः
२—सत्तागर्भितो वाङ्मयः प्राणः—असतोधृतिः—यजुर्वेदः
३—सत्तागर्भिता वाङ्मयी वाक्—सतोधृतिः—सामवेदः
} प्रतिष्ठावेदत्रयी—वाङ्मयी—वाक् २

३—ज्योतिर्वेदः (सामवेदः)

चेतनात्मक त्रिवृत् प्राणप्रपञ्च ही ज्योतिःस्वरूप सामवेद है। "सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" (तै०ब्रा० ३।१२।९) का यही तात्पर्य्य है। प्राण के त्रिवृत्करण से इस ज्योति के भी तीन विवर्त्त होजाते हैं। वे ही तीनों ज्योतियाँ क्रमशः ज्ञानज्योति, भूतज्योति, सत्यज्योति, नामों से प्रसिद्ध हैं। मनोमयी ज्योति ज्ञानज्योति है, यही आत्मज्योति है। प्राणमयी ज्योति भूतज्योति है। यह सूर्य्य-चन्द्र-विद्युत्-नक्षत्र-अग्नि, भेद से पांच भागों में विभक्त है। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" (मुण्डक० २।२।१०) के अनुसार ज्ञानज्योति से ही यह भूतज्योति प्रकाशित रहती है, अत एव आत्मलक्षणा मनोमयी ज्ञानज्योति को "ज्योतिषां ज्योतिः" नाम से भी व्यवहृत किया गया है—"तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्"। वाङ्मयी ज्योति सत्यज्योति है। यह नाम-रूप भेद से दो भागों में विभक्त है। नाम-रूप से ही भाति (ज्ञान) का उदय होता है। नाम-रूप के आधार पर ही तत्तद्विषय हमारी प्रतीति के विषय बनते हैं। यही इस का ज्योतिर्भाव है। "नामरूपे सत्यम्" (शत० १४।४।४।३) के अनुसार नाम-रूपसमष्टि सत्य नाम से व्यवहृत हुई है। अतः हम इस ज्योति को अवश्य ही 'सत्यज्योति" नाम से सम्बोधित करने के लिए तय्यार हैं। याज्ञवल्क्य ने इन तीनों ज्योतियों को पांच भागों में विभक्त मान कर पुरुष को पञ्चज्योति माना है। याज्ञवल्क्योक्त वे पांचों ज्योतियाँ सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्मा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन में सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि

ये तीनों भूतज्योतियाँ हैं, वाक् सत्यज्योति है, आत्मा ज्ञानज्योति है—(देखिए शत० १४। ६।११।६)। मनोमयी ज्ञानज्योति ऋग्वेद है, प्राणमयी भूतज्योति यजुर्वेद है, एवं वाङ्मयी सत्यज्योति सामवेद है। इस प्रकार इन तीन ज्योतियों के भेद से सामवेदमूर्त्ति ज्योतिर्वेद में ही इन तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट है—

३-तदित्थं चेतनात्मके प्राणमये ज्योतिर्लक्षणे सामवेदे प्राणस्य त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः।

१—चेतनागर्भितं प्राणमयं मनः—ज्ञानज्योतिः—ऋग्वेदः
२—चेतनागर्भितः प्राणमयः प्राणः—भूतज्योतिः—यजुर्वेदः } —→ज्योतिर्वेदत्रयी प्राणमयी-प्राणः ३
३—चेतनागर्भिता प्राणमयी वाक्—सत्यज्योतिः—सामवेदः

आत्म-ज्योति-प्रतिष्ठालक्षण उक्त आत्मवेद का सच्चिदानन्दरूप मूलवेद में ही अन्तर्भाव होजाता है। प्रतिष्ठा सत्ता है, ज्योति चेतना है, आत्मा आनन्द है। यही तीन रूपों से सर्वत्र सब-कुछ बन कर व्याप्त हो रहा है।

१
१—आत्मवेदः———आनन्दः———आनन्दः→यजुर्वेदः
२—प्रतिष्ठावेदः———सत्ता———सत्———→ऋग्वेदः } →सच्चिदानन्दमूर्त्तिर्वेदः
३—ज्योतिर्वेदः———चेतना———चित्———→सामवेदः

१
आनन्दः
१—उक्थम्———उक्थवेदः———ऋग्वेदः
२—ब्रह्म———ब्रह्मवेदः———यजुर्वेदः } →आत्मवेदो वेदत्रयात्मकः—यजुर्वेदः १
३—साम———सामवेदः———सामवेदः

३ चेतना

१—आत्मा —ज्ञानज्योतिर्वेदः——ऋग्वेदः
२—भूतानि——भूतज्योतिर्वेदः—— यजुर्वेदः
३—नामरूपे——सत्यज्योतिर्वेदः——सामवेदः

→ज्योतिर्वेदो वेदत्रयात्मकः-सामवेदः ३

इति-आत्म-ज्योति-प्रतिष्ठावेदनिरुक्तिः

६—उपलब्धिरूप आत्मलक्षणवेदनिरुक्ति

पूर्व में आत्म-प्रतिष्ठा-ज्योतिर्लक्षण जिस आत्मवेद का दिग्दर्शन कराया गया है, वह ईश्वर-जीव-जगत इन तीन विवर्तों में विभक्त है । दूसरे शब्दों में ईश्वर भी सच्चिदानन्दवेदमूर्त्ति है, जीव भी सच्चिदानन्दमूर्त्ति है, एवं विश्व भी सच्चिदानन्दमूर्त्ति है । तीनों संस्थाएं ही क्रमशः आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक नामों से प्रसिद्ध हैं इन तीनों संस्थाओं के तीनों वेदों में केवल आत्म-प्रतिष्ठा ज्योति का तारतम्य है । आधिदैविकसंस्था से सम्बन्ध रखने

वाले ईश्वरीय वेद में आनन्दलक्षण आत्मवेद प्रधान है, चेतना एवं सत्त लक्षण ज्योतिर्वेद, तथा प्रतिष्ठावेद गौण हैं। आध्यात्मिकसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले जीववेद में चेतनालक्षण ज्योतिर्वेद प्रधान है, आनन्द एवं सत्तालक्षण आत्मवेद और प्रतिष्ठवेद गौण हैं। आधिभौतिक-संस्था से सम्बन्ध रखने वाले विश्ववेद में सत्तालक्षण प्रतिष्ठावेद प्रधान है। आनन्द एवं चेतना-लक्षण आत्मवेद और ज्योतिर्वेद गौण हैं। ईश्वर आनन्दमूर्ति है, आत्मवेदमूर्ति है। जीव चिन्मूर्ति है, ज्योतिर्वेदमूर्ति है। विश्व सन्मूर्ति है, प्रतिष्ठावेदमूर्ति है। ये ही तीनों संस्थाएं क्रमशः अस्ति-भाति-प्रिय नाम से प्रसिद्ध हैं। वही अस्ति है, वही भाति है, वही प्रिय है। उसी की अस्ति है, उसी की भाति है, उसी का प्रिय है। इन तीनों की समष्टि ही उपलब्धिरूप आत्मलक्षण वेद है।

वस्तु की प्राप्ति को ही उपलब्धि कहा जाता है। इस उपलब्धि में अस्ति-भाति-प्रिय तीनों का समन्वय है। इस उपलब्धि का मुख्य आधार सत्तालक्षण प्रतिष्ठावेद है। दूसरे शब्दों में हमें प्रत्येक पदार्थ की अस्तिरूप से ही उपलब्धि होती है। नामरूपात्मक घट-पटादि पदार्थ अस्तिमान् हैं। ये ही उपलब्धि के विषय बनते हैं। पदार्थ हैं, इसीलिए तो इन की उपलब्धि होती है। शशशृङ्गादि उपलब्ध क्यों नहीं होते? उनकी सत्ता नहीं, अस्तित्व नहीं-'यदि स्यादुपलभ्येत'। अस्ति की उपलब्धि क्या होती है, अस्ति ही उपलब्ध होना है। उपलब्धि और अस्ति को पृथक् नहीं किया जासकता। "घटोऽस्ति" यही तो हमारी उपलब्धि का अभिनय है। घट है, यही तो हम जानते हैं। अर्थात् हमारा ज्ञान "घटोऽस्ति" इस आकार से आकारित बनकर ही तो घटोपलब्धि का अभिनय करता है। यदि ज्ञान में से अस्ति निकाल दिया जाय, तो घटोपलब्धि का कोई स्वरूप ही न रहे। अस्ति एवं उपलब्धि के इसी तादात्म्यमात्र का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १ ॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ २ ॥

(कठ० ६।१२-१३) ।

नामरूपानुग्राहिणी यह अस्ति ही उपलब्धि का पहिला पर्व है । यही प्रतिष्ठालक्षण ऋग्वेद है । घट है, उसे हम जानते हैं । यह ज्ञानज्योति ही चेतना है । चेतना ही ज्योतिर्वेद है । जो वस्तु है, एवं जिसे हम जानते हैं, किंवा जिस का हमें ज्ञान होता है, सत्ता एवं ज्ञान का प्रतिष्ठारूप वही तत्व "रस" है । रस की सत्ता है, रस का ज्ञान है । रस ही प्रिय है, यही आत्मा है, यही आनन्दलक्षण आत्मवेद है । आनन्द उपलब्धि का मुख्य पर्व है । जब तक वस्तु सत्ता, एवं वस्तुज्ञान से आनन्द नहीं आता, तबतक वह उपलब्धि कोई मूल्य नहीं रखती । आनन्द ही हमें प्रिय है । । तभी तो दार्शनिक लोग इसे "प्रिय" नाम से सम्बोधित करते हैं । इसीलिए हम इसे उपलब्धि का मुख्य पर्व मानने के लिए तय्यार हैं । इस मुख्योपलब्धि का आधार चेतनामय ज्ञान है । विद्यमान वस्तु भी विना ज्ञान के आनन्दोपलब्धि का कारण नहीं बन सकती । इस ज्ञान की भी आधार भूमि सत्ता है । यदि वस्तु न हो,तो ज्ञान किस का हो । इस प्रकार इस दृष्टि से तो सत्ता सर्वमुख्य है , एवं उपलब्धि दृष्टि से आनन्द सर्वमुख्य है । इस प्रकार सत्तोपलब्धि, चेतनोपलब्धि, आनन्दोपलब्धि, तीनों के समन्वय से ही उपलब्धि का उदय होता है । यही वेदत्रयीरूपा वेदोपलब्धि है । इतना स्मरण रखना चाहिए कि, इस उपलब्धि वेद की मूलप्रतिष्ठा नामरूपात्मक भौतिकभाग ही है । घटोऽस्ति में से यदि आप नामरूपकर्मात्मक भूतभाग पृथक् कर देंगे, तो वह विशुद्ध सत्ता सामान्यभाव में परिणत होती हुई, अत एव व्यापक एवं निराकार बनती हुई प्रतीतिलक्षणा उपलब्धिमर्य्यादा से बाहिर निकल जायगी । व्यापकसत्ता को उपलब्धिरूप में परिणत करना एकमात्र परिच्छिन्न मृत्युरूप साकार नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक प्रपञ्च का ही काम है । यही अवस्था ज्ञान (विषयज्ञान) एवं आनन्द (विषयानन्द) की है । विना भौतिकविषय के ज्ञान भी निर्विकल्पक, अत एव व्यापक निराकार बनता हुआ उपलब्धि से बाहिर होजाता है । एवं भौतिकविषय के बिना आनन्द भी नित्यानन्द बनता हुआ, शान्त-

रूप में परिणत हुआ उपलब्धि का विषय नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि, आनन्दोपलब्धिरूप आत्मलक्षण यजुर्वेद, चेतनोपलब्धिरूप ज्योतिर्लक्षण सामवेद, सत्तोपलब्धिरूप प्रतिष्ठ लक्षण ऋग्वेद, ये तीनों हीं उपलब्धिवेद भौतिकपदार्थ के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि, आप उपलब्धि वेद को जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। उपलब्धिवेद का मूलाधार अस्ति बतलाया गया है। मन-प्राण-वाक् की समष्टि ही अस्ति है। यह अस्ति का अमृतरूप है, नित्यरूप है। मन से रूप, प्राण से कर्म्म, वाक् से नामात्मक मर्त्यभूत का उदय होता है। नामरूपकर्म्म की समष्टि ही भौतिकभाग है। यही उस अस्ति का मर्त्य, अनित्यरूप है, यह मर्त्य अस्ति (भूत) अमृत अस्ति की प्रतिष्ठा है, अमृत अस्ति चेतना की प्रतिष्ठा है, यही अस्ति आनन्द की प्रतिष्ठा है। इसी उपलब्धिवेदरहस्य को लक्ष्य में रखकर वेदभगवान् कहते हैं—

"स त्रय्यां वात्र विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्।
एतद् वा अस्ति। एतद्धि—अमृतम्। एतदु तत्—यन्मर्त्यम्। त्रय्या वात्र विद्यायां सर्वाणि भूतानि (प्रतिष्ठितानि)"। (शत० १०।६।१।२) इति।

सत्तोपलब्धिवेद "विद्यते इति वेदः" इस निर्वचन से वेद कहलाता है। यही इस का सत्ताप्रधान निर्वचन है। चेतनोपलब्धि वेद "वेत्ति-इति वेदः" इस निर्वचन से वेद है। यही चेतनाप्रधान (ज्ञानप्रधान-भातिप्रधान) निर्वचन है। आनन्दोपलब्धि वेद "विन्दति-इति वेदः" इस निर्वचन से वेद है। यही इस का आनन्दप्रधान (रसप्रधान-प्रियप्रधान-लाभप्रधान) निर्वचन है। सत्तार्थक विद धातु का "विद्यते" से सम्बन्ध है। यह ऋग्वेद की प्रतिष्ठा है ('विद' सत्तायाम्)। ज्ञानार्थक विद धातु का "वेत्ति" से सम्बन्ध है, यह सामवेद की प्रतिष्ठा है ('विद' ज्ञाने)। लाभार्थक विद धातु का "विन्दति" से सम्बन्ध है, यह यजुर्वेद की प्रतिष्ठा है ('विदॢ' लाभे)। इन्हीं तीनों भावों के कारण ही तो उपलब्धितत्व "वेद"

कहलाया है। सत्ता भी वेद है, ज्ञान भी वेद है, आनन्द भी वेद है। सम्पूर्ण विश्व वेदमूर्त्ति है, सम्पूर्ण जीवप्रपञ्च वेदमूर्त्ति है, स्वयं ईश्वर वेदमूर्त्ति है। वेद से, किंवा वेदात्मक सत्ता-चेतना-आनन्दभावों से अतिरिक्त और है क्या ?—"सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति"।

१—आधिदैविकवेदः→आनन्दप्रधानो वा आत्मप्रधानः —— (यजुः)।

१ आनन्दः (आत्मा)
- १—आनन्दप्रधानः—आनन्दमयः—आत्ममयो आत्मवेदः-यजुर्म्मयः-यजुर्वेदः
- २—आनन्दप्रधानः—चेतनामयः—आत्मप्रधानो ज्योतिर्वेदः-यजुर्म्मयः सामवेदः
- ३—आनन्दप्रधानः—सत्तामयः—आत्मप्रधानः प्रतिष्ठावेदः-यजुर्म्मयः-ऋग्वेदः

} आत्मवेदो—यजुर्वेदः ईश्वरः

——

२—आध्यात्मिकवेदः→चेतनाप्रधानो वा ज्योतिःप्रधानः —— (साम)

२ चेतना (ज्योतिः)
- १—चेतनाप्रधानः—आनन्दमयः—ज्योतिःप्रधानः आत्मवेदः-साममयः-यजुर्वेदः
- २—चेतनाप्रधानः—चेतनामयः—ज्योतिर्म्मयो ज्योतिर्वेदः-साममयः-सामवेदः
- ३—चेतनाप्रधानः—सत्तामयः—ज्योतिप्रधानः-प्रतिष्ठावेदः साममयः-ऋग्वेदः

} ज्योतिर्वेदः-सामवेदः जीवः

——o:o——

३—आधिभौतिकवेदः→सत्ताप्रधानो वा प्रतिष्ठाप्रधानः —— (ऋक्)।

- १—सत्ताप्रधानः—आनन्दमयः—प्रतिष्ठाप्रधानः—आत्मवेदः—ऋङ्मयः-यजुर्वेदः
- २—सत्ताप्रधानः—चेतनामयः—प्रतिष्ठाप्रधानः—ज्योतिर्वेदः—ऋङ्मयः-सामवेदः
- ३—सत्ताप्रधानः—सत्तामयः—प्रतिष्ठामयः—प्रतिष्ठावेदः—ऋङ्मयः-ऋग्वेदः

} प्रतिष्ठावेदः-ऋग्वेदः जगत्

——:o:——
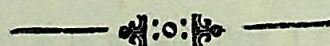
१—घटोऽस्ति]→सत्तोपलब्धिः (विषयात्मकः—प्रतिष्ठालक्षणः—ऋग्वेदः)
२—तमहंजानामि]→चेतनोपलब्धिः (वृत्यात्मकः —ज्योतिर्लक्षणः—सामवेदः)
३—यस्यास्तित्वं,
यस्य च ज्ञानं
सोऽयंरसः,
तृप्तिलक्षणो
लाभात्मकः } → आनन्दोपलब्धिः (अन्तःकरणात्मकः-आत्मलक्षणः यजुर्वेदः
} उपलब्धिवेदः

———०:※:०———

१—"वि .ते"—इति वेदः→सत्तोपलब्धिः—ऋग्वेदः प्रतिष्ठा
२—"वेत्ति"—इति वेदः→चेतनोपलब्धिः—स मवेदः-ज्योतिः
३—"विन्दति"—इति वेदः→आनन्दोपलब्धिः-यजुर्वेदः-आत्मा } → सैषा उपलब्धिरूपा-
वेदत्रयी

———०:※:०———

इति—उपलब्धिवेदनिरुक्तिः

७-ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृत(अक्षरसहकृत)आत्मवेदनिरुक्ति (सत्यवेदः)।

अब तक वेदपदार्थ के सम्बन्ध में जिन ६ विवर्त्तभावों का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया है, उन सब का एकमात्र पञ्चकल अव्ययपुरुष के साथ ही सम्बन्ध समझना चाहिए। पञ्चकल अव्यय ही सच्चिदानन्द कहलाता है। एवं पूर्व के सभी वेदविवर्त्तों का सच्चिदानन्दलक्षण अव्ययपुरुष में अन्तर्भाव है। "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (गी० ···· ····) इस स्मार्त्तसिद्धान्त के अनुसार अव्ययपुरुष स्वभावभूता अपनी अन्तरङ्ग प्रकृति से सर्वथा अविनाभूत है। इसी स्वभाव के कारण इस अन्तरङ्ग प्रकृति को अव्ययात्मा

मे ही अन्तर्भूत मान लिया जाता है। असीम परात्पर का जो प्रदेश महामाया से सीमित बनता हुआ सकेन्द्र बन जाता है, उसे ही **अव्ययपुरुष** कहा जाने लगता है। माया के उदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही **हृदयभाव** (केन्द्रभाव) उत्पन्न होजाता है। असीम परात्पर में हृदय न था। क्यों कि व्यापक वस्तु में कोई केन्द्र नहीं होसकता। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, व्यापक वस्तु की प्रतिबिन्दु केन्द्र है। वहां सभी केन्द्र हैं, वह सभी केन्द्र है। केन्द्ररूप परात्पर में **"सामान्ये सामान्याभावः"** इस नियम के अनुसार केन्द्र नहीं होसकता। इसी लिए वह अहृदय है. अकेन्द्र है। परन्तु मायासीमा से सीमित परात्पर का एक स्वतन्त्र केन्द्र बन जाता है। इस प्रकार माया के साथ साथ ही मायी अव्यय, एवं हृदयबल दोनों का उदय होजाता है। अव्यय जहां पुरुष कहलाता है, वहां अव्यय से नित्ययुक्त यह हृदयभाव ही **"प्रकृति"** नाम से व्यवहृत होता है। हृदय ही उस का स्वभाव है, अपना भाव है, अपनापन है, आप ही है। जिस दिन प्रकृतिरूप हृदयभाव ग्रन्थिविमोक से विलीन होजायगा, तत्-काल मायासीमा टूट जायगी। सीमा के टूटते ही परिच्छिन्न पुरुष (अव्यय) अपरिच्छिन्न परा-त्पररूप में परिणत होजायगा। स्वभाव शब्दार्थ का यही रहस्य है। अव्ययपुरुष स्वयं रसबल-मूर्त्ति है। फलतः तदविनाभूता तन्मयी इस हृदयरूपा प्रकृति में भी दोनों का समन्वय सिद्ध होजाता है। बल मृत्यु है, रस अमृत है। मृत्युगर्भित अमृताव्यय ही आनन्द-विज्ञान-मन है। अमृतगर्भित मृत्युलक्षण अव्यय ही मनःप्राणवाक् है। ये ही दोनों अवस्थाएं प्रकृति में समझिए। मृत्युगर्भिता अमृतलक्षणा प्रकृति **पराप्रकृति** नाम से प्रसिद्ध है। इसे **"अक्षर"** कहा जाता है। एवं अमृतगर्भिता मृत्युलक्षणा प्रकृति **अपराप्रकृति** नाम से व्यवहृत हुई है। यही "आत्मक्षर" नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों की समष्टि एक अन्तरङ्ग प्रकृति है। दोनों में से पहिले परात्मिका अक्षरप्रकृति का ही विचार कीजिए। प्रकृति को हमने हृदय कहा है। यही हृदयभाव स्वाभाविक प्राणव्यापार के अवस्थाभेद से अपने आलम्बन पुरुष के अनुग्रह से पांच कलाओं में परिणत हो जाता है। क्षर की वे ही पांचों कलाएं क्रमशः **ब्रह्मा[1]-विष्णु[2]-इन्द्र[3]-अग्नि[4]-सोम[5]** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मा का अव्यय की आनन्दकला से, विष्णु का विज्ञान-

कला से, इन्द्र का मनःकला से, सोम का प्राणकला से, एवं अग्नि का वाक्कला से सम्बन्ध है। आनन्दमय ब्रह्मा एक स्वतन्त्र तत्त्व है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र की समष्टि विष्णु है, इन्द्र-अग्नि-सोम की समष्टि शिव है। यही त्रिमूर्त्ति है। एक ही अश्वत्थ (अव्यय) वृक्ष के ये तीन विवर्त्त हैं। त्रिमूर्त्तिभावापन्न इसी अव्ययाश्वत्थ का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः॥

आनन्द ब्रह्मा है, आनन्द-विज्ञान-मन विष्णु है, मनःप्राण-वाक् शिव है। आनन्द ब्रह्मा है, चेतना विष्णु है सत्ता शिव है। अश्वत्थाव्यय का मूलभाग आनन्द है, यही शिरोभाग है, यहीं ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं। मध्यभाग चेतना है, यही उदरभाग है, यहीं विष्णु प्रतिष्ठित हैं। अग्रभाग सत्ता है, यही पादभाग है। महादेव इस अश्वत्थवृक्ष के नीचे प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि आगमशास्त्र कहता है—

*व्याख्यामुद्राक्षमाले कलशसुलिखिते बाहुभिर्वामपादम्।
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिर्युद्रुमाधः॥
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः।
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो नः॥१॥

ब्रह्मा संयती-त्रैलोक्य के, विष्णु क्रन्दसी-त्रैलोक्य के, एवं शिव रोदसी-त्रैलोक्य के अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हीं तीनों देवताओं का वैभव है, जैसा कि पुराण कहता है—

'त्रयो लोकस्य कर्त्तारो ब्रह्मा-विष्णुः-शिवस्तथा।"

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्" नामके प्रकरण में देखना चाहिए।

उक्त तीनों देवताओं में ब्रह्मा यजुर्वेद के अध्यक्ष हैं, *विष्णु सामवेद के अध्यक्ष हैं, एवं शिव ऋग्वेद के अध्यक्ष हैं। ब्रह्मा मूलप्रतिष्ठा है, इसी पर प्रतिष्ठित होकर विष्णु-शिव सृष्टि-प्रलय किया करते हैं। इन तीनों की समष्टि ही "हृदयम्" है। "हृ" विष्णु हैं, आगति-स्वभाव से आदान करना इनका मुख्य काम है। "द" शिव हैं, गति-स्वभाव से विसर्ग करना इनका मुख्य काम है। "यम्" ब्रह्मा हैं, स्थिति-स्वभाव से आदानविसर्गभावों का नियमन करना इनका मुख्य काम है। "यम्" रूप ब्रह्मा "सत्" हैं "हृ" रूप विष्णु "ती" हैं, "द" रूप शिव "अम्" हैं। तीनों की समष्टि ही "सतियम्" किंवा "सत्यम्" है। हृदय ही सत्य है। यही त्र्यक्षररूप सत्यवेद है। इन सब विषयों का प्रकृत में निरूपण नहीं किया जासकता। यहां विषयसङ्गति के लिए केवल नाममात्र का उल्लेख कर देना ही पर्य्याप्त है। पञ्चाक्षरमूर्त्ति त्र्यक्षर ही सत्यवेद है, यही अक्षरवेद है, इसके उपोद्बलक निम्नलिखित श्रुतिवचन हैं—

१—"तद्यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या" (शत० ६।५।१।१८)।

२—"तदेतत्त्र्यक्षरं सत्यमिति। "स" इत्येकमक्षरम् "ती" इत्येकमक्षरम्, "अम्" इत्येकमक्षरम्" शत० १४।८।६।२)।

३—"तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। "हृ" इत्येकमक्षरम्, "द" इत्येकमक्षरम्, "यम्" इत्येकमक्षरम्" (श० १४।८।४।१)।

इसी सत्य को नियति कहा जाता है, नियति का विज्ञान ही वेद है, यही अक्षर-वेद है, इसी वेद से सब शासित हैं। दूसरे शब्दों में नियतिरूप वेद-दण्डने हीं सब को स्व-स्वकर्म्म में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। अन्तर्य्यामी की नियति नें ही सबका सञ्चालन कर रक्खा है, सब इस वेदात्मक नियतिदण्ड से दण्डित हैं, यही नियतिरूप वेदसत्य धर्म्मदण्ड है, धर्म्म ही तो वेद है, वेद ही तो धर्म्म है, धर्म्म ही तो सत्य है। देखिए—

१—'यो वै धर्म्मः, सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मं वदतीति। धर्म्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति" (शत०१४।४।२।२६)।

* विष्णुतत्व ही कृष्णतत्व है। वासुदेवकृष्ण इसी के अवतार थे। अतएव उन्होंने स्वविभूति गणना में वेदानां "सामवेदोऽस्मि" (गी० १०।२२।) यह कहा है।

१—आनन्दः—
२—विज्ञानम्—
३—मनः—
४—प्राणः—
५—वाक्—
ब्रह्मा (आनन्दमयः)
विष्णुः (विज्ञानमयः)
इन्द्रः (मनोमयः)
सोमः (प्राणमयः)
अग्निः वाङ्मयः)
"तथाक्षराद्विविधाश्चभावाः प्रजायन्ते"
→ "अक्षरमित्युपास्स्व"
पञ्चकलः पुरुषः (अव्ययः)
पञ्चकला प्रकृति (अक्षरः)
* अक्षरप्रपञ्च *
१—१—आनन्दः
→ आनन्दः—ब्रह्मा (आत्मा)—चित्पत्तिः
१—आनन्दः
२—२—विज्ञानम्
३—मनः
→ चेतना—विष्णुः [ज्योतिः]—देवपतिः
१—मनः
३—२—प्राणः
३—वाक्
→ सत्ता—शिवः [प्रतिष्ठा]—भूतपतिः
"एकामूर्तिस्त्रयोदेवा ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वराः"
१—१—आनन्दः—ब्रह्मा
→ ब्रह्मा—"स"—"यम्"—यजुर्वेदः
१—आनन्दः—ब्रह्मा
२—२—विज्ञानम्—विष्णुः
३—मनः—इन्द्रः
→ विष्णुः—"ति"—"ह"—सामवेदः
१—मनः—इन्द्रः
३—२—प्राणः—सोमः
३—वाक्—अग्निः
→ शिवः—"यम्"—"द"—ऋग्वेदः
त्रिमूर्तिः
सत्यम्
हृदयम्
त्रयीविद्या
अक्षरवेदः—सत्यवेदः

८—प्राण-वाक्-आनन्दसहकृत (आत्मक्षरसहकृत) आत्मवेदनिरुक्ति

पूर्व की वेदनिरुक्ति में प्रकृति के अमृत-मर्त्य भेद से दो रूप बतलाए गए हैं। अमृत-रूप क्षयभावशून्य होता हुआ जहां अक्षर कहलाता है, वहां मर्त्यरूप क्षयभावयुक्त होनेसे क्षर कहलाता है। यही अव्ययपुरुष की अपराप्रकृति कहलाती है। इस अपराप्रकृति के मर्त्यब्रह्मात्मक प्राण, मर्त्यविष्ण्वात्मक आप, मर्त्यइन्द्रात्मक वाक्, मर्त्यसोमात्मक अन्न, एवं मर्त्यअग्न्यात्मक अन्नाद, ये पांच रूप हैं। इन पांचों पर क्रमशः आनन्दमय अमृतब्रह्मा (अक्षररूपब्रह्मा), विज्ञानमय अमृतविष्णु, मनोमय अमृतेन्द्र, प्राणमय अमृतसोम, एवं वाङ्मय अमृताग्नि का अनुग्रह है। जैसी परिस्थिति, जैसा संस्थानक्रम अव्ययपुरुष एवं अक्षर का बतलाया गया है, ठीक वैसा ही संस्थानक्रम अपराप्रकृतिरूप इस आत्मक्षर का समझना चाहिए। प्राणतत्व स्वतन्त्र है, यही ऋषि है, प्राण—आप— वाक् तत्व की समष्टि पितरप्राणगर्भित देवता है एवं वाक् अन्न—अन्नाद की समष्टि भूत है। भूत पर सत्तात्मक शिव का अनुग्रह है, अतएव शिव को भूतेश कहा जाता है। भूत ही अव्यक्त पदार्थों का व्यक्त लिङ्ग है। इसी लिए शिवतत्वप्रतिपादक लिङ्गपुराण ने भूतेश शिव का लिङ्गरूप से निरूपण किया है। पितर एवं देवता पर चेतनात्मक विष्णु का अनुग्रह है, अतएव विष्णु को पितृणां पतिः, एवं देवानां पतिः कहा जाता है। ऋषितत्व पर आनन्दात्मक ब्रह्मा का अनुग्रह है।

ऋषितत्व ही क्षरप्रधान यजुर्वेद है, जैसा कि आगे के तूलवेद-प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा। दूसरे शब्दों में ऋषिरूप ब्रह्मात्मक प्राण ही यजुर्वेद है। इसी आधार पर "ऋषिर्वेदमन्त्रः" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इसी को 'ब्रह्मनिःश्वसित" वेद कहा जाता है। यह आनन्दात्मक ब्रह्मा का ही निःश्वास है। पितृगर्भित देवतत्व ही क्षरप्रधान सामवेद है। इसी को 'गायत्रीमात्रिकवेद' कहा जाता है। भूततत्व ही क्षरप्रधान ऋग्वेद है। इसी को 'यज्ञमात्रिकवद' कहा जाता है। उक्त पांचों क्षरों से, किंवा क्षर की पांच कलाओं से विश्वसृट्, पञ्चजन पुरञ्जन क्रम से पांच पुर उत्पन्न होते हैं। जैसा कि पाठक ईशविज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड में देखेंगे। वे ही पांचों पुर क्रमशः स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी इन नामों से

प्रसिद्ध हैं। स्वयम्भू—प्राणमय, किंवा ऋषिमय है। परमेष्ठी आपोमय, किंवा पितृमय है। सूर्य्य वाङ्मय, किंवा देवमय है। चन्द्रमा अन्नमय, किंवा गन्धर्वमय है। पृथिवी अन्नादमयी, किंवा भूतमयी है। इन पांचोंका भी वही संस्थानक्रम है, जोकि अव्यय-अक्षर-क्षर में बतलाया गया है। स्वयम्भू स्वतन्त्र है। यही आनन्दात्मक, ब्रह्मानुग्रहीत, प्राणमय ब्रह्मनिःश्वसितवेद की विकासभूमि है। स्वयम्भू—परमेष्ठी-सूर्य्य तीनों की समष्टि एक स्वतन्त्र विभाग है। यही आनन्दविज्ञानमनोमय, ब्रह्मा—विष्णु-इन्द्ररूप विष्णु से अनुग्रहीत, प्राणापोवाङ्मय गायत्रीमात्रिकवेद की विकासभूमि है। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही मनःप्राणवागात्मक, इन्द्र-सोम-अग्निरूप शिव से अनुग्रहीत, वाक्—अन्न--अन्नादमय यज्ञमात्रिकवेद की विकासभूमि है। कहना प्रकृत में केवल यही ही है कि अक्षरवत् क्षर भी उक्त प्रकार से तीन वेदों का प्रवर्त्तक बन रहा है, जैसा कि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट होजाता है।

१—आनन्दः २—विज्ञानम् ३—मनः ४—प्राणः ५—वाक्	ब्रह्मा (आनन्दमयः) विष्णुः (विज्ञानमयः) इन्द्रः (मनोमयः) सोमः (प्राणमयः) अग्निः (वाङ्मयः)	प्राणः (ब्रह्ममयः) आपः (विष्णुमयः) वाक् (इन्द्रमयी) अन्नम् (सोममयम्) अन्नादः (अग्निमयः)	एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते
पञ्चकलः पुरुषः (अव्ययः)	पञ्चकला—पराप्रकृतिः (अक्षरः)	पञ्चकला—अपराप्रकृतिः (आत्मक्षरः)	क्षरप्रपञ्च

—०।#:०—

1—1—ब्रह्मा } →प्राणः—ऋषयः— —→ज्ञानपतयः

1—ब्रह्मा
2—2—विष्णुः } →वाक्—पितृगर्भितादेवाः→क्रियापतयः
3—इन्द्रः

1—इन्द्रः
3—2—सोमः } →अन्नादः-गन्धर्वगर्भितानि भूतानि-अर्थपतयः
3—अग्निः

} →क्षरः सर्वाणि भूतानि

—<:೦೦:೦೦>—
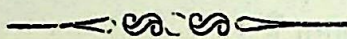
1—1—आनन्दः—ब्रह्मा—प्राणः (ऋषयः) } →प्राणः[1]—यजुर्वेदः (आत्मा) ब्रह्मनिःश्वसितवेदः

1—आनन्दः—ब्रह्मा—प्राणः (ऋषयः)
2—2—विज्ञानम्—विष्णुः-आप् (पितरः) } →वाक्[2]—सामवेदः (ज्योतिः) गायत्रीमात्रिकवेदः
3—मनः——इन्द्रः—वाक् (देवाः)

1—मनः——इन्द्र—वाक् (देवाः)
3—2—प्राणः—सोमः—अन्नम् (गन्धर्वाः) } →अन्नादः[3]—ऋग्वेदः (प्रतिष्ठा) यज्ञमात्रिकवेदः
3—वाक्——अग्निः—अन्नादः(भूतानि)

1—1—ऋषिमूर्त्तिः-प्राणः (स्वयम्भूः)-ब्रह्मा } →स्वयम्भूः—ब्रह्मा (संयती) ब्रह्मनि० विकासभूमिः

—— ०:ॐ:० ——

१—ऋषिमूर्त्तिः-प्राणः (स्वयम्भूः)-ब्रह्मा
२—२—पितृमूर्त्तिः-आपः (परमेष्ठी)--विष्णुः } → सूर्य्यः विष्णुः (क्रन्दसी,-गायत्री॰विकासभूमिः
३—देवमूर्त्तिः--वाक् (सूर्य्यः)-—इन्द्रः

१—देवमूर्त्तिः-—वाक् (सूर्य्यः)-—इन्द्रः
३—२—गन्धर्वमूर्त्तिः-अन्नम् (चन्द्रमाः -—सोमः } → पृथिवी—शिवः (रोदसी)-यज्ञमा॰विकासभूमिः
३—भूतमूर्त्तिः—अन्नादः(पृथिवी)—अग्निः

इति—प्राणापोवाक्सहकृतवेदनिरुक्तिः

६—समष्टिरूप से आत्मवेदनिरुक्ति

वेदतत्व का सम्बन्ध सच्चिदानन्दघन आत्मा से है। सत्ता—चेतना—आनन्द, इन तीनों कलाओं का विकास चितिभाव से सम्बन्ध रखता है। रसप्रधान अन्तश्चिति से (जोकि अन्तश्चिति मुमुक्षा से सम्बन्ध रखती है) आनन्द एवं चेतना का विकास होता है। बलप्रधाना बहिश्चिति से (जो कि बहिश्चिति सिसृक्षा से सम्बन्ध रखती है) सत्ता का विकास होता है। मुमुक्षा—और सिसृक्षा दोनों ही कामनामय बल हैं। कामना का मन से सम्बन्ध है, मन का हृदय से सम्बन्ध है, हृदय का माया से सम्बन्ध है, माया सीमाभाव की जननी है। फलतः सच्चिदानन्दघन आत्मा का का सीमित होना सिद्ध होजाता है। इसीलिए हम इसे "विश्वात्मा" नाम से सम्बोधित करते हैं। यह विश्वात्मा ही "षोडशीप्रजापति" नाम से प्रसिद्ध है। पञ्चकल अव्ययपुरुष पञ्चकल अक्षरपुरुष, पञ्चकल आत्मक्षरपुरुष, निष्कल परात्पर इनकी समष्टि ही षोड़शीप्रजापति है, यही विश्वप्रविष्ट गूढोत्मा है। इस आत्मा का अव्ययभाग ज्ञानप्रधान है, अक्षरभाग क्रियाप्रधान है, क्षरभाग अर्थप्रधान है। अर्थप्रधान क्षरभाग ऋग्वेदमूर्त्ति है, क्रियाप्रधान अक्षरभाग सामवेदमूर्त्ति है, एवं ज्ञानप्रधान अव्यय भाग यजुर्म्मूर्त्ति है। तीनों की समष्टि एक आत्मवेद है। कलाभेद से प्रत्येक वेद पुनः ऋक्—साम—यजुः भेद से तीन तीन भागों में विभक्त है। त्रिविधभावापन्न त्रिवृद्भावापन्न) इस आत्मवेद का परमार्थतः सच्चिदानन्दकोटि में ही अन्तर्भाव है। जैसाकि समष्ट्यात्मक आगे के परिलेख से स्पष्ट होजाता है।

८—"संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः" (तै० ब्रा० १।७।२।५।)।

९—"संवत्सरो वै सोमः पितृमान्" (तै० ब्रा० १।६।८।)।

१०—"तस्मादाहुः संवत्सरस्य सर्वे कामाः" (शत० १०।२।४।१।)।

११—"ऋतवः संवत्सरः" (तै० ब्रा० ३।६।६।१।)।

१२—"स वै यज्ञ एव प्रजापतिः" (शत० १।७।४।४।)।

१३—"यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" (शत० ४।४।२।६।)।

१४—"पुरुषो यज्ञः" (शत० १।३।२।१।)।

१५—"पुरुषो वै सम्वत्सरः" (शत० १२।२।१।)।

आर्यमहर्षियोंनें अपने तपोयोग से इस अलौकिक यज्ञविद्या के दर्शन किए, एवं लोककल्याण के लिए उसी यज्ञ विद्या को वैधयज्ञ रूप से हमारे सामने रक्खा। ऐसे अमूल्य धन को खोकर सचमुच आज हम अपने हाथों हीं अपना सर्वनाश करा रहे हैं। आज इस नित्य-विद्या का अवसान हमने आग में दो चार मन घी डालने पर ही मान रक्खा हैं।

—१—

८—"संवत्सर प्रजापति अग्नि-वायु-आदित्यमूर्त्ति बनता हुआ वैश्वानर है। कारण वैश्वानर का स्वरूप इन्हीं तीनों से निष्पन्न हुआ है"।

९—"संवत्सर पितरप्राणयुक्त सोममय है"।

१०—"इसी लिए यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण काम (इच्छा) संवत्सर के ही हैं"।

११—"ऋतुओं की समष्टि ही सम्वत्सर है"।

१२—"वह (सम्वत्सर रूप) यज्ञ ही (प्रजोत्पादन के कारण, प्रजापति है"।

१३—"यज्ञ से ही सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है"।

१४—"पुरुष (मनुष्य) साक्षात् यज्ञ (की प्रतिकृति) है"।

१५—"संवत्सर से उत्पन्न पुरुष वास्तव में संवत्सर (की प्रतिमा) है"।

—१—

निष्कलः परात्परः—अर्द्धमात्रा (अमात्रा)
पञ्चकलोऽव्ययः
आनन्दः
यजुः १
पञ्चकलोऽक्षरः
चेतना
साम २
पञ्चकलः क्षरः
सत्ता
ऋक् ३
१-आनन्दः →आनन्दः-यजुः १
१-आनन्दः
२-विज्ञानम्
३-मनः
→चेतना-साम २
१—मनः
२—प्राणः
३—वाक्
→सत्ता—ऋक् ३
१—ब्रह्मा →ब्रह्मा—यजुः १ (आनन्दः)
१—ब्रह्मा
२—विष्णुः
३—इन्द्रः
→विष्णुः—साम २ चेतना)
१—इन्द्रः
२—सोमः
३—अग्निः
→शिवः—ऋक् ३ (सत्ता)
१—प्राणः →प्राणः—यजुः १ (आनन्दः
१—प्राणः
२—आपः
३—वाक्
→वाक्—साम २ (चेतना)
१—वाक्
२—अन्नम्
३—अन्नादः
→अन्नादः-ऋक् ३ (सत्ता)
पुरुषवेदः
अव्ययवेदः
अकारः
पराप्रकृतिवेदः
अक्षरवेदः
उकारः
अपराप्रकृतिवेदः
क्षरवेदः
मकारः
आनन्दः
चेतना
सत्ता
सच्चिदानन्दवेदः
आत्मवेदः
स एष अश्वत्थप्रजापतिः
तस्य वाचकः प्रणवः
ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तद्वेद स वेदवित् ॥

२—ज्योतिः

भौतिकविज्ञान में अपने आप को मूर्द्धन्य मानने वाले पश्चिमी विद्वान् भौतिक विज्ञानान्तर्गत ज्योतिर्विज्ञान के सम्बन्ध में हीट (Heat), लाइट (Light), इलेक्ट्री (Electricity) इन तीन तत्वों को प्रधानता देते हैं । इन का यह सम्पूर्ण ज्योतिर्विज्ञान पदार्थ—विज्ञानान्तर्गत हमारे अग्निविज्ञान में ही अन्तर्भूत है । उक्त तीनों पदार्थ भारतीय विज्ञानशास्त्र में क्रमशः ताप (Temperathre), प्रकाश (Light), विद्युत (Electricity) इन नामों से व्यवहृत हुए हैं । तापलक्षण घनाग्नि पार्थिवज्योति है, प्रकाशलक्षण विरलाग्नि इन्द्र है, यही आदित्य है, यही दिव्यज्योति है । "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋक्सं०३।५३।८।), "इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्" "इन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः" इत्यादि श्रुतिएं इस दिव्यलोकस्थ इन्द्र को ही सप्तवर्णात्मक प्रकाश का अधिष्ठाता बतला रहीं हैं । अन्तरिक्ष में रहने वाला ऋत वायु विद्युल्लक्षण है, यही आन्तरिक्ष्यज्योति है । केवल अग्नि ही घन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत होता हुआ क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य नामों से प्रसिद्ध हो रहा है । इन तीनों में प्रत्येक की अवान्तर अनेक अवस्थाएं मानीं गई हैं । तीनों में से आन्तरिक्ष्य विद्युल्लक्षण वायव्यज्योति को ही लीजिए ।

जिस विद्युतविज्ञान (Electricity) के आधार पर आज पाश्चात्य देशों को उचित अभिमान हो रहा है, जिस विद्युच्छक्ति से आज विविध आविष्कार किए जा रहे हैं, उस का पूरा विवरण आपके वेदशास्त्र में अनादिकाल से निहित है । जहां पश्चिमी विद्वानों की दौड़ सौरविद्युत पर ही समाप्त हो जाती है, वहां उनसे कई सहस्र वर्ष पहिले प्रकट होने वाले आर्षग्रन्थों में सौर-सौम्य-ध्रौव भेद से तीन प्रकार की विद्युच्छक्तियों का उल्लेख मिलता है । ध्रुवनक्षत्र में प्रतिष्ठित जिस विद्युत ने अपने आकर्षणबल से गुरुत्वाकर्षण की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए पाञ्चभौतिक भूपिण्ड को कन्दुक (गेंद) की तरह निरावलम्ब आकाश में नियत क्रान्तिवृत्त पर गतिशील बना रक्खा है, एवं जिस के प्रवेश से लोहा फ़ौलाद बन जाता है,

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठ० १।३।१२)।

सर्वव्यापक, साथ ही में योगमाया के अनुग्रह से अन्तःकरणावच्छिन्न बना हुआ यही चिदात्मा प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में उक्थ (बिम्ब) रूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप (रश्मि-रूप) से बाहिर निकल कर तत्तद्विषयों से युक्त हो कर तत्तद्विषयाकाराकारित बनता हुआ हमें (वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति जीवात्मा को) तत्तद्विषयों का ज्ञान करवाता रहता है । चित के येही तीनों विवर्त्त क्रमशः 'उक्थ–अर्क–अशिति' इन नामों से व्यवहृत होते हैं जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । विषय अशिति है, आत्मरश्मियाँ अर्क है, स्वयं आत्मा उक्थ है । आत्मा अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य है । आत्मरश्मियां अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य है । तीसरा विभाग विषयावच्छिन्नचैतन्य का है । प्रकारान्तर से यों समझिए, कि हमारे में चित् है, जिन विषयों को हम देखते हैं उन में चित है, एवं जिस वृत्ति से हम देखते हैं, वह भी चिन्मयी है । तीनों स्थानों में व्याप्त चैतन्य जब एक स्थान पर, एक विन्दु पर आजाता है, तो पूर्वोक्त प्रमाज्ञान का उदय हो जाता है । यही इस विषय का प्रत्यक्ष कहलाता है । "अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं, विषयावच्छिन्नं चैतन्यं–चैतन्यम् । एतेषां त्रयाणामेकत्र प्रतिपत्तिः प्रत्यक्षम्" इस वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार तीनों चैतन्यों के एकत्र समन्वय पर ही प्रमाज्ञान प्रतिष्ठित है । हम अपने स्थान पर बैठे हैं । सामने घड़ा रक्खा है । हम से ज्ञानरश्मियाँ निकल कर घटज्ञान का हमारे आत्मज्ञान के साथ सम्बन्ध करा देतीं हैं । अव्यवहितोत्तरकाल में हीं "घटमहं जानामि" यह प्रमाज्ञान उदित होजाता है ।

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य 'प्रमाता' है, विषयावच्छिन्न चैतन्य प्रमेय है एवं वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमा का साधक किंवा उत्पादक बनता हुआ 'प्रमाण' है । प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, तीनों के समन्वय से ही विषय की प्रतीति होती है । इन सब का मूलाधार प्रमाता नामक अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही है । यह प्रमाता उस प्रमा का ही मौलिकरूप है । प्रमातामयी यह

प्रमा (ज्ञान) स्वस्वरूप से नित्यशुद्धमुक्त है। इसे हमनें उक्थ [प्रभव] बतलाया है। इसमें से निरन्तर रश्मियाँ निकला करतीं हैं। इन्हीं रश्मियों को दार्शनिक परिभाषा में "अन्तकरणवृत्ति" कहा गया है। विज्ञानपरिभाषानुसार यही वृत्ति "विज्ञान" नाम से व्यवहृत हुई है। यह विज्ञान ज्ञान है, उस उक्थरूप ज्ञानघन आत्मा का अंश है। यद्यपि अन्तःकरणवृत्तिरूप यह विज्ञान भी आत्मज्ञानवत् प्रातिस्विकरूप से एक ही है, तथापि जैसे विविध वर्णभेद से एक ही प्रकार की सौररश्मियाँ तत्तद्वर्णयुक्त आदर्शों [काचों] के साथ संक्रान्त होकर तत्तद्वर्णरूप में परिणत होजातीं हैं, एवमेव वह शुद्ध एकरूप विज्ञान भी विषय भेद से तीन स्वरूप धारण कर लेता है। विषयभेदभिन्न वह त्रिविध विज्ञान ही वेद, विद्या, ब्रह्म, इन नामों से प्रसिद्ध है।

आपके सामने घड़ा रक्खा हुआ है। उसके साथ वृत्तिरूप विज्ञान का सम्बन्ध होता है, विज्ञान घटाकाराकारित बन जाता है। यही ज्ञान "विषयावच्छिन्नज्ञान" कहलाने लगता है। इस विषयावच्छिन्नविज्ञानात्मक ज्ञानने अपने ऊपर घट को धारण कर रक्खा है। अतएव "बिभर्त्ति विषयं तद् ब्रह्म" इस व्युत्पत्ति से इस विषयावच्छिन्न ज्ञान को "ब्रह्म" कहा जा सकता है। आपके सामने घट नहीं है। केवल आप के कानों में "घट" शब्द का प्रवेश होता है। इस शब्दश्रवण से भी घटपदार्थ का ज्ञान होजाता है। इस शब्दावच्छिन्नज्ञान को ही हम वेद कहेंगे। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि विषय ही शब्द और अर्थ भेद से दो भागों में विभक्त है। अर्थात्मक विषय से अवच्छिन्न [युक्त) वही ज्ञान ब्रह्म है, एवं शब्दात्मक विषय से अवच्छिन्न वही ज्ञान वेद है। शब्द एवं अर्थ के द्वारा होने वाला ज्ञान यदि निरन्तर प्रवाहित रहता है, दूसरे शब्दों में पदार्थ को, किंवा तद्वाचक शब्दों को यदि बुद्धिपूर्वक निरन्तर देखा, एवं सुना जाता है, तो कालान्तर में तज्जनित संस्कार दृढ होजाता है। यही संस्कार आगे जा-कर स्मृति का जनक बनता है। यह संस्कारावच्छिन्नज्ञान ही "विद्या" है। कहने को वेद-विद्या-ब्रह्म पृथक् हैं। उपाधिशून्य विज्ञानदृष्टि से तीनों एक तत्व है। इसीलिए-"त्रयं ब्रह्म-त्रयो वेदाः-त्रयी विद्या" इत्यादि रूप से इन तीनों में संकर व्यवहार देखा जाता है। एक ही तत्व को कहीं वेद शब्द से, कहीं विद्या शब्द से, कहीं ब्रह्म शब्द से व्यवहृत करना

तभी सङ्गत होसकता है, जब कि तीनों को एकतत्व मान लिया जाता है। एवं तभी-"सैषा त्रयी-विद्यायज्ञः" (शत०१।१।४।३) "त्रयंब्रह्म सनातनम्" [मनु०१।२३] "त्रयो वेदाः" (श०१०।३।२।२५) इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त व्यवहारों का समन्वय होसकता है।

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। वही अन्तःकरणवृत्ति [विज्ञान] विषयाकाराकारिता बन कर 'ब्रह्म' कहलाने लगती है, संस्काराकारिता बनकर 'विद्या' कहलाने लगती है, एवं शब्दाकाराकारिता बनकर वही 'वेद' कहलाने लगती है। जिस समय हम घट पर दृष्टि डालते हैं, उसी समय घटज्ञान होजाता है। यह प्राथमिकज्ञान, दूसरे शब्दों में तात्कालिक ज्ञान विषयाकाराकारित ज्ञान है। इस समय हमारा ज्ञान घटाकाराकारित बनकर ही प्रतिभासित होता है। स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्यवत् स्वज्योतिर्म्मय यह ज्ञान विजातीय घट को स्वरश्मियों से "घटमहं जानामि" इस रूप से प्रकाशित करता हुआ "जानामि इत्यपि जानामि" इस रूप से अपने आपको भी प्रकाशित कर रहा है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार सूर्य्य त्रैलोक्य के पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ उन्हें दिखलाता है, एवमेव यह अपने प्रकाश से अपने आपको भी दिखलाता रहा है। इसी तरह यह ज्ञानसूर्य्य विषयों को दिखलाता हुआ अपने भी दर्शन करा रहा है। 'हम घड़ा जानते हैं'-यह विषयदर्शन है। 'हम घड़ा जानते हैं'-यह भी जानते हैं, यह स्वदर्शन है। यही स्वज्ञान पारिज्ञान, प्रत्यय, आदि नामों से प्रसिद्ध है। वक्तव्यांश यही है कि, विषयावच्छिन्ना यह अन्तःकरणवृत्ति ही अतिशयरूप से बुद्धि में प्रतिष्ठित होकर 'संस्कार' नाम से व्यवहृत होने लगती है। दूसरे शब्दों में शब्दविषयात्मक, एवं अर्थविषयात्मक विषयावच्छिन्न ज्ञान हीं आगे जाकर संस्कारावच्छिन्नज्ञानरूप में परिणत होजाता है। साथ ही में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, शब्द और अर्थ दोनों अविनाभूत हैं, तादात्म्यभावापन्न हैं। अतएव शब्दात्मक विषयज्ञान के अवसर पर अर्थात्मकविषय सहकारी बना रहता है, एवं अर्थात्मक विषयज्ञान के अवसर पर शब्दात्मक विषय सहकारी बना रहता है। घटविषयक अर्थज्ञानकाल में घट शब्द भी अन्तःकरण में प्रकट होजाता है। गोपशु को जब हम अपने सामने खड़ा देखते हैं, तो गोअर्थ का ज्ञान तो होता ही है, परन्तु साथ साथ ही गोशब्द भी हमारी ज्ञानसीमा में

प्रविष्ट होजाता है । इसी प्रकार 'गौ' शब्द सुनने से शब्दात्मक ज्ञान तो होता ही है, परन्तु साथ ही गोशब्दवाच्य गोपदार्थ भी ज्ञानसीमा में प्रविष्ट होजाता है । कारण इसका यही है कि पार्वतीपरमेश्वर की तरह शब्द अर्थ नित्य सम्बद्ध हैं । इसी तादात्म्यसम्बन्ध का निरूपण करते हुए भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्यपदीय)

पूर्व कथन से—'विषयाकाराकारिता अन्तःकरणरूपावृत्ति संस्कार, और शब्द दोनों को साथ लेती हुई प्रवृत्त होती है' यह भली प्रकार सिद्ध होजाता है । यही वृत्ति संस्कारज्ञानरूपा है, यही अर्थज्ञानरूपा है, यही शब्दज्ञानात्मिका है । इसी अभेदभाव के कारण हम तीनों को (प्रत्येक को) वेद–ब्रह्म–विद्या इन तीनों शब्दों से सम्बोधित कर सकते हैं। कारण स्पष्ट है । आरम्भ में तीनों की यद्यपि विजातीयरूप से प्रतीति होती है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से तीनों समान हैं । अर्थावच्छिन्न ज्ञान भी अन्ततोगत्वा ज्ञान है, संस्कारावच्छिन्न-ज्ञान भी ज्ञान है, एवं शब्दावच्छिन्न ज्ञान भी ज्ञान है—"सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परि-समाप्यते' (गीता० ४।३३।)। विशेषणभेद से साधारण दृष्ट्या भेद प्रतीत होने पर भी मौ-लिकतत्वदृष्टि से तीनों सर्वथा एक हैं । थोड़ी देर के लिए विशेषणभेद को प्रधान मान कर ही विचार कीजिए । इस भेदभाव की प्रधानता के कारण सर्वथा विभिन्न वेद–विद्या–ब्रह्म तीनों के अनन्तर तीनों वेदों का स्वरूप भिन्न भिन्न होजाता है । अर्थात्मक ऋग्–यजुः साम भिन्न हैं, इसी भेद को लक्ष्य में रखकर "त्रयं ब्रह्म" "त्रयोवेदाः"–'त्रयीविद्या" यह कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म–वेद–विद्यारूप तीन विशेषणों के भेद से तीनों को पृथक् मानलेने पर भी कोई क्षति नहीं है । भले ही तीनों भिन्न स्रोत हों, वह तो एक ही तत्व है । वही ब्रह्म बना है, वही विद्यास्वरूप में परिणत हुआ है, वही वेद बना है । नाम–रूपात्मिका प्रतीति का आधारभूत वेद भी वही है, सर्वप्रतिष्ठारूप ब्रह्म भी वही है, वही संस्काररूप आत्मा का अन्न

बना हुआ है—"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" इसका कौन प्रतिवाद कर सकता है। ज्ञानघन आत्मतत्व की इन्हीं विभूतियों का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म—नामरूप मन्नं च जायते ॥ (मुण्डक० १।१।९)
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजुः सं० ३१.७)

श्रुत्युक्त नामरूपात्मक तत्व शब्दप्रधान बनता हुआ वेदप्रधान है अर्थात्मत्र प्रतिष्ठा-लक्षण ब्रह्म ब्रह्मप्रधान है, अन्न संस्कारात्मिका विद्या का सूचक है । उक्त मुण्डकश्रुति का विशद् वैज्ञानिक विवेचन तो "मुण्डकोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य" में ही देखना चाहिए। यहां प्रकरणसङ्गति के लिए केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि, ज्ञान—क्रिया—अर्थमय, अत एव सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सर्ववित् नामों से प्रसिद्ध, अव्ययात्मक्षर से अनुग्रहीत, अक्षरमूर्त्ति उस चिद्घन प्रजापति के ज्ञानमय तप से सब से पहिले 'ब्रह्म—नामरूप—अन्न" ये तीन ही तत्व प्रादुर्भूत हुए हैं। ब्रह्म से अर्थसृष्टि का विकास हुआ है नामरूप से शब्दसृष्टि का वितान हुआ है, एवं अन्न से उभय (शब्दार्थ) सम्बद्धा संस्कारसृष्टि का उदय हुआ है । सृष्टिवर्ग में ये तीन सृष्टियाँ ही प्रधान हैं। इतर सम्पूर्ण सृष्टियों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव है। अर्थसृष्ट्यवच्छिन्न वही प्रजापति ब्रह्म है, शब्दसृष्ट्यवच्छिन्न वही प्रजापति वेद है, एवं संस्कारसृष्ट्यवच्छिन्न वही प्रजापति विद्या (अपराविद्या) है।

यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, अर्थ ही ज्ञान एवं क्रिया की प्रतिष्ठा है। निर्विषयक ज्ञान निर्विकल्पक बनता हुआ तिरोहित होजाता है। एवमेव क्षणिक क्रिया का आधार भी स्थिर अर्थ (पदार्थ) ही है। यदि अर्थ न हो तो क्रिया कहां प्रतिष्ठित रहे । विषयात्मक अर्थ ज्ञान, एवं क्रिया को अपने ऊपर प्रतिष्ठित रखता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान एवं क्रिया विषयावच्छिन्न प्रजापति पर प्रतिष्ठित हैं। अतएव "बिभर्ति ज्ञानक्रिये तद्ब्रह्म" इस निर्वचन के अनुसार अर्थावच्छिन्न (विषयावच्छिन्न) प्रजापति को हम अवश्य ही 'ब्रह्म" कहने के लिए

तय्यार हैं। यही ब्रह्मतत्व सब की प्रतिष्ठा है—"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" (शत० ६।१।१। ६।) । यही उस प्रजापति का पहिला 'ब्रह्मविवर्त्त' है।

शब्द से वस्तु का रूप एवं नाम दोनों पकड़ में आजाते हैं। "गौ" शब्द के सुनते ही "गौ" यह नाम, और सास्नादिमत्व गौ का रूप, दोनों गृहीत होजाते हैं। ऐसी अवस्था में शब्दावच्छिन्न प्रजापति को हम अवश्य ही "नामरूप" कहने के लिए तय्यार हैं। नामरूप से ही विषय प्रकाशित रहता है, एवं नामरूप से ही विषय की भाति (ज्ञान) होती है। अतएव नामरूप को "ज्योति" भी कहा जाता है। यही उस प्रजापति का दूसरा 'नामरूपविवर्त्त' है।

नामरूपात्मक ज्योतिर्म्मय शब्द, एवं अर्थात्मक ब्रह्म, दोनों से आत्मा संस्कृत रहता है। संस्कारावच्छिन्न प्रजापति ही अन्न है। विषयसंस्कार ही आत्मा के उक्थ हैं। जबतक उक्थ है, तभीतक अर्क हैं। जबतक अर्क हैं तभीतक आत्मा के साथ अशीति (अन्न) का सम्बन्ध है अन्नने ही संस्काररूप में परिणत होकर आत्मा को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कर रक्खा है, जैसा कि—'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते" इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट है। जिस दिन अन्नाहुति बंद हो जाती है साथ ही में पहिले से प्रतिष्ठित उक्थों का भोग समाप्त होजाता है, उस दिन आत्मा संस्कारशून्य होता हुआ मुक्त होजाता है। उक्थविद्या वेद की एक बड़ी ही रहस्यपूर्ण विद्या है। विशेषतः सामवेद में इसका विशद निरूपण हुआ है। आत्मा में अनन्त अशितियों के कारण संस्काररूप अनन्त उक्थ बैठे रहते हैं। इन अनन्त उक्थों की आश्रयभूमि होने से ही आत्मा को "महदुक्थ" कहा जाता है। आत्मा में जिस अन्नका उक्थ पहिले से प्रतिष्ठित रहता है, वह तत्समानधर्म्म अन्न की ही इच्छा करता है। सात्विक उक्थप्रधान आत्मा सात्विक अन्न की, तामस वाला तामस की, राजस वाला राजस की और ही प्रवृत्त होता है। यदि बलात्कार से प्रकृतिविरुद्ध अन्न का आगमन होता है, तो सहसा आत्मा घबड़ा जाता है। परन्तु आगत अन्न कालान्तर में एक स्वतन्त्र उक्थ बनता हुआ पुनः तदन्न-ग्रहण से शान्त होजाता है। एक व्यक्ति मद्य से घृणा करता है। इस घृणा का कारण यही

है कि, उसके आत्मा में मद्य का उक्थ नहीं है, अतएव तद्रूप अर्क नहीं निकलते। ऐसे व्यक्ति की किसी मद्यपी (शराबी) से मैत्री होजाती है। सङ्गातिशय के कारण मद्यपरमाणु संस्काररूप से धीरे धीरे उस व्यक्ति के आत्मा में (आत्मानुगृहीत मानसधरातल में) खचित होते जाते हैं। कालान्तर में जिस दिन संस्कारभाव पुञ्जरूप में परिणत होकर उक्थरूप में परिणत होजाता है, उसी दिन उस मद्योक्थ से मद्यमय अर्क निकल पड़ते हैं। बिम्ब बना नहीं कि, रश्मियाँ निकलीं नहीं। येही अर्क, किंवा रश्मियाँ उस व्यक्ति की मद्यपान की इच्छा है। इसी इच्छा का वशवर्त्ती बना हुआ यह धीरे धीरे स्वयं भी शराबी बन जाता है। इस प्रकार अर्करूप कामना का प्रधान स्तम्भ सङ्ग भी बन जाया करता है-"सङ्गात् सञ्जायते कामः" (गी० २।६२।)। इसी उक्थार्कभाव से बचने के लिए ऋषियोंनें कुसङ्ग का पूर्ण नियन्त्रण किया है। इस परिस्थिति से कहना यही है कि, अन्न ही उक्थरूप संस्कारों का जनक बनता है। एवं संस्कारों के अनुसार ही अन्नादान होता है। इसी संस्कार की कृपा से आत्मा शरीरबन्धन में पड़ा हुआ है। अन्नाहुति से ही आत्मयज्ञ (जोकि आत्मयज्ञ ब्राह्मणश्रुतियों में-"भैषज्ययज्ञ" नाम से सम्बोधित हुआ है) सम्पन्न होता है। अतएव इस अन्नतत्व को 'यज्ञ" भी कहा जाता है। यही उस प्रजापति का तीसरा 'अन्नविवर्त्त' है।

ब्रह्म प्रतिष्ठा है, नामरूप ज्योति है, अन्न यज्ञ है। तीनों की समष्टि ही 'सर्वम्' है। प्रतिष्ठा ब्रह्म है, यही विषयावच्छिन्न ज्ञान है। ज्योति नामरूप है, यही शब्दावच्छिन्न ज्ञान है, यही वेद है। यज्ञ अन्न है, यही सस्कारावच्छिन्न ज्ञान है, यही विद्या है। अपने ज्ञानमय तप से इन तीनों को उत्पन्न कर-"तद् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" के अनुसार वह अभिन्नरूप से तीनों विवर्त्तों में व्याप्त होरहा है। वह कारण है ये तीनों उस एक के तीन कार्य हैं। कार्यदृष्टि से तीनों भिन्न हैं, कारणदृष्टि से तीनों अभिन्न हैं एक हैं। कारणभूत सुवर्ण से निर्मित कटक-कुण्डल-ग्रैवेयक (चन्द्रहार) तीनों कार्य भिन्न भिन्न हैं, सुवर्ण तीनों में समान है। कार्यदृष्टि से तीनों भिन्न भिन्न हैं, कारणदृष्टि से तीनों एक तत्व है। निष्कर्ष यही हुआ कि-'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उप० ६।१।४) इस सिद्धान्त के

अनुसार कारण से अनतिरिक्त (अभिन्न) ब्रह्म–वेद–विद्या, इन तीनों कारणों को यदि कारण-दृष्टि से देखा जाता है, तो कार्यभेदसत्ता विलीन होजाती है। उदाहरण के लिए पांच महाभूतों का त्रिवृत्वाद अपने सामने रखिए। पार्थिव विभाग [मिट्टी] ६४ तरह के हैं, आप्य-विभाग (जल) ३० हैं, तैजस विभाग १० हैं, वायव्य विभाग ४९ हैं, आकाश विभाग ५ हैं। दूसरे शब्दों में फेन–मृत्–शर्करा–सिकता–अश्मन–वल्मीक–पीत–रक्त–श्वेत आदि भेद से मिट्टी ६४ जाति में विभक्त है। अम्भ–मरीचि–मर–श्रद्धा–स्यन्दन्ती–एकधना–वसतीवरी आदि भेद से पानी के ३० भेद हैं। एकविध गायत्रतेज, एकविध सावित्रतेज, अष्टविध नाक्षत्रिकतेज भेद से तेज १० भागों में विभक्त है। धुनि–ध्वान्त–ध्वन–ध्वनयन्–निलिम्प–विलिम्प–विक्षिप–ऋत–सत्य–ध्रुव–धरुण–धर्त्ता–विधर्त्ता–आदि वायु के ४९ अवान्तरभेद हैं। परमाकाश–पुराणाकाश–शरीराकाश–हृदयाकाश–दहराकाश भेद से आकाश पांच भागों में विभक्त है। इन सब (५८ विभागों का वैज्ञानिकोंनें पांच ही भूतों में अन्तर्भाव मान लिया है। प्रकारान्तर से देखिये। पृथिवी अन्न है, इसके ६४ भेद हैं, जल के ३० भेद हैं, तेजके १० भेद हैं संभूय १०४ कार्य होजाते हैं। आर्ष वैज्ञानिक लोग इन सब अवान्तर कार्यों की अविवक्षा कर तेज–अप्–अन्न इन तीन कारणों में हीं उन सब कार्यों का अन्तर्भाव मानते हुए तीन हीं तत्व मानते हैं। त्रिवृत्करणविद्या में ऋषियोंनें तेज–अप्–अन्न की ही सत्ता स्वीकार की है— (छान्दोग्य० उप० ६।३।३।) इस भूतविद्या के अनुसार ब्रह्मविद्या में भी ऋषियोंनें कार्यभूत ब्रह्म–विद्या–वेद इन तीनों की अपेक्षा न रखते हुए कारणभूत, अनिर्वचनीय सर्वत्र व्याप्त, महामहनीय, एक ही परमब्रह्म [अव्ययक्षरानुगृहीतअक्षर] की सत्ता स्वीकार की है। यही सबका आत्मा है। हम जो कुछ देखते हैं, "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" के अनुसार नानाभेदभिन्न वह सारा प्रपञ्च ऐतदात्म्य है, आत्ममय है। इसी आत्मदृष्टि के आधार पर "ब्रह्मैवेदं सर्वम्"–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"–"प्रजापतिरेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च" इत्यादि नैगमिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं।

इस प्रकार अबतक के कथन से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है, कि सदसद्रूप

कारणभूत ब्रह्म के कार्यरूप ब्रह्म–वेद–विद्या, इन तीनों कार्यों के कार्यत्व का अपलाप करदेने से दृश्यमान प्रपञ्च आत्मरूप ही है। घड़ा मिट्टी से बना है। मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य है। दोनों में परस्पर भेदाभेद, किंवा भेदसहिष्णुअभेदसम्बन्ध है। ऐतदात्म्य–सम्बन्ध से दोनों ही व्यवहार देखे जाते हैं। 'घटोऽयं मृत्तिकैव" (यह घड़ा मिट्टी ही है)-"घटोऽयं मृत्तिकाजन्यः" (यह घड़ा मिट्टी से उत्पन्न हुआ है, दोनों हीं व्यवहार सुप्रसिद्ध हैं। ठीक इसी तरह यहां भी-'ब्रह्मेदमीश्वरः, विद्येयमीश्वरः, वेदोऽयमीश्वरः' यह व्यवहार भी होसकता है। एवं 'ब्रह्मेदमीश्वरकृतम्, विद्येयमीश्वरकृता, वेदोऽयमीश्वरकृतः' यह व्यवहार भी होसकता है। इसी कार्यकारणभाव को लक्ष्य में रखते हुए हम वेद को साक्षात् परमेश्वर कह सकते हैं। साथ हो में वेदईश्वरकृत है यह भी कहा जासकता है। जिनके मत में (कारणपक्षपातियों के मत में) ईश्वर वेदमूर्त्ति है, ईश्वर अन्यपुरुष से अनुत्पन्न है, नित्य है. अतएव वेद भी अपौरुषेय है, अकृतक हैं, नित्यकूटस्थ है, उनके इस मत का भी कारणदृष्टि से समादर किया जा सकता है। एवं जो वेद को ईश्वरकृत मानने के पक्षपाती (कार्यदृष्टि को प्रधान मानने वाले) हैं, उनके मतानुसार भी वेद की अपौरुषेयता, एवं नित्यता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण रह जाती है। कारण स्पष्ट है। महापुरुष ईश्वर के अतिरिक्त उसका बनाने वाला और कौन होसकता है। उधर उस नित्य महापुरुष की इच्छाशक्ति सर्वथा नित्य है। नित्यइच्छासिद्ध इस नित्यवेद की अपौरुषेयता में कोई बाधा नहीं आसकती। ईश्वर को पुरुष मान कर थोड़ी देर के लिए तत्कृतिसाध्यता का समादर करते हुए वेद को पौरुषेय भी मानलें, तब भी कोई क्षति नहीं है। "शास्त्रयोनित्वात्" (शारी०सू० १.१।३।)इत्यादि वेदान्तसूत्र ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं समझते।

ब्रह्मतत्त्व को हमनें प्रतिष्ठा कहा है। यही आत्मा की सत्ताकला का विकास है, यही ऋग्वेद है। वेदतत्त्व को हमनें ज्योति कहा है। यही आत्मा की चित्कला का विकास है, यही सामवेद है। विद्या को हमनें आत्मोक्थ कहा है। यही आत्मा है, यही आत्मा की

आनन्दकला का विकास है, यही यजुर्वेद है। यही ब्रह्म-वेद-विद्यालक्षण आत्मवेद है। आत्मा के त्रिवृद्भाव के कारण इनमें (प्रत्येक में) तीनों वेदों का उपभोग होजाता है। ऋङ्मय ब्रह्मात्मक वेद भी त्रयीवेद है, साममय वेदात्मक वेद भी त्रयीवेद है, एवं यजुर्म्मय विद्यात्मक वेद भी त्रयीवेद है।

१—ब्रह्मवेद (ऋग्वेद)

विषयावच्छिन्न ज्ञान को ही हमनें ब्रह्म कहा है। यही प्रतिष्ठातत्व है यही सत्तातत्व है, यही ऋग्वेद है। इस विषय में नाम-रूप-कर्म्म, ये तीन कलाएं नित्य प्रतिष्ठित रहतीं हैं। इनमें नामप्रपञ्च वाङ्मय ऋग्वेद है, रूपप्रपञ्च मनोमय यजुर्वेद है, एवं कर्म्मप्रपञ्च प्राणमय सामवेद है।

—— o:•:o ——

२—वेदवेद (सामवेद)

शब्दावच्छिन्न ज्ञान को ही हमनें वेद कहा है। यही ज्योतितत्व है, यही चेतनातत्व है, यही सामतत्व है। वाङ्मय शब्द ही चेतना का निर्गमस्थान है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जबतक आदमी बोलता रहता है तभी तक उसे जीवित माना जाता है। एक मूर्च्छित मनुष्य जब कुछ बोलने लगता है, तो उसके सम्बन्ध में "अरे! देखो देखो उसने चेत कर लिया" यह कहा जाता है। चेत करना चेतना का ही व्यापार है। यही आत्मज्योति है। "वाग्-ज्योतिरयं पुरुषः" का भी यही रहस्य है। "सर्वं शब्देन भासते" भी शब्दतत्व के इसी ज्योतिर्म्मय चेतना-भाव का समर्थन कर रहा है। यह शब्दप्रपञ्च गद्य-पद्य-गेय भेद से तीन भागों में विभक्त है। स्मरण रहे, इन तीनों से सुप्रसिद्ध यजुः-ऋक्-साम नाम की वेदसंहिताएं कभी अभिप्रेत नहीं है। अपितु प्राणिमात्र की वागिन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाले शब्द से ही हमारा तात्पर्य है। संसार के शब्दमात्र में जितना गद्य का अंश है, वह सब यजुर्वेद का विकास है। कारण इसका यही है कि, यजुर्म्मय आत्मा आनन्दप्रधान है। आनन्द निः-

सौम्यतत्व है। अव्ययप्रधान आनन्द ही यजु है। गद्य भी निःसीम है। इसी सादृश्य के कारण हम गद्यात्मक शब्दप्रपञ्च को यजुर्वेद मानने के लिए तय्यार हैं। पद्यात्मक (छन्दोबद्ध) शब्द-प्रपञ्च को हम ऋग्वेद कहने के लिए तय्यार हैं। कारण इसका यही है कि, ऋग्वेदमय आत्मा सत्ता-प्रधान है। सत्ता प्रतिष्ठा तत्व है। क्षरप्रधान सत्ता ही ऋग्वेद है। क्षरकूट ही तो सत्ता है, व्यञ्जनकूट ही तो पद्य है। इसी सादृश्य के कारण पद्यात्मक शब्द ऋग्वेद है। गेय भाग सामवेद है। पद्य में ही स्वरलहरी का समावेश करने से गान का स्वरूप निष्पन्न होजाता है। पद्य का वितान (फैलाव) ही तो गान है। साममय आत्मा चेतनाप्रधान है। सामात्मक गान से पशु पक्षियों तक में चैतन्य विकसित देखा गया है। अक्षरप्रधाना यह चेतना ही साम है। अक्षर को ही स्वर कहा जाता है स्वर ही तो वितत होकर पद्य को गेय बना डालता है। इसी समानता से हम गेय भाग को साम मानने के लिए तय्यार हैं-"गीतिषु सामाख्या"।

२—विद्यावेद (यजुर्वेद)

संस्कारावच्छिन्न ज्ञान को ही विद्या कहा गया है। यह संस्कार तीन तरह से उत्पन्न होते हैं। शब्दश्रवण से भी संस्कार होता है, यही पहिला शब्दात्मक संस्कार है। कर्म करने से भी संस्कार होता है, यही कर्म्मात्मक, किंवा कर्म्मप्रधान संस्कार है। विषयज्ञान से भी संस्कार होता है, एवं बिना विषय के केवल सांस्कारिक विषयों के आधार पर नवीन नवीन काल्पनिक संस्कार उदित होते रहते हैं। इन दोनों में विषयज्ञान सम्बन्धी प्रथम संस्कारों का तो पूर्व के कर्म्मसंस्कारों में ही अन्तर्भाव है। दूसरे काल्पनिक संस्कार ज्ञानसंस्कार, किंवा ज्ञानप्रधान संस्कार कहलाते हैं। यहां जिन संस्कारों के आधार पर ज्ञान नवीन कल्पना करता है, वे भी ज्ञानमय हैं, एवं स्वयं ज्ञान तो ज्ञान है ही। इसीलिए इन काल्पनिक संस्कारों को हम ज्ञान-संस्कार कह सकते हैं। शब्द सुनने से आत्मा पर एक छाप सी लग जाती है, विषयदर्शन से भी वह विषय हृत्पटल पर खचित होजाता है ठाले बैठे नई नई कल्पनाओं से भी नवीन नवीन संस्कार उदित होते देखे गए हैं। इन तीनों ही संस्कारों का भावना—वासना संस्कार

में अन्तर्भाव है। कर्म्मजनित संस्कार वासनाप्रधान है, ज्ञानजनित संस्कार भावनाप्रधान है, एवं शब्दजनितसंस्कार उभयप्रधान है। इन तीनों में मूल शब्दजनित संस्कार ही है। ज्ञान में भी शब्द अनुस्यूत है, कर्म्म में भी शब्द अनुस्यूत है। दोनों हीं में शब्द सहायक बनता है। ज्ञान से काम लेने वाला एक विद्वान् भी अपनी ज्ञानीय कल्पनाओं में शब्द को ही मूलाधार बनाता है। कर्म्मप्रधान एक मजदूर भी कर्म्म करते समय शब्द का आश्रय लेता देखा गया है। प्रासादादि निर्म्माण काल में मजदूर लोग जब भी कभी कोई बोझल वस्तु उठाते हैं, तो सब के मुंह से "हां देखना-सावधान-वाह मेरे शेर-अब क्या है" ऐसे वाक्यों का प्रयोग करते देखे गए हैं। इस शब्दाश्रय से अवश्य ही उन्हें अपने कर्म्म में सहायता मिलती है। इसी मूलप्रतिष्ठा के कारण शब्दसंस्कार को हम ऋग्वेद मानने के लिए तय्यार हैं। क्यों कि प्रतिष्ठा ही सत्ता है, सत्ता ही ऋक् है, यही ऋग्भाव है।

कर्म्म में अक्षरप्रधाना चेतना का विकास है। चेतना ज्योति है। ज्योति साम है। फलतः कर्म्मजनित संस्कार का साममयत्व होना सिद्ध होजाता है। ज्ञान अव्ययप्रधान आनन्द का विकास है, आनन्द आत्मा है, आत्मा यजु है। अतएव हम ज्ञानजनित संस्कार को यजुर्वेद कहने के लिए तय्यार हैं। इसीलिए तो ज्ञानीय कल्पना में आनन्द आया करता है। इस प्रकार तीनों में तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है।

१—विषयावच्छिन्नं ज्ञानं—→ब्रह्म——(प्रतिष्ठा——सत्ता)——→ऋग्वेदः
२—शब्दावच्छिन्नं ज्ञानं—→वेदः——(ज्योतिः——चेतना)——→सामवेदः } →वेदत्रयी
३—संस्कारावच्छिन्नं ज्ञानं—→विद्या——(आत्मा——आनन्दः)——→यजुर्वेदः

——— ०:**:० ———

१—प्रतिष्ठालक्षणे सत्तात्मके ब्रह्मवेदे—ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोगः

१—नामप्रपञ्च—(वाङ्मयी सत्ता)—प्रतिष्ठा—ऋग्वेदः
२—रूपप्रपञ्च—(मनोमयी चेतना)—ज्योतिः—सामवेदः } → ब्रह्मवेदः—ऋक्
३—कर्म्मप्रपञ्च—(प्राणमय आनन्द)—आत्मा—यजुर्वेदः

—०:—:०—

२—ज्योतिर्लक्षणे चिन्मये वेदवेदे—सामवेदे वेदत्रयोपभोगः

१—पद्यात्मक शब्दप्रपञ्च—(वाङ्मयी क्षरप्रधानासत्ता)—प्रतिष्ठा—ऋग्वेदः
२—गानात्मक शब्दप्रपञ्च—(प्राणमयी अक्षरप्र० चेतना)—ज्योतिः—सामवेदः } → वेदवेदः—साम
३—गद्यात्मक शब्दप्रपञ्च—(मनोमय अव्ययप्र० आनन्द)—आत्मा—यजुर्वेदः

—०:—:०—

३—आत्मलक्षणे आनन्दमये विद्यावेदे—यजुर्वेदे वेदत्रयोपभोगः

१—शब्दावच्छिन्न संस्कार—(वाङ्मयी सत्ता)—प्रतिष्ठा—ऋग्वेदः
२—कर्म्मजनित संस्कार—(प्राणमयी चेतना)—ज्योतिः—सामवेदः } → विद्यावेदः—यजुर्वेदः
३—ज्ञानजनित संस्कार—(मनोमय आनन्द)—आत्मा—यजुर्वेदः

—:०:—

अव्यय—अक्षर—आत्मक्षर—परात्पर की समष्टिरूप चतुष्पाद ब्रह्म ही कारणभूत आत्मा है। आत्मक्षर की दृष्टि से वही आत्मब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, अक्षर की दृष्टि से वही आत्मब्रह्म निमित्त कारण है, अव्ययदृष्टि से वही आत्मब्रह्म आलम्बन कारण है।

परात्परदृष्टि से वही आत्मब्रह्म कार्य-कारणातीत है इस कारणभूत आत्मब्रह्म से स्थूलसृष्टि की मूलभूता क्रमशः ब्रह्म-नामरूप-अन्न नामक ब्रह्म-वेद-विद्या इन तीन सृष्टियों का विकास होता है। इन्हीं तीनों का उपबृंहण यह विश्व है। इस विश्व में आगे जाकर अग्नीषोमात्मक चारों विश्ववेदों का विकास होने वाला है । इससे पहिले पहिले का सारा वेदवितर्त्त आत्मकोटि में हीं अन्तर्भूत है । इसी प्रकृतिसिद्ध वेदावतार-क्रम को लक्ष्य में रख कर हमने अनेक दृष्टियों से पहिले सच्चिदानन्दलक्षणभूत मूलकारणात्मक आत्मवेद, किंवा आत्मवेदत्रयी का दिग्दर्शन कराया है, इसके पीछे तूलकारणभूत ब्रह्म-वेद-विद्या लक्षण आत्मवेद का स्वरूप बतलाया है। इस प्रकार आरम्भ से अबतक विश्वगर्भ में सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म-वेद-विद्यावेदकृतमूर्ति सच्चिदानन्दलक्षण आत्मवेद, किंवा मूलवेद का ही निरूपण हुआ है। अब यद्यपि क्रमप्राप्त तूलवेदात्मक अग्नीषोममय विश्ववेद का निरूपण करना चाहिए था, तथापि वेदतत्व का स्पष्टीकरण करने के लिए दो चार स्थलों में वेदतत्व की व्याप्ति दिखला देना आवश्यक प्रतीत होता है। इन कुछ एक वेदसंस्थाओं से, साथ ही में पूर्वप्रतिपादित वेद के तात्त्विक स्वरूप से वेदभक्तों को यह मान लेने में अणुमात्र भी सन्देह न रहेगा कि वेद, वास्तव में वेद एक तत्व विशेष है, जो कि आत्मवत् सर्वत्र व्याप्त है। वेदग्रन्थ वेद नहीं है, वेदग्रन्थ तो वेदतत्वप्रतिपादक शब्दशास्त्रमात्र है । इस प्रकीर्णक वेदप्रकरण में उदाहरणरूप से निम्नलिखित ७ संस्थाओं का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायगा।

(११) १—पर्ववेदनिरुक्ति
(१२) २—भावनावेदनिरुक्ति
(१३) ३—भाववेदनिरुक्ति
(१४) ४—दिग्वेदनिरुक्ति
(१५) ५—देशवेदनिरुक्ति
(१६) ६—कालवेदनिरुक्ति
(१७) ७—वर्णवेदनिरुक्ति

इति—वेदविद्याब्रह्मनिरुक्तिः

——०:*:०——

११—पर्ववेदनिरुक्ति

प्रकृत 'पर्ववेद' का प्रधानरूप से 'त्रयीवेद' के साथ ही सम्बन्ध समझना चाहिए। त्रयीवेद की मूलप्रतिष्ठा अग्नितत्व है, जैसाकि पाठक आगे के प्रकरणों में देखेंगे। असंख्य व्यष्टियों को अपने गर्भ में रखने वाले महासमष्टिरूप महाविश्व का मौलिकस्वरूप सोमगर्भित अग्नितत्त्व ही माना गया है, जैसा कि निम्नलिखित 'बृहज्जाबाल' सिद्धान्त से स्पष्ट है—

अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ॥
अतएव हविःक्लृप्त—' मग्नीषोमात्मकं जगत्" ॥१॥
ऊर्ध्वशक्तिमयःसोम अधोशक्तिमयोऽनलः ॥
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥२॥
(बृहज्जाबालोपनिषत् २ ब्रा० ४-५ कं०)।

उक्त उपनिषद्वर्णन के अनुसार समष्टिरूप महाविश्व, एवं विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्टिरूप चर-अचर पदार्थ अग्नि-सोम के ही सम्पुटितरूप हैं जिनका कि—"शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन" इत्यादि रूप से 'उमामहेश्वर' के दाम्पत्यरूप पर विश्राम माना गया है। इसी दाम्पत्यभाव का प्रश्नोपनिषत् ने रयि—प्राण, तथा योषा—वृषा रूप से स्पष्टीकरण किया है। ब्राह्मणरहस्यवेत्ता महर्षि इसे ही अपनी याज्ञिक परिभाषा में आर्द्र—शुष्क, स्नेह—तेज, आज्य—पृष्ठ, इत्यादि नामों से व्यवहृत कर रहे हैं।

तात्पर्य्य यह हुआ कि, सोमगर्भित अग्निमूर्त्ति विश्व एक महावेद है, एवं विश्वगर्भ में रहने वाला प्रत्येक पदार्थ एक एक अल्पवेद है। 'अनन्ता वै वेदाः" (तै० ब्राह्मण) के अनुसार इन व्यष्ट्यात्मक अनन्त वेदों को अपने गर्भ में रखने वाले अग्नीषोममय महाविश्वात्मक उसी महावेद को विश्वव्यापक विश्वात्मा का शरीर माना गया है, जैसाकि उसके "वेदमूर्त्ति" नाम से स्पष्ट है। यद्यपि इस वेदमूर्त्ति में अग्नी—षोम दोनों तत्वों का समन्वय है, तथापि "अत्तैवाग्ण्यायते नाद्यम्" (शत० ११।६।५।१।) इस वाजिसिद्धान्त के अनुसार आद्य

(अन्न) लक्षण सोमगर्भित अत्ता (अन्नाद) लक्षण अग्नि को ही उसका प्रातिस्विक स्वरूप मान लिया गया है। इसी दृष्टि से हम उस महासमष्टि को, एवं समष्टि के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्टियों को केवल "अग्नि" शब्द से ही सम्बोधित करना उचित समझते हैं। आगे जाकर यही अग्नि-तत्त्व हमारे प्रकृत 'पर्ववेद' की आधारभूमि बनता है।

पूरणार्थक 'पर्व' धातु ('पर्व' पूरणे भ्वा० प० सें०) बाहुलकात् 'कनिन्' होने से 'पर्वन्' शब्द निष्पन्न हुआ है। फलतः पर्व शब्द का अर्थ होता है, कमी पूरा करने वाला। शरीर के अङ्गों का जबतक यथावत् सञ्चालन होता रहता है, तभी तक शरीरयष्टि की रक्षा रहती है, एवं तभी तक शरीर की कमी पूरी होती रहती है। अस्थि—मज्जा—शुक्र—शोणित आदि व्यष्टियाँ हीं शरीरसमष्टि की पूरिका, एवं रक्षिका मानीं गईं हैं। व्यक्तिरक्षा ही समाज, किंवा राष्ट्र-रक्षा का मूलमन्त्र है। व्यक्तियों के प्रयास से ही समाज की आवश्यकताएं पूरीं होतीं हैं, एवं इन्हीं आवश्यक सामग्रियों से समाज अपने स्वरूप की रक्षा करने में समर्थ होता है। अतएव 'पिपर्त्तीति-(पॄ—पालन-पूरणयोः-जु०प०से) इस कोषनिरुक्ति के अनुसार उस वस्तु को पर्व कहा जाता है, जिस के द्वारा तत्तद्वस्तुविशेषों का समष्टि—व्यष्टिरूप से पालन होता रहता है, कमी पूरी होती रहती है।

समष्टिरूप महाविश्व की रक्षा के लिए भी अवश्य ही 'पर्व' नाम की ऐसी कोई वस्तु होनी चाहिए, एवं विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्टिरूप पदार्थों के लिए भी अवश्य ही किसी पूरक, तथा रक्षक की अपेक्षा होनी चाहिए। वही पूरक रक्षक तत्त्व 'पर्व' कहलाएगा।

शरीर के अङ्ग अपनी धातु—प्रस्रवण क्रिया द्वारा शरीर के रक्षक—पूरक बनते हुए शरीर के पर्व हैं। उत्सवविशेषों से सम्बन्ध रखने वाली तिथिएं देवाराधन द्वारा, मानसोल्लास द्वारा, आदि दृष्टियों से समाज में जीवनस्रोत, तथा आत्मशक्तिसञ्चार करने के कारण पर्व हैं। सम्पूर्ण खगोल की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ विषुवद्वृत्त खगोल का रक्षक तथा पूरक बनता हुआ पर्व है। इस प्रकार अपनी रक्षावृत्ति और पूरक वृत्ति से पर्वशब्द अनेक भावों का वाचक बना हुआ है।

महाविश्व भी सोमगर्भित अग्निमय, विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्टियाँ भी एतद्रूप हीं परिणामतः दोनों के स्वरूप की "अग्नि" तत्व पर विश्रान्ति । विश्वस्वरूपरक्षक इस अग्नितत्व की रक्षा जिन भावों से होरही है, उन्हीं को हम अग्निपर्व कहेंगे । वे ही अग्निपर्व विज्ञानभाषा में उक्थ–पृष्ठ–ब्रह्म इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। इन्हीं तीन पर्वों के सम्बन्ध से अग्नितत्व त्रयीवेदस्वरूप में परिणत हो रहा है । इसी दृष्टि को प्रधान रखता हुआ यह त्रयीवेद "पर्व-वेद" कहलाया है।

जैसाकि विषयारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है, सभी पदार्थ अग्निप्रधान हैं। यह अग्नि-तत्त्व उक्थ–पृष्ठ–ब्रह्म, इन तीन पर्वों से सदा युक्त रहता है, यह भी कहा जासकता है, एवं ये तीनों उस एक ही अग्नितत्त्व की तीन विशेष अवस्था है, यह भी माना जासकता है। उभयथा तात्पर्य्य समान है। किसी भी वस्तु को लेलीजिए। अवश्य हो उस वस्तु का आप एक उपक्रम (आरम्भ) स्थान स्वीकार करेंगे। जहां से वस्तु का आरम्भ होता है, वस्तुस्वरूप का उपक्रम हुआ है, वही उपक्रमस्थान "उक्थ" कहलाता है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार दीपार्चि (लौ) प्रकाश का, वागिन्द्रिय शब्दों का, मेघ वृष्टि का, पृथिवी ओषधी–वनस्पतियों का, ले-खिनी लिपि का, न्यायाध्यक्ष (जज) न्याय (जज्मेन्ट) का गुरू उपदेश का, पुण्य सुलोकों का, पाप अधोलोकों का, निष्कामभाव विदेहमुक्ति का, अध्वर्यु आध्वर्य्य कर्म्म का, होता हौत्र कर्म्म का, उद्गाता औद्गात्र कर्म्म का उक्थ माना जायगा । विश्व के समष्टि–व्यष्ट्यात्मक यच्च-यावत् जड़चेतनपदार्थ अपने अपने आरम्भस्थान की दृष्टि से "उक्थ" रूप से उपलब्ध होंगे।

अग्निप्रधान प्रत्येक पदार्थ का आरम्भस्थान उस पदार्थ का हृदय (केन्द्र–गर्भ) ही माना गया है। हृदय ही उस वस्तु का आरम्भस्थान है । चूंकि हृदय से ही वस्तु प्रस्तुत होती है, अत एव इसे "प्रस्ताव" भी कहा जाता है। उत्तालतरङ्गायित आज की अमर्यादित सभाओं में प्रस्ताव नाम की जो लम्बी चौड़ी वस्तु सुनी जाती है, (जो कि वस्तु अपने आगे के पृष्ठ ब्रह्म, इन दो पर्वों से शून्य रहती हुई सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो रही है) उस का भी इसी उक्थ पर

पर्य्यवसान है । किसी भी विषय का आरम्भ करने वाले व्यक्ति का जो उपक्रम–बीज है, वही प्रस्ताव है ।

हृदयस्थानीय प्रस्तावविन्दु, किंवा आरम्भस्थान ही तत्तद्वस्तुओं का 'उक्थ' माना जायगा । यही अग्निरूप वस्तु का, किंवा वस्तुगत अग्नितत्त्व का प्रथम एवं मुख्यपर्व कहा जायगा । और इसी "उक्थ" पर्व को हम "ऋक्" कहेंगे । स्तुत्यर्थक "ऋच्" (ऋचि–स्तुतौ) ही 'ऋक्' है । स्तुतिशब्द प्रस्ताव का ही सूचक है । प्रस्ताव आरम्भस्थान का ही द्योतक है । आरम्भस्थान वस्तु का हृदय ही माना गया है । एवं वस्तुगत यच्चयावत् भावों का प्रभव बनता हुआ हृदयपर्व ही उस वस्तु का "उक्थ" (उत्थानभूमि) है ।

आरम्भ शब्द सर्वथा सापेक्षभाव से सम्बन्ध रखता है । वियोग की अपेक्षा रखने वाला संयोग शब्द, पतन की अपेक्षा रखने वाला समुच्छ्रय शब्द, एवमेव अवसान की अपेक्षा रखने वाला आरम्भ शब्द । प्रस्ताव वस्तु का आरम्भ है, तो निधन वस्तु का अवसान है । प्रस्तावात्मक आरम्भ शब्द से बद्ध निधनात्मक अवसानशब्द वस्तुस्वरूप के नाश का द्योतक नहीं है । वस्तु के उच्छेदरूप नाश का वाचक तो केवल 'मृत्यु' शब्द ही माना गया है । यहां अवसान से यह मृत्युभाव अपेक्षित नहीं है । अपितु वस्तुस्वरूप की विद्यमानता में वस्तु का जो अन्तिम आवरण है, वही प्रकृत में अवसान, किंवा निधनशब्द से अभिप्रेत है । जिसे याज्ञिकभाषा में 'छन्द' कहा जाता है, विज्ञानभाषा में जिसे 'वयोनाध' कहा जाता है, सामपरिभाषा जिसे 'निधन' कहती है, पृष्ठविज्ञानवेत्ता जिसे 'पारावतपृष्ठ' कहते हैं, अवसान से वही तत्व अभिप्रेत है । वस्तु का उपक्रम यदि हृदय है, तो उपसंहार अन्तिम वयोनाध है ।

वस्तु की वही बाह्य-सीमा, जहां वस्तु–स्वरूप समाप्त है, 'पृष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है । प्रस्ताव-भाव के सम्बन्ध से हृदयरूप आरम्भस्थान जैसे 'उक्थ' कहलाता है, वैसे निधनभाव के सम्बन्ध से परिधिरूप अवसानस्थान 'पृष्ठ' कहलाता है । उक्थ जहां अपने प्रस्तावभाव से ऋक् कहलाता है, एवमेव पृष्ठ अपने निधनभाव से साम कहलाता है । अवसान ही अवसाम है, अवसाम ही साम है, साम ही आत्मविभूति का अन्तिम विश्रामस्थान है । निष्कर्षतः वस्तु

का हृदय उक्थ है, वस्तु की परिधि पृष्ठ है। आरम्भविन्दु उक्थ है अवसानस्थान पृष्ठ है। उक्थ प्रस्तावात्मिका ऋक् है, पृष्ठ निधनात्मक साम है। इस ओर ऋक् है, उस ओर साम है। आरम्भ ही वस्तु का अवसान है। जो हृदय है, वही परिधि है। मूल में हृदय कहलाने वाला भाव ही तूलरूप में आकर परिधि कहलाने लगता है। अनिरुक्तभाव उक्थ है, निरुक्तभाव परिधि है। संकोच उक्थ है, विकास परिधि है। अवस्था दो हैं, मूलतः एक ही तत्व है। ऋक् ही तो त्रिच वनकर साम कहलाने लगता है। 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते' सिद्धान्त के अनुसार ऋक् पर आरूढ होकर ही तो सामगान होता है। हृदयावच्छिन्न विष्कम्भ (व्यास) रूप ऋक् का त्रिगुणित भाव ही तो परिधिरूप साम है। 'त्रिचं साम'–'ऋचा समं मेने तस्मात् साम' सिद्धान्त इसी रहस्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

हृदयरूप उक्थपर्व, एवं परिधिरूप पृष्ठपर्व, दोनों हीं एक प्रकार से वयोनाध (छन्द) मात्र हैं। 'अयं घटः, तमहं जानामि' इस रूप से घट-पटादि पदार्थों की जो प्रतीति हुआ करती है, उसे ही 'भाति' कहा जाता है। हृदय शब्द जैसे परिधिभाव की नित्य अपेक्षा रखता हैं, एवमेव हृदय और परिधि दोनों शब्द किसी अन्य सत्तासिद्ध पदार्थ की नित्य अपेक्षा रखते हैं। किसी सत्तासिद्ध पदार्थ में ही हृदय और परिधि प्रतिष्ठित रहेंगे। वस्तु का हृदय होता हैं वस्तु की परिधि होती है। किंवा वस्तु में हृदय होता है, वस्तु में परिधि होती है। स्वयं हृदय और परिधि वस्तु नहीं है। ये दोनों भाव तो वस्तुस्वरूप के सम्पादक, पूरक तथा रक्षक हैं। हमारी भांति [प्रतीति–प्रत्यय–ज्ञान–उपलब्धि] का विषय न तो हृदय बनता, न परिधि। अपितु हृदय–परिधि से युक्त एक सत्तासिद्ध रसात्मक तीसरे ही पदार्थ की भाति होती है। जिस की हमें भाति होती है, वह सत्तासिद्ध पदार्थ है, वही वास्तव में वस्तुशब्दवाच्य है।

जिसका हृदयरूप उक्थ है, जिसका परिधिरूप पृष्ठ है, उक्थ–पृष्ठ के मध्य में प्रतिष्ठित वही सत्तासिद्ध, भातिविषयक पदार्थतत्त्व "ब्रह्म" कहलाता है। हृदय-परिधिभावों से सीमित बनता हुआ रसभाव ही अपने उपबृंहण धर्म्म से, तथा भरणवृत्ति से 'ब्रह्म' कहलाया है। मध्यस्थित सत्तारसात्मक यह तीसरा अग्निपर्व चूंकि उपक्रम उपसंहार–स्थानीय उक्थ–पृष्ठों से

नित्य युक्त रहता है, अतएव इसे हम अवश्य ही 'यजु' कह सकते हैं । ऋक्–साम–यजु ही क्रमशः अग्नितत्व के उक्थ–पृष्ठ–ब्रह्म नामक तीन पर्व हैं ।

उक्त तीनों पर्व हीं अग्निमूर्त्ति वस्तु के पूरक, तथा रक्षक बनते हुए पर्व नाम से प्रसिद्ध होरहे हैं । विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिस में सोमगर्भित अग्नि की प्रधानता न हो ! ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिस में अग्निस्वरूपरक्षक उक्त तीनों पर्व न हों । प्रत्येक में तीनों पर्व अविनाभावसम्बन्ध से बिना किसी व्यभिचार के परस्पर में उपकार्य–उपकारक बनते हुए, अन्योन्याश्रित रहते हुए नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं । हृदय–परिधि–हृदयपरिधि से युक्त वस्तुतत्व, तीनों भाव आपको पदार्थमात्र में उपलब्ध होंगे । इन्हीं तीनों पर्वों की समष्टि को 'पर्ववेद' कहा जायगा । जिस तत्व के ये तीन पर्व होंगे, वही 'त्रयीवेद' माना जायगा और इस पर्वदृष्टि से आप सम्पूर्ण विश्व में वेदत्रयी का साम्राज्य देखेंगे ।

पर्ववेदसंस्था परिलेखः

प्रथमं पर्व	द्वितीयं पर्व	तृतीयं पर्व
हृदय	सत्तारस	परिधि
उपक्रम	प्रक्रान्त	उपसंहार
प्रस्ताव	उद्गीथ	निधन
आरम्भ	मध्यस्थ	अवसान
वयोनाध	वय	वयोनाध
छन्द	छन्दित	छन्द
विष्कम्भ	मूर्त्ति	परिणाह
उक्थ	ब्रह्म	पृष्ठ
ऋग्वेदः	यजुर्वेदः	सामवेदः

इति–पर्ववेदनिरुक्तिः

१२—भावनावेदनिरुक्ति

सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान—कर्म नाम के दो तत्वों का ही साम्राज्य है, जैसा कि पूर्व-प्रकरणों में यत्र तत्र स्पष्ट किया जाचुका है। कर्म्मगर्भित ज्ञानतत्व 'विश्वात्मा' है, एवं ज्ञानगर्भित कर्म-तत्व 'विश्व' है। दूसरे शब्दों में विश्वात्मा ज्ञानप्रधान है, विश्व कर्म्मप्रधान है। कर्म्मप्रधानविश्व ज्ञानप्रधान विश्वात्मा की नियति से नित्य सञ्चालित है। उसी की अप्रतिहत प्रेरणा से विश्व के समष्टि—व्यष्टिकर्म्मों का सञ्चालन होरहा है। उसी प्रेरणा के भय से सूर्य्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि मृत्यु, वरुण आदि विश्व-पर्वों को कर्म्मों के उपक्रम—उपसंहार का अनुगामी बनना पड़ रहा है। उसी की प्रेरणा के भय से तत्तल्लोकों में रहने वाले अस्मदादि प्राणी तत्तत् कर्म्मविशेषों में आरुढ़ रहते हैं। विश्व, एवं विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित कोई ऐसा पदार्थ बाकी नहीं बचा जिसने उस महाकालपुरुष के अन्वर्थ कालदण्ड के शासन का उल्लंघन किया हो। जिधर देखिए, उधर वही कर्म्मधारा-प्रवाह। जहां जाइए, वहीं कर्म्मभावना के प्रत्यक्षदर्शन। और जिस वस्तु का अन्वेषण कीजिए, उसी में कर्म्मभावनामूलक वेदतत्व की उपलब्धि।

हम पद पद पर 'भावना' शब्द का अभिनय किया करते हैं। कभी हमारे ज्ञानीय जगत् में सूर्य्य की भावना होती है, कभी चन्द्रमा की कभी पृथिवी की, कभी अन्न की, कभी पशु—पक्षियों की, कभी सेवाभाव (नौकरी) की, कभी अध्ययनाध्यापन की, कभी शयन की, कभी जागृति की, कभी सुख की, कभी दुःख की, कभी मूर्खता की, कभी विद्वत्ता की, कभी चलने की तो कभी बैठने की। इस प्रकार हमारा सारा कर्म्मकलाप, सम्पूर्ण ज्ञान किसी न किसी भावना से नित्य आक्रान्त रहता है। प्रश्न होता है कि यावज्जीवन एक महा अभ्र, महा यक्ष की भांति पीछे पड़ी रहने वाली इस कर्म्मभावना, एवं ज्ञानभावना का तात्विक स्वरूप क्या है ?

यदि कोशकारों से उक्त प्रश्न का उत्तर पूंछा जाता है, तो वे उत्तर में सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, आत्मजन्म, क्रिया, विभूति, बन्धु इत्यादि विविध भावों को हमारे सामने रखदेते हैं। व्याकरणशास्त्र से यदि पूंछा जाता है, तो वह भी '**भावो भावना क्रिया०**' यह कहता हुआ

कोश के साथ ही एकवाक्यता कर लेता है। उत्तर ठीक नहीं है, यह बात नहीं है। अवश्य ही सत्ता-स्वभावादि भाव, किंवा भावनारूप हैं एवं अवश्य ही क्रियाविशेष को भावना कहा जा-सकता है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि, भावना से वह कौनसा अर्थ गृहीत है, जो कि वेदत्रयी का साधक बनता हुआ 'भावनावेद' की प्रतिष्ठा बना हुआ है। इस वेददृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले भावनापदार्थ के स्पष्टीकरण के लिए अवश्य ही किसी वैदिकसिद्धान्त का ही अनुगमन करना पड़ेगा, एवं वही अनुगमनभाव कहलाएगा 'क्रतु-दक्ष'।

सत्ता हो, स्वभाव हो, अभिप्राय हो, चेष्टा हो, आत्मजन्म हो, क्रिया हो, किंवा विभूति हो, अथवा कर्म्मप्रधान विश्व का कोई भी किसी भी जाति का पर्व हो, सर्वत्र सबकी भावना में हमें क्रतु-दक्ष, ये दो ही पर्व मिलेंगे। 'हम अमुक पदार्थ की सत्ता की, अमुक व्यक्ति के स्वभाव की, अभिप्राय की चेष्टा की, आत्मजन्म को, क्रिया की, विभूति की भावना कर रहे हैं" इन सब वाक्यों में "भावना कर रहे हैं" यह वाक्य क्रतु-दक्षभावों का ही सम्मिश्रण है। प्रत्येक भावना, चाहे वह किसी पदार्थ की हो, किसी विचार की हो, किसी कर्म्म की हो, क्रतु-दक्ष को गर्भ में रख कर ही प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में क्रतु-दक्षभावों के समन्वित-रूप का ही नाम 'भावना" है। यदि किसी में केवल क्रतु है, तो वह भी भावना नहीं। केवल दक्ष है, तब भी भावना नहीं। दोनों एकत्र समन्वित होकर ही भावना के स्वरूपसम्पादक बनते हैं। एवं साथ ही में यह भी निश्चित है कि, दोनों के समन्वय से जिस 'भावना' की स्वरूपनिष्पत्ति होती है, अवश्य ही उसमें ऋक्-साम-यजुर्म्मयी वेदत्रयी का विकास होजाता है। और इसी लिए क्रतु-दक्षमयीभावना को हम "भाववेद"-किंवा 'भावनावेद" कहने लगते हैं। हम जिन भावों की भावना करते हैं, सब में क्रतु-दक्षद्वन्द्व प्रतिष्ठित है। फलतः भावनादृष्टि से भी भावनाभावित यच्च-यावत् वस्तुभावों का वेदत्व सिद्ध होजाता है। भावना से सम्बन्ध रखने वाले क्रतु-दक्षभावों का क्या स्वरूप? इसी प्रश्न का रहस्यात्मक समाधान करती हुई निम्नलिखित वाजिश्रुति हमारे सामने आती है—

"क्रतू-दक्षौ ह वाऽस्य मित्रावरुणौ । एतन्नु-अध्यात्मम् । स यदेव मनसा कामयते-इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय, इति-स एव क्रतुः । अथ यदस्मै तत् समृध्यते, स दक्षः । मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः । ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः । अभिगन्तैवब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः । ते हैतेऽग्रे नानेवासतुः-ब्रह्म च क्षत्रं च । ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात् स्थातुम् । न क्षत्रं वरुण ऋते ब्रह्मणो मित्रात् । यद्ध किञ्च वरुणः कर्म्म चक्रे-अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत् समानृधे । स क्षत्रं वरुणो ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे-उप मा वर्त्तस्व संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म्म करवै ! इति । तथेति । तौ समसृजेताम् । तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् ।

सोऽएव पुरोधा । तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत । सं ह्येतौ सृजेते, सुकृतं च दुष्कृतं च । नोऽएव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरोदधीत । सं ह्येवैतो सृजेते, सुकृतं च दुष्कृतं च । स यत्ततो वरुणः कर्म्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, संह्येवास्मै तदानृधे ।

तत्तदवक्लृप्तमेव, यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात् । यद्यु राजानं लभेत, स मृद्धं तत् । एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं, यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति । यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समृध्यते । तस्मादु क्षत्रियेण कर्म्म करिष्यमाणेन उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः । सं हैवास्मै तद् ब्रह्म प्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते" । (शत० ब्रा० ४ कां० । १ अ० । ४ ब्रा० १-२-३-४-५-६ कण्डिका) ।

"क्रतु-दक्ष इस (यज्ञपुरुषलक्षण दैवात्मा) के मित्र और वरुण हैं । (वक्ष्यमाण) अध्यात्म से सम्बन्ध रखता) है । सो जो कि (मनुष्य) मन से कामना करता है-"(मैं) यह करूं" यह (कामना ही) क्रतु है । इस (काममय) पुरुष के लिए जो कार्य्य (कामनानुसार सम्पन्न हो जाता है, वह दक्ष है । मित्र ही क्रतु (मानस संकल्प) है, वरुण (संकल्पसिद्धि) दक्ष है । ब्रह्म

(कामनामयी ज्ञानशक्ति) ही मित्र है, क्षत्र (सिद्धिमयी, किंवा कर्म्ममयी क्रियाशक्ति) ही वरुण है। अभिगन्ता (पथप्रदर्शक पहिले आगे आगे चलने वाला) ही ब्राह्मण है, कर्त्ता (निर्दिष्ट पथ पर चलने वाला) क्षत्रिय है ये दोनों ब्रह्म और क्षत्र पहिले पृथक् पृथक् से ही थे। उस (पार्थक्य) दशा में मित्र ब्राह्मण (तो बिना क्षत्रिय वरुण के (स्वस्वरूप से) रहने में समर्थ होगया। परन्तु क्षत्र वरुण बिना मित्र ब्रह्म के स्वस्वरूपरक्षा में समर्थ न हो सका। मित्र ब्रह्म की आज्ञा के बिना क्षत्र वरुण ने जो भी कर्म्म किया, वह कोई भी कर्म्म इस वरुण के लिए समृद्धि का कारण न बन सका। (यह देखकर) वरुण ने मित्र ब्राह्मण से निवेदन किया कि आप मेरी ओर लौट आइए, अपन दोनों मिल जायं, आप को मैं आगे रक्खूं, आप जैसा आदेश दें, उसी के अनुसार मैं कर्म्म करूं। ब्रह्म मित्र ने 'ऐसा ही हो' आश्वासन दिया। दोनों मिल गए। इन दोनों के मिलने से (आध्यात्मिक संस्था में ब्रह्म–क्षत्ररूप) 'मैत्रावरुण' नामक ग्रह उत्पन्न हुआ।

मित्र ब्राह्मण (क्षत्रिय के स्वरूप में घुल मिल जाने वाला) ही पुरोहित है, अर्थात् जो ब्राह्मण जिस यजमान का पुरोहित होता है, उसके गुण–दोष ब्राह्मण में संश्लिष्ट होजाते हैं, इसलिए ब्राह्मण को चाहिए कि वह बिना गुण दोष की परीक्षा किए हर एक क्षत्रिय का ही पुरोहित बनने की इच्छा न करे। कारण, दोनों के सुकृत–दुष्कृत (पाप–पुण्य) परस्पर में मिल जाते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय को भी चाहिए कि, वह भी चाहे जिस ही ब्राह्मण को अपना पुरोहित न बना बैठे। कारण दोनों के सुकृत दुष्कृत मिल जाते हैं। जब वरुण क्षत्रिय ने ब्राह्मण मित्र के आदेशानुसार कर्म्म किया तो, क्षत्रिय के लिए वह कर्म्म समृद्धि का कारण बन गया।

यह बात तो बनी बनाई है कि ब्राह्मण बिना क्षत्रिय राजा के सहयोग के भी अपने स्वरूप की रक्षा करने में समर्थ होजाता है। यदि ब्राह्मण को राजा का सहयोग मिल जाता है तो उसका विकास हो जाता है। परन्तु यह बात सर्वथा अप्राकृतिक है, यदि क्षत्रिय ब्राह्मण का सहयोग न करे, और फिर उस की स्वरूप रक्षा होजाय। क्षत्रिय बिना ब्राह्मण के सहयोग के जो भी कर्म्म करेगा, अवश्य ही उसके लिए कर्म्म कभी समृद्धि का कारण न बनेगा। इसलिए यह

बहुत आवश्यक है कि, कर्म्म करने वाला क्षत्रिय अवश्य ही किसी ब्राह्मण को अपना आश्रय (पथप्रदर्शक) बनावे। ऐसा करने से दोनों (शक्तिएं) मिल जाती हैं, ब्राह्मण से निर्दिष्ट कर्म्म अवश्य सफल एवं सुसमृद्ध हो जाता है''।

सुप्रसिद्ध "ग्रहयाग" में 'उपांशु-अन्तर्य्याम-उपांशुसवन-ऐन्द्रवायव---मित्रावरुण' आदि ४० ग्रह होते हैं, जिन का कि विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथ ब्राह्मण के ग्रहकाण्ड में (चतुर्थकाण्ड) में हुआ है। उन्हीं ग्रहों में आध्यात्मिक क्रतु-दक्षभावों से सम्बन्ध रखने वाला एक मित्रावरुणग्रह है। उक्त श्रुतिने इसी के आध्यात्मिक रहस्य का विश्लेषण किया है, जो कि शतपथविज्ञानभाष्य के उक्त काण्ड में हीं द्रष्टव्य है।

प्रकृत में श्रुति के उद्धरण से हमें केवल यही कहना है कि, प्रत्येक कर्म्म की सिद्धि में प्रेरणा-कर्म्म-कर्म्मसिद्धि ये तीन पर्व होते हैं। उदाहरण के लिए उस यज्ञकर्म्म को ही लीजिए, जिस के सम्बन्ध में उक्त श्रुति उद्धृत हुई है। यज्ञ करने वाला यजमान ही प्रधानरूप से यज्ञकर्म्म का आश्रय है। यज्ञकर्म्म से दैवात्मारूप जो अतिशय उत्पन्न होता है, उस का अन्यतम फलभोक्ता एकमात्र यजमान ही है। परन्तु जबतक कर्म्मकर्त्ता यजमान अपने इस यज्ञ कर्म्म में होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि ब्राह्मण ऋत्विजों का वरण नहीं कर लेता, दूसरे शब्दों में जबतक वह अपने कर्म्म में इन ब्राह्मणों का सहयोग प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक कभी यह कर्म्मसिद्धि, एवं तज्जनित कर्म्मातिशय का अधिकारी नहीं बन सकता। इसी विप्रतिपत्ति को हटाने के लिए इसे विवश होकर ब्राह्मणों को पुरोहित बनाना पड़ता है। वे जो जो आदेश देते हैं, यजमान को ठीक उसी के अनुसार यज्ञेतिकर्त्तव्यता का अनुगमन करना पड़ता है।

ऋत्विक् ब्राह्मण अपनी शास्त्रीय दृष्टि के बल पर कर्म्मों का परिणाम समझे रहते हैं। वे जानते हैं कि, कौन कर्म्म, कब, कैसे करने से क्या अतिशय उत्पन्न करता है। कर्म्म-परिणाम-दर्शी यह ब्राह्मण उसी परिणाम को अपने लक्ष्य में रखता हुआ यथावसर कर्म्मकर्त्ता यज-मान को-'इदं कुरु, एवं कुरु' (यह करो, ऐसे करो) इस प्रकार आदेश देता रहता है।

आदिष्ट यजमान कर्म्म करता रहता है। कालान्तर में प्रदर्शक एवं आदिष्ट ब्राह्मण एवं यजमान के सहयोग से कर्म्म का स्वरूप सिद्ध होजाता है। इस प्रकार यज्ञकर्म्म में ब्राह्मण, यजमान का कर्म्म, कर्मसिद्धि तीन पर्व होजाते हैं। ब्राह्मण चूंकि कर्म्मोत्थान का आरम्भस्थान है, अतएव इसे 'कर्म्मोपक्रम' कहा जा सकता है। कर्म्मसिद्धि कर्म्म का अवसानस्थान है, अतः इसे 'कर्म्मोपसंहार' माना जासकता है। एवं दोनों के मध्य में सञ्चालित स्वयं यज्ञकर्म्म 'कर्म्ममध्य' कहा जासकता है।

यज्ञकर्म्म उदाहरणमात्र है। संसार के ओर ओर जितनें भी कर्म्म हैं, सब में यही अवस्था समझनी चाहिए। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि, प्रत्येक कर्म्मसंस्था में, चाहे वह ऐहलौकिक हो, अथवा पारलौकिक आवश्यकरूप से ब्रह्म-क्षत्र दोनों का समन्वयलक्षण, पारस्परिक सहयोगलक्षण योग अपेक्षित है। गृहस्थकर्म्म को ही लीजिए। गृहस्थ का सर्ववृद्ध अनुभवी पुरुष ब्रह्म माना जायगा, गृहस्थ के अन्य सब व्यक्ति उस अनुभवी पुरुष के आदेशानुसार स्वस्व कर्म्मों का अनुष्ठान करते हुए क्षत्र कहलाए हैं। अध्ययनसंस्था में गुरू ब्रह्म माना जायगा, विद्यार्थीगण क्षत्र माना जायगा। राष्ट्रीयसंस्था में विशिष्ट नेता ब्रह्म माना जायगा, नेतृत्वानुगामी राष्ट्रीयदल क्षत्र कहा जायगा। इस प्रकार सभी कर्म्मसंस्थाओं में आप उक्त श्रौतसिद्धान्त का समन्वय देखेंगे।

एक नियम और। जो ब्रह्म होगा, वह कर्म्म में शिथिल रहेगा जो क्षत्र होगा वह आदेश में शिथिल रहेगा। ब्रह्म भी करेगा अवश्य, परन्तु प्रधानता ज्ञानलक्षण आदेश की ही रहेगी। क्षत्र भी ज्ञान से काम अवश्य लेगा, परन्तु प्रधानता कर्म्माचरण की ही रहेगी। कारण इस का यही है कि, ब्रह्म में ज्ञानशक्ति का प्राधान्य है और क्षत्रिय में क्रियाशक्ति की प्रधानता है। यदि दोनों में दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास सम्भव होता तो, कभी श्रुति के उक्त सिद्धान्त का आविर्भाव न होता। हुकूमत और हुकुम से काम करना दोनों के विभिन्न दो क्षेत्र हैं। दोनों के लिए वर्गीकरण प्रत्येक दशा में वाञ्छनीय है। जब दोनों धर्म्म एक ही व्यक्ति में आजाते हैं तो वह अपनी स्वाभाविक अल्पशक्ति से दोनों का बोझा संभालने में असमर्थ होता हुआ

दोनों शक्तियों से वञ्चित हो जाता है। प्रत्यक्ष में भी ऐसा ही देखा गया है। जो व्यक्ति अहोरात्र ज्ञानचिन्ता में निमग्न है, उस से कभी कर्म्म का निर्वाह नहीं होसकता। यदि आप यह चाहें कि, अध्ययनशील ज्ञान का अनुगामी एक ब्राह्मण ज्ञानचिन्ता के साथ साथ सामाजिक, राष्ट्रीय, लौकिककर्म्मों में भी पूर्ण सहयोग देता रहे तो, आप की इस चाह का कोई मूल्य न होगा। ठीक इस के विपरीत यदि आप कर्म्मव्यस्त व्यक्ति को ज्ञान की उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित देखना चाहेंगे, तो यह भी आप की दुराशा ही होगी। गार्हस्थ्य, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि संस्थाओं को सुरक्षित रखने का, कर्म्मसंस्थाओं को सुसमृद्ध बनाने का एकमात्र यही उपाय है कि प्रत्येक संस्था में एकवर्ग आदेश देने वाला रहै एक वर्ग आदेशानुसार कर्म्म करने वाला रहै। एक कहने वाला रहै, एक सुन कर तदनुसार करने वाला रहै। एक पथप्रदर्शक हो, एक पथानुगामी हो। एक ज्ञानशक्ति प्रधान हो, एक क्रियाशक्ति प्रधान हो एक उपदेशक हो, एक उपदिष्ट हो। एक शासक हो, एक शासित हो। और फिर दोनों एक दूसरे में मिल जांय। कभी आपसे एक दूसरे को छोटा बड़ा समझने की भूल न करें। अपने अपने अधिकार का सदुपयोग करते हुए परस्पर एकरूप से बनकर ही तत्तत् कर्म्मसंस्थाओं का सञ्चालन करे। वह (ब्रह्म) उसके भावों का आदर करै, यह (क्षत्र) उसको प्रसन्न रक्खे। समृद्धि निश्चित है, मैत्रावरुण ग्रह प्रतिपादिका उक्त श्रुतिनें इसी समृद्धि बीज का स्पष्टीकरण किया है।

वैदिक परिभाषानुसार हितैषी को +'मित्र' कहा जाता है, एवं द्वेषी (शत्रु) को 'वरुण' कहा जाता है। इधर हमने कर्म्म सम्बन्धी मानससंकल्प को तो 'मित्र' कहा है, और कर्म्मसिद्धि, किंवा संकल्पसिद्धि को 'वरुण' कहा है। प्रश्न होता है कि, क्या कर्म्मसिद्धि हमारी शत्रु है? यदि कर्म्मसिद्धि शत्रु होती तो कभी भूल कर भी कर्म्म के लिए कर्म्मसंकल्प न करते। ऐसे मित्र का आह्वान कौन बुद्धिमान करेगा, जो अपने साथ हमारे लिए एक शत्रु उत्पन्न कर देता है।

+—इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन बहिरङ्गपरीक्षात्मक गीताविज्ञानभाष्यभूमिका प्रथम खण्ड में देखना चाहिए।

अवश्य ही विप्रतिपत्ति ठीक है। इस में भी कोई सन्देह नहीं कि, वरुण शब्द शत्रुभाव का ही सूचक है। अब जान लेना केवल यह है कि, कर्म्मसिद्धि को शत्रुवाचक वरुणशब्द से क्यों व्यवहृत किया। कर्म्म के लिए संकल्प करना, और संकल्पानुसार कर्म्म में जुट पड़ना यहां तक तो सभी को मैत्रीभाव मानना पड़ेगा। जो व्यक्ति कर्म्म के लिए अपने मित्र कर्म्मसंकल्प का अनुगमन नहीं करता, वह अवश्य ही दुःखी रहता है। ऐसी दशा में कर्म्मसंकल्प, और तदनुगृहीत कर्म्म दोनों को अवश्य ही 'मित्र' कहा जा सकता है। मानी हुई बात है कि, यदि कोई व्यक्ति हमारे हितैषी मित्र को मारडालता है, दूसरे शब्दों में उस का विरोध कर देता है तो वह मित्र का शत्रु हमारा भी शत्रु बन जाता है। कर्म्म की दक्षता कर्म्मसिद्धि है। जब तक दक्षरूपा कर्म्मसिद्धि प्राप्त नहीं होती, तब तक हम कर्म्मानुगत संकल्पमित्र के साथी बने रहते हैं, अथवा वह संकल्प स्वयं हमारा साथी बना रहता है। परन्तु जिस क्षण कर्म्म सिद्ध होजाता है, उसी क्षण तत साधक कर्म्म से सम्बद्ध संकल्प का अवसान होजाता है। इच्छासिद्धि अवश्य ही इच्छा का विराम कर देती है। भला सोचिए तो, जिस सिद्धिने हमारी कामना को, हमारे संकल्प को, संकल्प के साथ साथ कर्म्म को समाप्त कर दिया, एक हितैषी मित्र को समाप्त कर डाला, उस कर्म्मसिद्धि को शत्रु (वरुण) न कहें तो और क्या कहें। चूंकि कर्म्मसिद्धि कर्म्मसंकल्प-रूप मित्र का अवसान कर देती है, अतएव श्रुतिने इसे वरुण कहना ही उचित समझा है।

उत्तर कुछ अंशों में जंचा, कुछ अंशों में नहीं जंचा। चूंकि कर्म्मसिद्धिरूप वरुणशत्रु कर्म्मसंकल्परूप मित्र का अवसान कर देता है, इस लिए कर्म्मसिद्धि को शत्रु कहना तो ठीक बन जाता है। परन्तु इस उत्तर में कृतघ्नता बैठी हुई है। जिस मित्र ने (संकल्पने) हमें सिद्धि दिलवाई, सिद्धि मिलते ही उसी सिद्धि के द्वारा हम उसे मरवा डालें, उसका अवसान करादें, यह कृतघ्नता नहीं तो और क्या है। साथ ही में यह भी प्राकृतिक नियम है कि, सिद्धि हो जाने पर संकल्प रह नहीं सकता। बिना सिद्धि के ऐहलौकिक–पारलौकिक कोई व्यवस्था सुरक्षित रह नहीं सकती। अगत्या हमें मित्रद्रोही बनना ही पड़ता है। क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे सिद्धि प्राप्त करते हुए भी हम मित्र की मित्रता सुरक्षित रख सकें। है, और अवश्य

है। उसी आवश्यक उपाय का नाम है—"वरुण" सिद्धि को शत्रु समझना ही संकल्प की मैत्री सुरक्षित रखने का अन्यतम उपाय है ।

इधर संकल्प है, उधर कर्म्मसिद्धि है, मध्य में संकल्पजनित कर्म्म है। यदि इस छोर में रहने वाले संकल्प को उस छोर में रहने वाली कर्म्मसिद्धि का मित्र बना दिया जाता है, तब तो निश्चयेन वह कर्म्मसिद्धि संकल्प का नाश कर डालती है। सिद्धि स्वयं नाश नहीं करती। अपितु सिद्धिजनित भावना–वासनासंस्कार ही मानस विकास के अवरोधक बनते हैं। वे ही संस्कार सिद्धि स्मृति के उत्तेजक बनते हुए मानस संकल्प को क्षुब्ध बनाए रखते हैं। यह क्षोभ ही संकल्प की अशान्ति है। अशान्ति ही इस का दुःख है। दुःख ही एक प्रकार की महा–मृत्यु, किंवा महाविनाश है। इस से बचने का एकमात्र उपाय यही होगा कि, अपने (आत्मा के) मित्र संकल्प को सिद्धि के चङ्गुल में न फंसने दिया जाय। यदि संकल्प सिद्धिभाव का मित्र न बनेगा, अपितु वह उसे शत्रु समझता रहेगा तो दो फल होंगे। चूंकि संकल्प संकल्प रहेगा, इस लिए तो सिद्धि मिल जायगी। साथ ही में संकल्प की चूंकि सिद्धि के साथ वरुण सम्बन्धी पाशलक्षणा शत्रुता रहेगी, इसलिए सिद्धिजनित भावना–वासनासंस्कार इसे क्षोभ–अशान्ति दुःखलक्षण मृत्युमुख में न डाल सकेंगे। इसे ही कहते हैं–'लाठी टूटै न भांडा फूटै'।

एक आपत्ति से पीछा छूटा, दूसरी आपत्ति उपस्थित होगई। संकल्प सिद्धिभाव का मित्र न बने, यह बात असम्भव है। संकल्प का मूल कारण तो सिद्धि ही है। यदि मन को पहिले से यह विदित होजाय कि सिद्धि मेरी शत्रु है, सिद्धि से कोई प्रयोजन नहीं है, तो भूल कर भी सिद्ध्यनुगत कर्म्म के लिए संकल्प का उत्थान न हो। कर्म्मफल, किंवा कर्म्मसिद्धि ही तो संकल्प की मूल जननी है। फिर "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रौतसिद्धान्त भी स्वर्गफल को ही तो यज्ञकामना का जनक बतला रहे हैं। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' इस सुप्रसिद्ध आभाणक के अनुसार निष्प्रयोजन, निष्फल, सिद्धिशून्य, कर्म्मों के लिए एक मूर्ख भी कोई संकल्प नहीं करता। फिर विचारशील बुद्धिमान का तो कहना ही क्या है। संकल्प होगा, सिद्धि के लिए, सिद्धि को रखना पड़ेगा सामने, तभी संकल्प संकल्प रहेगा।

बिना सिद्धि को मित्र बनाए, सिद्धिभाव को लक्ष्य बनाए संकल्प का स्वरूप ही शेष न रहेगा। अब बतलाइए, सिद्धि के साथ शत्रुता रखने वाले सिद्धान्त का क्या मूल्य रहा। और ऐसी दशा में सिद्धि को वरुण (शत्रु) कहना कहां तक न्यायसङ्गत रहा।

बात तो ठीक सी मालुम होती है। अवश्य ही कोई और उपाय निकालना ही पड़ेगा और उस का एकमात्र आलम्बन बनेगा एकमात्र वही मध्यस्थकर्म्म। बिना मध्यस्थ के निर्णायक और हो भी कौन सकता है। संकल्प सिद्धिभाव को आरम्भ में लक्ष्य अवश्य बनाले। क्यों कि बिना लक्ष्य के तो उस का जन्म ही न होगा। परन्तु लक्ष्य स्थिर बनाने के अनन्तर ही उस ओर से सर्वथा तटस्थ बन कर वह तत्साधक कर्म्म का अनुगामी बन जाय। संकल्प को यह स्मरण रखना चाहिए कि, जिस सिद्धि को उसने अपना लक्ष्य बनाया है, उसे वह अपने बल पर प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ है। सिद्धि का जनक बनता है, एकमात्र कर्म्म। कर्म्म का जनक बनता है एकमात्र संकल्प।। कर्म्म का एकमात्र अधिकारी जैसे संकल्प ही है, वैसे फल का एकमात्र अधिकारी कर्म्म ही है। सिद्धि संकल्पफल नहीं है, अपितु कर्म्मफल है। कर्म्म सुरक्षित रखना संकल्प का काम, फल उत्पन्न करना कर्म्म का काम। दोनों के क्षेत्र सर्वथा पृथक्। जब संकल्प का फलप्राप्ति में कोई अधिकार ही नहीं तो इसका उसे मित्र बनाना मूर्खता है। 'शत्रुता बन नहीं सकती, शत्रुता रहेगी तो संकल्प का जन्म ही न होगा" इस पूर्व हेतु का भी उस समय कोई मूल्य नहीं रह जाता, जब कि आरम्भ में संकल्प अपनी प्रवृत्तिमात्र के लिए सिद्धि को लक्ष्य बना लेता है। कर्म्म में जुटने के बाद यदि संकल्प फिर भी फलचर्वणा करता ही रहा तो, उस की वह शक्ति, वह अधिकार, जो एकमात्र कर्म्मस्वरूप सम्पादन के लिए नियत है बंट जायगी। इसके दो घातक परिणाम होंगे। एक तो बल की कमी से वह कर्म्म अपूर्ण रह जायगा, जोकि अपनी पूर्णता में ही पूर्णफल का जनक बनता है। दूसरे फल की ओर झुकाव रहने से संकल्प द्वारा मन संस्कारासक्ति में फंस कर सचमुच मृत्युभाव का अनुगामी बन जायगा। फल पूरा मिला नहीं, आसक्ति होगई, बन्धन हो पड़ा, कर्म्म में शिथिलता आगई, इन्हीं सब दोषों से बचने के लिए संकल्प का सिद्धि को शत्रु सम-

कना ही सर्वश्रेष्ठ पक्ष है। और इसी पक्ष को स्थापित करने के लिए श्रुति ने सिद्धि को वरुण-रूप शत्रु माना है।

सचमुच जो व्यक्ति सिद्धि के दास बन जाते हैं, वे आगे जाकर कर्म्मशून्य बनते हुए भविष्य का विकास रोक देते हैं। ज्ञानसिद्ध, लक्ष्मीसिद्ध, भोजनसिद्ध आदि सिद्धों को, सिद्धि के अभिमानियों को अधिकांश में अकर्म्मण्य ही देखा गया है। "सिद्धि प्रलोभन में पड़ कर हम अपने शुभ संकल्पों, एवं संकल्पानुगत लोककल्याणकर कर्म्मों को व्यष्टि तुष्टि में ही समाप्त न करदें" यही आदेश सूचित करने के लिए श्रुति ने समृद्धि को शत्रु कहा है। श्रुति का अभिप्राय यही है कि, समृद्धि शत्रु नहीं है अपितु समृद्धि का अभिमान, समृद्धि में मानससंकल्प को फंसा देना शत्रुभाव+ है। हमें अपने आपको सदा इस वरुणपाश से बचे रहने का ही शुभ-संकल्प रखना चाहिए।

यह तो हुई मित्र—वरुणलक्षण क्रतु—दक्ष के सम्बन्ध में प्रासङ्गिक चर्चा। अब मूल-विषय पर आइए। भावना' वाचक जितने भी वस्तुभाव हैं, सब में क्रतु—दक्ष नामक दोनों ब्रह्म-क्षत्रभाव प्रतिष्ठित हैं। क्रतु वस्तुतत्व का पूर्वरूप है, दक्ष उत्तररूप है, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित कर्म्मधारा मध्यरूप है। आप जब भी जैसी भी जो भी जिसकी भी भावना करेंगे, उसमें अवश्य तीनों पर्व उपलब्ध होंगे। भावनामय विश्व और भावनामय विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित भावना-मय पदार्थ सदा त्रिपर्वा ही उपलब्ध होंगे। उपलब्ध होने वाली इसी त्रिपर्वा भावना को हम **"भावनावेद"** कहेंगे।

भावनामय प्रत्येक पदार्थ क्रिया, किंवा कर्म्मरूप है, यह आरम्भ में ही कहा जाचुका है। इस कर्म्म में ब्रह्मका अनुज्ञाकर्म्म, क्षत्र का धाराकर्म्म, परिणामी समृद्धिकर्म्म तीन विभाग रहेंगे। ब्रह्म की अनुज्ञा चूंकि भावना कर्म्म की प्रस्तावना है, उपक्रम है, अतएव इसे हम कर्म्म का 'उक्थ' (उत्थानबिन्दु) कहेंगे। उक्थ को चूंकि प्रस्तावस्थानीय होने से 'ऋक्' कहा जाता

+—इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्य' के 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०' इत्यादि श्लोकभाष्य में देखना चाहिए।

है, अतएव कर्म्मोक्थरूपा ब्रह्मानुज्ञा को, दूसरे शब्दों में 'क्रतु' को हम अवश्य ही भावनात्मक 'ऋग्वेद' कहने के लिए तय्यार हैं । क्षत्रकर्म्म द्वारा प्राप्त होने वाली कर्म्मसमृद्धि ही कर्म्म का निधन है, उपसंहार है, अवसानभूमि है । चूंकि अवसानभाव ही साम है, अतएव उपसंहार स्थानीय इस समृद्धि को दूसरे शब्दों में 'दक्ष' को अवश्य ही भावनात्मक 'सामवेद' कह सकते हैं । मध्यस्थ कर्म्म इस ओर से अनुज्ञा के साथ उस ओर से समृद्धि के साथ योग कर रहा है । यजुर्वेद इस ओर ऋक् से, उस ओर साम से युक्त रहता है । इसी समानधर्म्म के कारण मध्यस्थ कर्म्म को 'कर्म्मेदमनुज्ञया च युज्यते समृद्धया च युज्यते' इस निर्वचन से अवश्य ही भावनात्मक 'यजुर्वेद' कह सकते हैं । इस प्रकार भावनाजगत में प्रतिष्ठित भावनात्मक कर्म्मों में क्रतु-कर्म्म-दक्ष भेद से सर्वत्र वेदत्रयी का साक्षात्कार किया जा सकता है—

भावनावेदसंस्थापरिलेखः

१—मित्रः ब्रह्म—ज्ञानम्—उपक्रमः—→ ऋग्वेदः
२—कर्म्मः-पुरुषार्थः-प्रवृत्तिः-मध्यबिन्दुः→ यजुर्वेदः
३—दक्षः-क्षत्रम्—कर्म्म—उपसंहारः—→ सामवेदः

} —→ 'भावनावेदत्रयी'

इति—भावनावेदनिरुक्तिः

भाववेदनिरुक्ति २—

यद्यपि "भावो भावना क्रिया०" इत्यादि रूप से भाव-भावना को एक ही वस्तुतत्त्व समझा जाता है, क्रियादृष्टि से दोनों को अभिन्न समझना उचित भी है । परन्तु परमार्थतः दोनों का आंशिक भेद स्वीकार करना ही पड़ेगा । अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित क्रियारूप वही वस्तुतत्त्व "भावना" कहलाएगा, एवं बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित क्रियारूप उसी वस्तुतत्त्व को हम "भाव" कहेंगे । भावनामय पदार्थ हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट है । भावनात्मक पदार्थ वे ही मानें जायंगे

जो हमारे ज्ञान में प्रविष्ट रहेंगे। उधर भावलक्षण पदार्थ उन्हें कहा जायगा, जो हमारे ज्ञान से बाहर रहेंगे। भावनात्मक पदार्थों के निर्म्माता हम हैं, भावात्मक पदार्थों के निर्म्माता अन्य-व्यक्ति एवं ईश्वर है। यद्यपि भावना का उदय भावसंसर्ग से ही होता है, परन्तु दोनों का पार्थक्य प्रत्यक्षानुभूत है। बाह्यजगत् के भावात्मक किसी एक पदार्थ के आधार से हमारे ज्ञानीयजगत् में तद्रूप (भावरूप) पदार्थ का भावनारूप से जन्म होगया। यह भावनात्मक पदार्थ चूंकि हमारे ज्ञान से बना, अतएव यह हमारी प्रातिस्विक वस्तु बन गया। अब यदि बाह्यजगत् में प्रतिष्ठित वह भावात्मक पदार्थ नष्ट भी हो जाता है, तब भी हमारे भावनात्मक पदार्थ का कुछ नहीं बिगड़ता। जब तक हम रहेंगे, हमारा भावनात्मक पदार्थ सुरक्षित रहेगा। इस प्रकार अन्तर्जगत्-बहिर्जगत् भेद से भावना भाव दोनों सर्वथा पृथक् पृथक् ही मानें जायंगे। पूर्व प्रकरण में भावनात्मक वेद का दिग्दर्शन हुआ है, एवं प्रकृतप्रकरण संक्षेप से भाववेद का ही स्पष्टीकरण कर रहा है।

दूसरी दृष्टि से भेद का विचार कीजिए। पदार्थों की सत्ता के दो स्वरूप माने गये हैं। ज्ञानपूर्विकासत्ता एक पक्ष है, सत्तापूर्वकज्ञान दूसरा पक्ष है। जो पदार्थ हमारे ज्ञान में आगए हैं, दूसरे शब्दों में हम जिन पदार्थों को जानते हैं, उन का अस्तित्व इसी लिये है कि, हम उन्हें जानते हैं। हमारे ज्ञानाकाश में हमें जिन सत्तासिद्ध पदार्थों की प्रतीति होती है, उन की सत्ता ज्ञानपूर्विका ही मानी जायगी। हम उन्हें जानते हैं, इसी लिए वे हैं, यही कहा जायगा। इस ज्ञानपूर्विका सत्ता को, दूसरे शब्दों में ज्ञानानुगृहीत पदार्थ को ही "भावना" कहा जायगा। जो पदार्थ हमारे ज्ञान में अभी तक नहीं आए, इसी लिए जिन्हें हम अभी तक नहीं जानते, परन्तु जिन की सत्ता कहीं न कहीं अवश्य है, जो कि किसी समय हमारे ज्ञान में आकर भावनात्मक बन सकते हैं, उन पदार्थों को "सत्तापूर्वकज्ञान" इस वाक्य से सम्बोधित किया जायगा। बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित इन सत्तासिद्ध पदार्थों के संसर्ग से ही हमारा ज्ञान एतद्रूप पदार्थों की कल्पना करने में, अपने अन्तर्जगत् के स्वरूपनिर्म्माण में समर्थ होता है। सत्तासिद्ध बाह्यजगत् के पदार्थों को आश्रय बना कर ही हम उन का ज्ञान करने में समर्थ होते

हैं। यही सत्तासिद्ध पदार्थ "भाव" कहलाएंगे। भावना में ज्ञान का प्राथम्य रहेगा, भाव में सत्ता का प्राधान्य रहेगा। भावनात्मकपदार्थों के सम्बन्ध में—"हम जानते हैं, इस लिये उन पदार्थों की सत्ता है" यह कहा जायगा। एवं भावात्मकपदार्थों के सम्बन्ध में—'पदार्थ हैं' इस लिए हम उन्हें जानते हैं" यह कहा जायगा। इस प्रकार ज्ञानपूर्विका सत्ता से सम्बन्ध रखते हुए वे ही पदार्थ 'भावना' कहलाएंगे, एवम् सत्तापूर्वकज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले वे ही पदार्थ 'भाव' कहलाएंगे। और इसी दृष्टि से दोनों को भिन्न भिन्न ही वस्तुतत्त्व माना जायगा।

बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित सत्तासिद्ध, अतएव भावरूप पदार्थों में योंतो प्रतिक्षण ही नवीन नवीन परिवर्त्तन होता रहता है। और इस क्षणिक परिवर्त्तन से हम कह सकते हैं कि, प्रत्येक भाव (सत्तासिद्ध पदार्थ) क्षण क्षण में ही विकृत हो रहा है। परन्तु विद्वानों ने क्षणभावात्मक अनन्त भावविकारों का प्रधानरूप से छः भागों में हीं वर्गीकरण करना उचित समझा है। वे ही *षड्भाव विकार निरुक्तादि ग्रन्थों में क्रमशः निम्नलिखित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

१—जायते
२—अस्ति
३—विपरिणमते
४—वर्द्धते
५—अपक्षीयते
६—नश्यति

१—उत्पन्न होता है।
२—प्रतिष्ठित होता है।
३—बदलने लगता है।
४—बढने लगता है।
५—क्षीण होने लगता है।
६—नष्ट हो जाता है।

*'षड्भावविकारा भवन्ति-इति वार्ष्यायणिः-जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति-इति"-(यास्कनिरुक्त १।२।८)

अभी तक देवदत्त संसार में न था। माता-पिता के रज-वीर्य्य के सम्मिश्रण में देवदत्त का कर्म्मभोक्ता औपपातिक आत्मा कर्म्मानुसार प्रविष्ट होकर गर्भरूप में परिणत होगया। ९ मास की क्रमिक वृद्धि से स्वरूप धारण कर यथासमय 'एवयामरुत्' के प्रत्याघात से भूमिष्ठ होगया। यही इस सत्तात्मक भाव की पहिली जन्मावस्था हुई। यहीं आकर यह "जायते" इस पहिले भावविकार का पात्र बना। "जायते-इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे, नापरभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति" (यास्क०नि०१।२।९ के अनुसार इतर भावविकारों की प्रथमावस्था, उपक्रमावस्था ही "जायते" से सूचित होती है। उत्पन्न होने के अनन्तर आज उसी देवदत्त की "देवदत्त है" इस रूप से सत्ता का अभिनय होने लगता है जिस देवदत्त की कि, जायते से पहिले सत्ता का कहीं पता भी न था। यही—अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्थावधारणम्" लक्षण दूसरा 'अस्ति" भावविकार हुआ। उत्पन्न हुआ, सत्त्व का अवधारण हुआ, पनपा, लीजिए बदलने लगा। क्रमशः परिवर्त्तन का आरम्भ हुआ। यही तीसरा "विपरिणमते" भावविकार कहलाया। क्रमशः बढने लगा, अङ्ग प्रत्यङ्ग पुष्ट होने लगे, यही चौथा भावविकार "वर्द्धते" कहलाया। वृद्धि की चरम सीमा पर पहुंचते ही अब क्रमशः शारीरिक शक्तियों का क्षय होने लगा, बाल सुफेद हुए दांत टूटने लगे, हाथ पैरों में झुर्रिएं पड़ने लगीं। यही पांचवां "अपक्षीयते" भावविकार कहलाया। एक समय ऐसा आया कि, जिस देवदत्त ने एक दिन 'जायते' का बाना पहिना था, वही धराशायी बन कर "नश्यति" इस छुटे भावविकार का पात्र बन गया। उदाहरण मात्र है। उत्पन्न होने वाले जड़-चेतनात्मक जितनें भी भाव हैं, सब में इन्हीं ६ भावविकारों का समावेश हैं। इतर अन्यान्यभावविकार-"अतोऽन्येभावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह—(वार्ष्यायणिः)" (यास्क नि० १।३।१) के अनुसार इन्हीं ६ भावविकारों में यथानुरूप अन्तर्भूत हैं।

उक्त ६ भाव विकारों में 'जायते' नामक पहिला भावविकार, और 'नश्यति' नामक छठा भावविकार दोनों समानधर्म्मा है। इसी समानता को लक्ष्य में रखकर सर्वश्री यास्काचार्यने दोनों का लक्षण करते हुए दोनों के सम्बन्ध में "नापरभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति"—

"न पूर्वभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति" इन वाक्यों का उल्लेख किया है। इस ओर जन्म है, उस ओर मृत्यु है। मध्य में बाल–तारुण्य–प्रौढ–वार्धक्यादि अवस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाले अस्ति–विपरिणमते–वर्द्धते–अपक्षीयते ये चार भावविकार हैं। इस ओर प्रस्ताव है, उस ओर निधन है, मध्य में जीवन है। "जायते" उपक्रम है, नश्यति' उपसंहार है। 'जायते' ही शेष चारों भावविकारों का उक्थस्थान बनता हुआ ऋग्वेद है। 'नश्यति' ही शेष पांचों भावविकारों का अन्तिम निधन पृष्ठ बनता हुआ 'सामवेद' है। एवं मध्यस्थ–अस्ति आदि चारों भावों की समष्टि उपक्रमस्थानीय उक्थलक्षण जायतेरूप ऋग्वेद के साथ, तथा उपसंहारस्थानीय पृष्ठलक्षण, नश्यतिरूप सामवेद के साथ युक्त रहती हुई युज्यते–उपक्रमोपसंहाराभ्याम्' इस निर्वचन से 'यजुर्वेद' है इस प्रकार षड्विकारात्मक सत्त सिद्ध प्रत्येकभाव में उक्त दृष्टि से तीनों वेदों का समन्वय देखा जा सकता है। इसी वेद को "भाववेद" कहा जाता है—

भाववेदसंस्थापरिलेखः—

१–१–१–जायते—जन्मावस्था उपक्रमः—उक्थम्—"ऋग्वेदः"

१–२–अस्ति–बालावस्था
२–२–३–विपरिणमते–तरुणावस्था
३–४–वर्द्धते–प्रौढावस्था
४–५–अपक्षीयते–वृद्धावस्था
} मध्यभावाः–मध्यबिन्दुः–'यजुर्वेद'

३–१–६–नश्यति—निधनावस्था उपसंहारः—पृष्ठम्—"सामवेदः"

} →"भाववेदः"

इति–भाववेदनिरुक्तिः

—— o:*:o ——

१४—दिग्वेदनिरुक्ति २—

पदार्थतत्त्ववेत्ताओंनें विश्वपदार्थों को सत्तासिद्ध—भातिसिद्ध—उभयसिद्ध भेद से तीन जातियों में विभक्त माना है। जिन पदार्थों की सत्ता तो है, परन्तु भान नहीं होता, उन्हें सत्तासिद्धपदार्थ कहा जाता है। इन सत्तासिद्ध पदार्थों के भी आगे जाकर विशुद्धसत्तासिद्ध वर्त्तमानानुबन्धी सत्तासिद्ध से दो विभाग होजाते हैं। कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं, जिन की सत्ता तो अवश्य है, परन्तु चर्म्मचक्षु से, किंवा अन्य किसी इन्द्रिय से जिनका भान हम साधारण मनुष्यों को नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए ईश्वर, जीव, परलोक प्राण, मन, बुद्धि, चित्त महान्, अव्यक्त, देवता, शक्तिंए आदि कितने एक पदार्थ ऐसे हैं, जिन की सत्ता तो हमें स्वीकार करनी पड़ती है, परन्तु इन का घट-पटादि भौतिक पदार्थों की तरह भाति (इन्द्रियप्रत्यक्ष) नहीं होता। इन्हें, एवं प्रत्यक्ष से परे रहने वाले एतत् सजातीय अन्य सब पदार्थों को हम 'विशुद्धसत्तासिद्ध' पदार्थ कहेंगे।

कितने एक पदार्थ ऐसे हैं, जो उभयसिद्ध तो अवश्य हैं, अर्थात् जिन की सत्ता भी है और प्रयास करने पर यथावसर जिन का भान भी होसकता है, परन्तु विद्यमानकाल में उन का भान नहीं होरहा, ऐसे अदृष्ट—अश्रुत उभयसिद्ध पदार्थों को भी हम (जबतक कि, उन का प्रत्यक्ष नहीं होजाता, तब तक के लिए) सत्तासिद्ध ही कहेंगे। सदा के लिए विशुद्ध सत्तासिद्ध, भविष्य के लिए सम्भावनातः उभयसिद्ध किन्तु वर्त्तमान के लिए सत्तासिद्ध. इस प्रकार सत्तासिद्ध पदार्थों के विशुद्धसत्तासिद्ध, वर्त्तमानानुबन्धीसत्तासिद्ध भेद से दो विभाग हो जाते हैं। योरोप अमेरिका, अफ्रिका, भूगर्भ में रहने वाले विविध धातु, उपधातु शरीर के भीतर रहने वाले अस्थि—मांसादि पदार्थ प्रयास करने पर उभयसिद्ध बन सकते हैं। परन्तु बिना प्रयास के अप्रत्यक्षदशा में रहते हुए इन्हें वर्त्तमानानुबन्धी सत्तासिद्ध पदार्थ ही माना जायगा।

दूसरा विभाग 'भातिसिद्ध' पदार्थों का है। जिन पदार्थों की कहीं भी सत्ता (अस्तित्व) नहीं है, परन्तु व्यवहारमार्ग में पद पद पर जिन का भान (प्रतीति) हो रहा है, उन्हें भातिसिद्ध पदार्थ कहा जायगा। दिक्—देश—काल—संख्या—परिमाण आदि जो पदार्थ सुने जाते

हैं, जिन की आबालवृद्ध सब को प्रतीति होरही है, जिन से सम्पूर्ण लौकिक व्यवहारों का सुव्यवस्थित सञ्चालन होरहा है, वे कतिपय पदार्थ अस्तित्व मर्य्यादा से एकदम बाहर हैं । दिशाएं–समय–स्थान–संख्या-परिमाण कोई भी तो ऐसा पदार्थ नहीं है, जो कि सत्तानुगत कार्य्य कारण मर्य्यादा से युक्त हो। अस्तित्व नहीं है, भाति अवश्य है। भाति ही इन का स्वरूप है। अतएव इन्हें भातिसिद्ध पदार्थ कहा जायगा।

तीसरा विभाग 'उभयसिद्ध' पदार्थों का है । सूर्य्य–चन्द्रमा–आकाश–वायु–जल–पृथिवी–ओषधि–मनुष्य–पशु–पक्षी आदि जिन परिज्ञात पदार्थों के सम्बन्ध में, हम 'अयं सूर्य्यः अयं चन्द्रमाः, इत्यादि रूप से अभिनय कर रहे हैं, वे सब पदार्थ सत्ता भी रखते हैं, एवं इन का भान भी होरहा है, अतएव हम ऐसे पदार्थवर्ग को अवश्य ही 'उभयसिद्ध' पदार्थवर्ग मानने के लिए तैयार हैं।

पूर्वप्रकरणों में 'उपलब्धिवेद' का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, उपलब्धि भाव ही 'वेत्ति–इति वेदः' इस निर्वचन के अनुसार वेदपदार्थ है । चूंकि सत्तासिद्ध पदार्थों की सत्तारूप से भातिसिद्ध पदार्थों की भातिरूप से, एवं उभयसिद्धपदार्थों की उभयरूप से हमें उपलब्धि हो रही है, अतएव इन तीनों हीं वर्गों के साथ वेद शब्द का सम्बन्ध जोड़ा जासकता है । सम्पूर्ण विश्व इन त्रिविध पदार्थों का ही समन्वय है । तीनों उपलब्धि के विषय बनते हुए वेद हैं। अतः सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्व के त्रिविध पदार्थ अवश्य ही वेदमय माने जा सकते हैं । वेदतत्त्व की इसी सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन कराने के लिए प्रस्तुत प्रकीर्णकवेदप्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

चूंकि सर्वव्याप्तिलक्षण विश्वमूर्त्तिवेद उक्त पदार्थत्रयी के भेद से तीन संस्थाओं में विभक्त हो रहा है । अतएव इस प्रकीर्णकवेदनिरुक्तिप्रकरण में तीनों के ही उदाहरण बतलाना आवश्यक होजाता है । इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पूर्वप्रतिज्ञात सातसंस्थाओं की निरुक्ति हुई है । अब केवल यह जान लेना है कि, सातों में कौन सत्तासिद्धसंस्था का समर्थक है, कौन उभयसिद्धसंस्था का, एवं कौन भातिसिद्धसंस्था का अनुगामी है ।

अब तक पर्व-भावना-भाव इन तीन वेदसंस्थाओं का निरूपण हुआ है एवं दिक्-देश-काल-वर्ण इन चार वेदसंस्थाओं का निरूपण अवशिष्ट है ।

हृदय-परिधि-सत्तारस तीन पर्वों की समष्टि ही 'पर्ववेद' है । हृदय और परिधिरूप ऋक्सामलक्षण छन्द हैं । छन्द स्वयं भातिसिद्ध पदार्थ है । इन दोनों ऋक्-सामछन्दों से छन्दित स्वयं वस्तुतत्त्व (रसाग्नि) यजु है, और यह सत्त सिद्ध पदार्थ है । इस प्रकार पर्ववेदसंस्था में ऋक्साम तो भाति सिद्ध हैं, एवं यजु सत्तासिद्ध है । पर्ववेद में चूंकि दोनों का समन्वय है, अतएव इसे हम उभयसिद्धवेदसंस्था' क उदाहरण मानेंगे ।

भावनावेद का मानसभावना से मुख्य सम्बन्ध है । मानसभावना में क्रतु-दक्ष और दोनों से वेष्टित कर्म्मधारा, ये तीन विभाग हैं । क्रतुरूप संकल्प भी कर्म है, समृद्धिरूप दक्ष भी कर्म्म है, कर्म्मधारा का कर्म्मत्व तो सिद्ध ही है । कर्म्म किंवा क्रिया एक भातिसिद्ध पदार्थ है, और भावनात्मिका वह क्रिया तो अवश्य ही भातिरूपा मानी जायगी, जिस का केवल ज्ञानीय अन्तर्जगत से सम्बन्ध हो । इसी हेतु से हम इस दूसरी भावनावेदसंस्था को "भातिसिद्धवेदसंस्था' का उदाहरण मानेंगे ।

भाववेद का बहिर्जगत् से सम्बन्ध बतलाया गया है । बहिर्जगत् के भावात्मक पदार्थ सत्तासिद्ध मानें गए हैं । जब तक ये बहिर्जगत् की वस्तु रहते हैं, तभी तक इन्हें 'भाव' कहा जाता है । अन्तर्जगत् की वस्तु बने बाद ही इन्हें 'भावना' शब्द की उपाधि मिलती है । साथ ही में अपनी भावदशा में (हमारी ज्ञानलक्षणा भाति से बहिर्भूत रहते हुए) ये पदार्थ सत्त सिद्ध ही रहते हैं । अतः इस तीसरी भाववेदसंस्था को 'सत्तासिद्ध वेदसंस्था' का उदाहरण माना जा सकता है ।

दिक्-देश-काल तीनों विशुद्ध भातिसिद्ध पदार्थ हैं । अतः इन तीनों वेदसंस्थाओं को 'विशुद्धभातिवेदसंस्था' के उदाहरण माना जायगा । एवं सातवीं वर्णवेदसंस्था का विशुद्ध सत्ताभाव से सम्बन्ध है । वर्णलक्षण ब्रह्म-क्षत्र-विड्वीर्य्य प्राणात्मक हैं । रूप-रस

गन्धादि पञ्चतन्मात्राओं से अतीत तत्त्व ही प्राण का स्वरूपलक्षण है। इन्द्रिएं तन्मात्रधर्म्मों का ही भाव करने में समर्थ होती है। चूंकि वर्णात्मक प्राण इन्द्रियातीत है, अतः वर्णवेदसंस्था को 'विशुद्ध सत्तासिद्धसंस्था' का ही उदाहरण माना जायगा। इस वर्गीकरण को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रकीर्णक वेदसंस्थाओं के स्वरूप पर दृष्टि डालनी चाहिए।

१—पर्ववेदसंस्था——उभयसिद्धावेदसंस्था

२—भावनावेदसंस्था——भातिसिद्धावेदसंस्था

३—भाववेदसंस्था——सत्तासिद्धावेदसंस्था

४—दिग्वेदसंस्था——विशुद्धभातिसिद्धावेदसंस्था

५—देशवेदसंस्था—— ,,

६—कालवेदसंस्था—— ,,

७—वर्णवेदसंस्था——विशुद्धसत्तासिद्धावेदसंस्था

सातों में तीन का निरूपण गतार्थ है। चौथी क्रमप्राप्त विशुद्धभातिरूप दिग्वेद संस्था ही हमारे सामने आती है। दिशा और अवान्तर दिशा के सम्बन्ध से १० दिशाएं मानीं गईं हैं। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण ये चार तो दिशा हैं, एवं ईशान-आग्नेय-नैऋत-वायव्य ऊर्ध्व-अधः ये ६ अवान्तर दिशाएं मानीं गईं हैं। इन छओं अवान्तर दिशाओं का चार मुख्य दिशाओं में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। ईशान कोण का पूर्वोत्तर दिशाओं में, आग्नेय कोण का पूर्व-दक्षिण दिशाओं में, नैऋत कोण का दक्षिण-पश्चिम-दिशाओं में, वायव्यकोण का पश्चिमोत्तर दिशाओं में अन्तर्भाव है। एवम् ऊर्ध्व-अधः इन दो अवान्तर दिशाओं का पूर्व पश्चिम इन दोनों मुख्य दिशाओं में अन्तर्भाव है। उर्ध्वदिशा—अधोदिशा दोनों का क्रमशः खगोलीय खस्वस्तिक, एवं अधःस्वस्तिक के साथ संबन्ध है। खगोलीय ये दोनों स्वस्तिक ऊर्ध्व अधः क्रमशः 'मित्रावरुण' नाम से प्रसिद्ध पूर्व—पश्चिम कपालद्वय के मध्य में पड़ते हैं। पूर्वकपाल मित्र' है, पश्चिम कपाल 'वरुण' है। मित्र इन्द्र पूर्व दिशा के दिक्पाल हैं. आप्य वरुण पश्चिमदिशा के दिक्पाल माने गए हैं। ऋतु-दक्ष जहां आध्यात्मिक 'मैत्रावरुणग्रह' है,

इन्द्र-वरुण आधिदैविक मैत्रावरुण ग्रह माना गया है । चूंकि खगोलीय ऊर्ध्व-अधः नामक मध्यस्थ दोनों अवान्तर दिशाएं मित्रावरुण की सन्धि से युक्त रहती हुई पूर्व-पश्चिम दोनों दिशाओं से सम्बद्ध है, अतएव इन दोनों का हम पूर्व-पश्चिम दिशाओं में ही अन्तर्भाव मानना उचित समझते हैं । तात्पर्य इस दिगविवेचन का प्रकृत में केवल यही है कि, दश दिशाओं का प्रधानरूप से पूर्वादि प्रसिद्ध चार दिशाओं में ही पर्य्यवसान हो जाता है ।

पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण चारों के क्रमशः इन्द्र-वरुण-चन्द्रमा-यम चार देवता अधिपति हैं । इन्द्रदेवतामयी प्राची दिक् ही इतर दिशाओं की उक्थरूपा बनती है, अतएव इसे हम "ऋग्वेद" कहने के लिये तय्यार हैं । दक्षिणा दिक् यमाग्निमयी बनती हुई अग्निमय "यजुर्वेद" से सम्बन्ध रखती है । प्रतीचीदिक् आपोमयी (वरुणमयी) बनती हुई अथर्वाङ्गिरा लक्षण "अथर्ववेद" है । एवं उत्तरादिक् सोममयी बनती हुई "सामवेद" है । इसी दिग्वेद-संस्था का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते—
दक्षिणामाहुर्यजुषामपाराम् ।
अथर्व्वणामङ्गिरसां—प्रतीची—
साम्नामुदीची महती दिगुच्यते ॥ (तै० ब्रा० ३।१२।६।७) ।

दिग्वेदसंस्थापरिलेखः

१-प्राची—ऐन्द्री—→'ऋग्वेदः'	→"दिग्वेदः"
२-दक्षिणा-याम्या—→'यजुर्वेदः'	
३-उदीची-सौम्या—→'सामवेदः'	
४-प्रतीची-वारुणी—→'अथर्ववेदः'	

इति—दिग्वेद निरुक्तिः

१५—देशवेदनिरुक्ति

स्थान को ही देश कहा जाता है। दिशा ही देशभाव की अनुग्राहिका बनती है। दूसरे शब्दों में दिशा ही देश की परिचायिका बनती है। जब कि देशपरिचायिका दिशा स्वयं भातिसिद्ध पदार्थ है तो, हम अवश्य ही दिशा द्वारा परिचित देश को भी भातिसिद्धपदार्थ ही कहेंगे। अतएव देशवेदसंस्था को भी भातिसिद्धवेदसंस्था का ही उदाहरण माना जायगा। पूर्वदेश पश्चिमदेश-उत्तरदेश-दक्षिणदेश इत्यादि शब्द स्पष्ट ही देशों को दिगनुबन्धी बतलाते हुए इन की भातिसिद्धता प्रकट कर रहे हैं। यह स्मरण रखने की बात है कि, देश अपने स्वरूप से तो एक सत्तासिद्ध पदार्थ ही माना जायगा। क्योंकि देश का प्रदेशभाव से सम्बन्ध है, प्रदेश का मूर्त्तिभाव (पिण्डभाव) से सम्बन्ध है। एवं पिण्ड एक सत्तासिद्ध पदार्थ है। दिक् के सम्बन्ध से ही सत्तासिद्ध, धामच्छददेश—पदार्थों में भातिभाव का उदय होता है।

ऐसी परिस्थिति में हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि यदि देशशब्द से दिगनुबन्धी पूर्व पश्चिम—उत्तरादि देश गृहीत हैं, तब तो देशवेद भातिवेद का उदाहरण बनेगा। एवं उस दशा में पूर्वदेश ऋग्वेदमय, दक्षिणदेश यजुर्वेदमय उत्तरदेश सामवेदमय, पश्चिमदेश अथर्ववेदमय कहलाएंगे। यदि देश का दिक् से सम्बन्ध न मानकर स्वतन्त्ररूप से विचार किया जायगा तो उस दशा में यही देशवेद सत्तानुबन्धी बनता हुआ सत्तासिद्ध वेदसंस्था का ही उदाहरण कहा जायगा। चूंकि दिगनुबन्धी देशवेद पूर्व के दिग्वेदप्रकरण से गतार्थ है, अतः प्रकृत में सत्तानुबन्धी विशुद्ध देशवेद का ही विचार अपेक्षित होगा।

पूर्वादिदिशाओं से असम्बद्ध देशपदार्थ एक सत्तासिद्ध पदार्थ है। सूर्य्य—चन्द्रमा पृथिवी—मनुष्य आदि जितनें भी सत्तासिद्ध भौतिक पिण्ड हैं, देशरूप हैं। देश को ही वैदिकभाषा में 'लोक' कहा जाता है। इसे ही वैज्ञानिक लोग 'मूर्त्ति' कहते हैं। लोकभाषा इसे ही 'पिण्ड' नाम से सम्बोधित करती है। फलतः देशशब्द की इतिश्री पिण्डात्मक सत्तासिद्ध पदार्थों पर हो जाती है।

हमें जब भी जहां भी कुछ उपलब्ध होता है, उस उपलब्ध पदार्थ की 'अस्ति' रूप से प्रतीति हुआ करती है। सूर्य्य की उपलब्धि का स्वरूप 'सूर्य्योऽस्ति' यह सत्तामात्र ही है। सत्तात्मक सूर्य्यपिण्ड को (जिसे कि हम पूर्वपरिभाषानुसार देश कहेंगे) आधार बना कर ही हमें सूर्य्यपदार्थ की उपलब्धि होती है। इस प्रतीति की उपलब्धि का मूलाधार बनने वाला देशात्मक सूर्य्य ही देशवेद कहलाएगा। इस देशवेद में मूर्त्ति–मण्डल–गति भेद से तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। हमारी सूर्य्योपलब्धि का जो मूल आधार है, जिसे मूलाधार बना कर उपलब्धि होरही है, वह मूल पिण्ड उपलब्धि का उक्थ बनता हुआ पूर्वपरिभाषा के अनुसार 'ऋग्वेद' कहा जायगा।

उक्थ उस तत्त्व का नाम है, जिस से अनन्त अर्क (रश्मिएं) बाहर की ओर निकल कर ऊर्ध्व–अध:–पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण सब ओर फैली रहें। उक्थ सदा एक रहता है, अर्क असंख्य होते हैं। पूर्व में यद्यपि हमने उक्थ पिण्ड को उपलब्धि का आधार बतलाया है, परन्तु वस्तुतः उपलब्धि के आधार ये ही अर्क बनते हैं। चूंकि अर्कों का आधार स्वयं पिण्ड है, इसलिए परम्परया मूलपिण्ड की भी आधारता सिद्ध होजाती है। सूर्य्यपिण्डरूप उक्थ केन्द्र से निकल कर चारों ओर पृथिवीपिण्ड से भी परेतक अर्क व्याप्त होरहे हैं। इन अर्कों का एक स्वतन्त्र तेजोमण्डल बना हुआ है। इसी अर्करूप तेजोमण्डल को "सामवेद" कहा जायगा। तेजोमण्डलरूप बहिःपृष्ठ, एवं सूर्य्यपिण्डरूप उक्थ पृष्ठ दोनों के मध्य में दोनों से योग करता हुआ जो संचारी भाव है, गतिमत् तत्त्व है, सूर्य्यबिम्ब से निकल कर पृथिवीपृष्ठ का स्पर्श करता हुआ जो अपने गतिभाव से लोकालोकपृष्ठपर्य्यन्त अभिव्याप्त है, उसे ही 'ब्रह्म' रूप 'यजुर्वेद' कहा जायगा। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, सत्तासिद्ध प्रत्येक पिण्ड देशवेद है। प्रत्येक पिण्ड में उक्थ-पृष्ठ ब्रह्म ये तीन विभाग रहते हैं। स्वयं मूलपिण्ड उक्थ कहलाता है। मूलपिण्ड के केन्द्र से निकल कर बड़ी दूर तक व्याप्त होने वाला रश्मिमण्डल पृष्ठ कहलाता है। पिण्डकेन्द्र और मण्डल की अन्तिम परिधि दोनों के मध्य में विचरण करने वाला गतिमत्तत्त्व 'ब्रह्म' कहलाता है। चूंकि सूर्य्य में ज्योतिर्भाव के कारण तीनों का प्रत्यक्ष भलीभांति हो जाता है, इसीलिए उसे उदा-

हरण बतला दिया है। वस्तुतः यह त्रयीभाव पिण्डमात्र में समझना चाहिए। जो रूपज्ज्योतिर्म्मय (पृथिव्यादि) पिण्ड हैं, उनमें भी यही व्यवस्था है। पार्थिवतम के आवरण से ही पार्थिवरश्मि-मण्डल का सूर्य्यरश्मिमण्डलवत् प्रत्यक्ष नहीं होता। वस्तुतस्तु जिसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, उपलब्धि माना जाता है, वह तो मण्डल की ही होती है। जैसा कि पाठक आगे आने वाले वेद-रहस्य प्रकरण में देखेंगे। यहां इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, स्वज्योतिर्म्मय (सूर्य्यादि) पिण्ड हो, परज्योतिर्म्मय (चन्द्रमादि) पिण्ड हो, अथवा रूपज्ज्योतिर्म्मय (पृथिव्यादि) पिण्ड हो, सब में उक्थ–ब्रह्म–पृष्ठ तीनों संस्थाएं नियमतः रहेंगी। स्वयं मूलपिण्ड उक्थ कहलाएगा, इसे ही ऋग्वेद माना जायगा। मूलपिण्ड के केन्द्र से बद्ध होकर चारों ओर वितत तेजोमण्डल किंवा रश्मिमण्डललक्षण पृष्ठ सामवेद कहा जायगा। एवं उक्थपिण्ड और तेजोमण्डल दोनों से अनुगृहीत गतिमद् प्राणब्रह्म यजुर्वेद कहलाएगा। इस प्रकार देशात्मक प्रत्येक सत्तासिद्ध पदार्थ में तीनों वेदों का उपभोग मिलेगा। जड़-चेतनात्मक यच्चयावत् पिण्डों में प्रकृत वेदव्यवस्था को समान रूप से ही व्याप्ति उपलब्ध होगी। निम्नलिखित श्रौत वचन इसी देशवेदसंस्था का समर्थन कर रहा है—

> ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः—
> सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्—
> सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥ (तै० ब्रा० ३।१२।९।१)।

देशवेदसंस्थापरिलेखः

१—मूर्त्तिः—उक्थम्——→'ऋग्वेदः'	
२—वस्तुभावः—ब्रह्म——→'यजुर्वेदः'	——→"देशवेदः"
३—मण्डलम्—पृष्ठम्——→'सामवेदः'	

इति—देशवेदनिरुक्तिः

१९–कालत्रेदानिरुक्तिः

विश्वसृष्टिप्रवर्त्तक 'प्रतिष्ठापुरुष' (ब्रह्मा), विश्वसृष्टिपालक 'यज्ञपुरुष' (विष्णु , एवं इन दोनों पुरुषों के क्रमशः प्रवर्त्तित और पालित स्वयं विश्वप्रपञ्च विश्वसृष्टसंहारक महापुरुषलक्षण जिस 'महाकाल' (महादेव) के गर्भ में अणुवत् समा रहा है, जो कालतत्त्व अपने इतर सब प्रपञ्चों को अपना ग्रास बनाए हुए है, जो कालपुरुष स्वयं काल (संहार) मर्य्यादा से अतीत बनता हुआ 'मृत्युञ्जय' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, मृत्यु ही जिस महाकाल का विश्वसंहारक ताण्डवनृत्य है, जो तत्त्व स्वयं विश्वातीत बनता हुआ अखण्ड–अद्वय–परात्पर है, जो तत्त्व विश्वविवर्त्त को अपनी कालरूपा आद्या महाकाली के द्वारा कालचक्र में फंसाता हुआ, स्वयं कालबन्धन से पृथक् रहता हुआ कालातीत है, उस अखण्ड, कालातीत, कालपुरुष के सम्बन्ध में खण्डभाव से सम्बन्ध रखने वाली शब्दतन्मात्रा त्रयी वेदनिरुक्त का प्रदर्शन कराना तात्त्विक दृष्टि से यद्यपि सर्वथा अनुचित है, तथापि विश्वविवर्त्त के सोपाधिकभाव को ही आगे कर कालपुरुष को उपाधि से विभूषित कर, विश्वदृष्ट्या उसी अखण्ड के क्रमशः भूत-वर्त्तमान-भविष्यद् ये तीन खण्ड कर उसके इन सोपाधिकरूपों के साथ ही वेद का सम्बन्ध करने का साहस किया गया है।

स्वयं विश्वातीत, अखण्ड, महाकालपुरुष यद्यपि विशुद्ध सत्तासिद्ध तत्त्व है, परन्तु उसी अखण्ड के खण्डात्मक भूत–वर्त्तमान–भविष्यत् तीनों सोपाधिकखण्ड विशुद्ध भातिसिद्ध ही माने जायंगे। सत्ता एक है भाति तीन हैं। विश्वमर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले मानवीय व्यवहारकाण्ड में उस एक ही सत्तासिद्ध तत्त्व की तीन खण्डों में प्रतीति होरही है। तीनों ही खण्ड चूंकि भाति–भाव से सम्बन्ध रखते हैं अतएव इनका अनुगममर्य्यादा से ही सम्बन्ध रहता है। निश्चितभाव को निगममर्य्यादा कहा जाता है, एवं इसका प्रधानतया सत्तभाव से ही सम्बन्ध है। अनिश्चित, विपरिमाणी, परिवर्त्तनीय भाव को अनुगममर्य्यादा माना गया है एवं इसका भातिभाव से ही प्रधान सम्बन्ध है। खण्डात्मिका कालत्रयी चूंकि भातिमूल है. अतएव अपेक्षाभाव के अनुग्रह से पर्व पर्व में, अणु अणु में तीनों खण्डों का समन्वय देखा जाता है।

जब सृष्टि न हुई थी, तो सारा प्रपञ्च भूतात्मक कालखण्ड के गर्भ में विलीन था। आज सृष्टि विद्यमान है, और यह वर्त्तमानात्मक कालखण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित है। कोई समय ऐसा आवेगा, जिस दिन सम्पूर्ण विश्व भविष्यदात्मक कालखण्ड में विलीन हो जायगा। इस प्रकार विश्वसत्त काल को वर्त्तमान कहा जा सकता है, विश्व के पूर्वकाल को भूतकाल माना जा सकता है, एवं विश्व की उत्तरावस्था को भविष्यत् कहा जा सकता है। 'जायते' से पहिले भूतसत्ता, अस्ति-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते-चारों वर्त्तमानसत्ता, 'नश्यति' भविष्यत्सत्ता।

भूतकाल सृष्टि का मूल है। भूत ही वर्त्तमान का कारण बनता है। इसी आधार पर कितने एक दार्शनिक अभाव को भाव के प्रति कारण माना करते हैं। बात है भी सच। जो वस्तु नहीं रहती, उसी की तो उत्पत्ति होती है। उत्पत्तिदशा वर्त्तमान है, 'नहीं' दशा भूत है। अतः अवश्य ही भूत को वर्त्तमान का जनक माना जा सकता है। इस वर्त्तमान का अवसान होता है भविष्यत् पर। इसी दृष्टि से काल के भूतपर्व को प्रभवस्थान वर्त्तमानपर्व को प्रतिष्ठास्थान, एवं भविष्यत् पर्व को परायणस्थान माना जा सकता है। भूतकाल विश्वप्रपञ्च का प्रभव बनता हुआ 'उक्थ' है, यही कालात्मक 'ऋग्वेद' है। भविष्यत्काल विश्वप्रपञ्च की अवसानभूमि बनता हुआ 'पृष्ठ' है, यही कालात्मक 'सामवेद' है। वर्त्तमानकाल भूतकालात्मक ऋक्, और भविष्यत् कालात्मक साम दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ, दोनों से युक्त रहता हुआ 'ब्रह्म' है, और यही कालात्मक 'यजुर्वेद' है। इस प्रकार महाविश्वानुबन्धी महाकालखण्डों में तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है।

(क-) महाकालवेदसंस्थापरिलेखः

१—भूतकालः—सृष्टेःप्रागवस्था—उक्थम्—ऋग्वेदः	→ "महाकालवेदः"
२—वर्त्तमानकालः—सृष्ट्यवस्था—ब्रह्म—यजुर्वेदः	
३—भविष्यत् कालः—सृष्टेरुत्तरावस्था—पृष्ठम्—सामवेदः	

पूर्वोक्त अनुगममर्य्यादा की कृपा से आगे जाकर स्वयं विश्वदशा में इस महाकालखण्ड-त्रयी के अनन्त–अपरिमेय खण्ड हो जाते हैं इन्हीं खण्डों के आधार पर पुराणशास्त्र की महाप्रलय प्रलय, खण्डप्रलय, नित्यप्रलय आदि अनेक प्रलयावस्था प्रतिष्ठित हैं । विश्वसीमा से भी बाहिर तक दौड़ लगाने में सामान्य बुद्धि वालों को चूंकि कष्ट होता है, अतएव वेदमहर्षि ने विश्वमर्यादा के भीतर ही कालवेद के दर्शन कराए हैं । विश्व मर्यादा भी दुरधिगम्य है । सभी वहां भी नहीं पहुंच सकते । इसी लिए सर्वानुभूत अहःकाल के ही पूर्वाह्ण––मध्याह्न–अपराह्ण तीन विभागों के द्वारा बड़ी सुगमता से कालवेदत्रयी का स्वरूप हमारे सामने रख दिया है ।

प्रातःकाल पूर्वाह्ण का उपक्रमस्थान है, सायंकाल अपराह्ण का उपसंहारस्थान है, बीच का सारा समय मध्याह्न है । पहिला भूत है, अन्त का भविष्यत् है, मध्य का वर्त्तमान है । पूर्वाह्णोपलक्षित भूतकाल, आगे का 'उक्थ' बनता हुआ 'ऋग्वेद' है । अपराह्णोपलक्षित भविष्यत्काल अवसानलक्षण 'पृष्ठ' बनता हुआ 'सामवेद' है । एवं मध्याह्नोपलक्षित वर्त्तमानकाल प्रतिष्ठालक्षण 'ब्रह्म' बनता हुआ, दोनों से योग करता हुआ 'यजुर्वेद' है । इस प्रकार एक ही अहःकाल में तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है, और इस उपभुक्त वेद–त्रयी का भोग कर रहे हैं–अपने यज्ञ के प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन नाम तीनों पर्वों से अहःपति सूर्य्यदेवता । निम्न लिखित श्रुति इसी कालवेद का दिग्दर्शन करा रही है—

ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते—
यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः ।
सामवेदेनास्तमये महीयते—
वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य्यः ॥ (तै०ब्रा०३।१२।९।१) ।

(ख)-कालवेदसंस्थापरिलेखः

१—पूर्वाह्णबिन्दुः————भूतकालः-उक्थम्- 'ऋग्वेदः'
२—मध्यकालः————वर्त्तमानकालः-ब्रह्म - 'यजुर्वेदः' →'कालवेदः'
३—अपराह्णावसानबिन्दुः-भविष्यत्कालः-पृष्ठम् 'सामवेदः'

इति—कालवेदनिरुक्तिः

——o:*:o——

१७—वर्णवेदनिरुक्तिः

ब्राह्मण में रहने वाला ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय का क्षत्रियत्व, एवं वैश्य का वैश्यत्व जिस तत्त्व से सुरक्षित रहता है, जिस तत्त्व के सुरक्षित रहने से ब्राह्मणादि, ब्राह्मणादि कहलाने के अधिकारी बनते हैं, उसी तत्त्व को "वर्ण" कहा जाता है। प्रकृति-साम्राज्य में विचरण करने वाले अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से छन्दित प्रातःसवन के संचालक प्राणाग्नि, देवता ही "ब्रह्मतत्त्व" है, इसे ही, "ब्रह्मवीर्य्य" कहा जाता है। एवं यही आधिदैविक संस्था का "ब्राह्मण वर्ण" है, जैसा कि—"अग्ने! महाँ असि ब्राह्मण भारतेति" इत्यादि वचन से स्पष्ट है। जिस की उत्पत्ति इस ब्रह्मवर्ण से युक्त माता-पिता के रजोवीर्य्य के दाम्पत्य से सम्बन्ध रखती है, वही मनुष्यों में जात्या 'ब्राह्मण' कहलाता है।

एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित, माध्यन्दिनसवन के सञ्चालक, प्राणेन्द्र देवता ही 'क्षत्रतत्त्व' है, इसे ही "क्षत्रवीर्य" कहा जाता है, एवं यही आधिदैविक संस्था का 'क्षत्रियवर्ण' है। जिस की उत्पति एतद्युक्त दाम्पत्यभाव से होती है, मनुष्यों में वही जात्या 'क्षत्रिय' कहलाता है। द्वादशाक्षर जगती छन्द से छन्दित, सायंसवन के सञ्चालक, प्राणात्मक 'विश्वेदेव' नामक देवसमष्टि ही "विट्तत्त्व" है, इसे ही "विड्वीर्य्य" कहा जाता है, एवं यही

आधिदैविकसंस्था का "वैश्यवर्ण" है। जिस का जन्म इन विश्वेदेवों को प्रधानता देनेवाले शुक्र-शोणित से होता है, उसे ही मनुष्यों में "वैश्य" कहा जाता है। प्रकृति में तीन ही देवता सछन्दस्क बनते हुए वीर्य्यरूप हैं। दूसरे शब्दों में वर्ण तीन हीं मुख्य हैं। अतएव चौथा शूद्रवर्ण पार्थिव पूषाप्राण-सम्बन्ध से 'वर्ण' कहलाता हुआ भी स्वछन्द है, स्वतन्त्र है, यथाजात है, वेदमर्य्यदा से बहिष्कृत है। इसी छन्दोविज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत् त्रिष्टुभा राजन्यं,
जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्"

वर्णतत्त्व प्राणदेवतारूप है, अतएव यह विशुद्ध 'सत्तासिद्ध' पदार्थ है। शुक्र-शोणित-रूप भूतों में रहने वाली इस वर्णत्रयी का हम अपनी किसी इन्द्रिय से भान नहीं कर सकते। हां तत्तद्वर्णोचित तत्तद्विशेषताओं द्वारा अनुमान अवश्य ही लगाया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य-पशु-पक्षी इत्यादि उभयसिद्ध पदार्थों का हमें भान होता है, वैसे यदि कोई वर्णतत्त्व की अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रतीति करना चाहे, तो उस का यह प्रयास व्यर्थ होगा। कारण स्पष्ट है। वर्णतत्त्व प्राणात्मक है, एवं प्राणतत्त्व रूप-रस-गन्धादि पञ्चतन्मात्राओं की मर्य्यादा से बहिर्भूत है। इधर इन्द्रियां उसी सत्तासिद्ध पदार्थ का भान करने में समर्थ हैं जो सत्ताभाव तन्मात्रामूलक भूतों से वेष्टित रहते हैं। यही कारण है कि, ब्राह्मणादि वर्णों के परिचय के लिए ब्राह्मणादि मनुष्यों में ऐसा कोई बाह्य चिह्न नहीं है, जिस के आधार पर आप विशुद्ध बाह्यदृष्टि से बाह्य आकार के आधार पर ब्राह्मणादि वर्णों का विभाजन कर सकें। वर्ण-तत्त्व प्राणात्मक, अतएव विशुद्धसत्तात्मक बनता हुआ केवल बुद्धिगम्य ही माना जायगा।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, तीनों वर्ण क्रमशः ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-अर्थशक्ति, इन तीन शक्तियों के प्रवर्त्तक माने गए हैं। उधर पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, इन तीन लोकों के अग्नि-वायु-इन्द्र ये तीन अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) देवता बतलाए गए हैं। पार्थिव अग्नि अर्थशक्ति के, आन्तरिक्ष्य वायु क्रियाशक्ति के, एवं द्युलोकस्थ मघवेन्द्र ज्ञानशक्ति के प्रवर्त्तक हैं। साथ ही में अर्थशक्तिप्रधान अग्नि का ऋग्वेद से, क्रियाशक्तिप्रधान वायु का यजुर्वेद से, एवं ज्ञानशक्ति-प्रधान इन्द्र का सामवेद सम्बन्ध है फलतः यही निष्कर्ष निकलता है कि, ज्ञानशक्तियुत

ब्राह्मणवर्ण का विकास ज्ञानशक्तियुक्त इन्द्रानुगत सामवेद से हुआ है। क्रियाशक्तियुत क्षत्रियवर्ण की उत्पत्ति क्रियाशक्तियुत वाय्वनुगत यजुर्वेद से हुई है। एवं अर्थशक्तियुत वैश्यवर्ण की प्रसूति अर्थशक्तियुत अग्न्यनुगत ऋग्वेद से हुई है। तत्त्वतः ब्राह्मणवर्ण सामवेदरूप है, क्षत्रियवर्ण यजुर्वेदरूप है, एवं वैश्यवर्ण ऋग्वेदरूप है।

ज्ञान—क्रियाभावों का उक्थ 'अर्थ' ही माना गया है। अर्थ के आधार पर ही ज्ञान-कर्म्म पुष्पित, तथा पल्लवित होते है। इसी उक्थभाव के कारण उक्थरूप वैश्य को "ऋग्वेद" कहना न्यायसङ्गत होता है। ज्ञान पर सम्पूर्ण कर्म्म—कलाप का अवसान है। ज्ञानोदय होने पर अर्थ—कर्म्म सब का अवसान हो जाता है। इसी पृष्ठलक्षण अवसानभाव से ब्राह्मण को "सामवेद" कहना अन्वर्थ बनता है। क्रियारूप क्षत्रिय दोनों के मध्य में रहता हुआ, दोनों से योग रखता हुआ दोनों को प्रतिष्ठित रखने वाला, दोनों में सामञ्जस्य रखने वाला है, अतएव प्रतिष्ठारूप ब्रह्मात्मक क्षत्रिय को "यजुर्वेद" कहना उचित हो जाता है। इस प्रकार वर्णत्रयी में क्रमशः तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। इसी वर्णवेद का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णमाहुः—
यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽऽहुर्योनिम्।
सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः—
पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः ॥ (तै०ब्रा० ३।१२।९।२) ।

वर्णवेदसंस्थापरिलेखः—

१—पृथिवी—अग्निः—अर्थः—उक्थम्—विट्→"ऋग्वेदः"	→'वर्णवेदः'
२—अन्तरिक्षम्—वायुः—क्रियाः—ब्रह्म—क्षत्रम→"यजुर्वेदः"	
३—द्यौः——इन्द्रः—ज्ञानम् पृष्ठम्—ब्रह्म→"सामवेदः"	

इति—वर्णवेदनिरुक्तिः

भूमिकाप्रथमखण्डोपसंहार

'क्या उपनिषत् वेद है ? इस प्रश्न की मीमांसा चल रही है । इस सम्बन्ध में दार्शनिकदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले मतवादों का निरूपण करते हुए वैज्ञानिकदृष्टि से वेद के तात्त्विक खरूप का दिग्दर्शन कराया गया है । अब आगे के द्वितीयखण्ड में इसी प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले वेद के तात्त्विक खरूप का विस्तार से निरूपण होगा । जिन सत्रह वेदनिरुक्तियों का प्रस्तुतखण्ड में दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें सर्वत्र त्रिवृद्भाव की व्याप्ति है । इस त्रिवृद्भाव की व्याप्ति से ही ये निरुक्तियाँ अधिकांश में समभावापन्न बन रहीं हैं । अतएव इन सब वेदनिरुक्तियों का हम 'आत्मवेद' में अन्तर्भाव मान सकते हैं ।

इसी आत्मवेद का आगे जाकर 'प्राजापत्यवेद' रूप से विकास होता है । एवं अगले खण्ड का प्रथम प्रकरण इस प्राजापत्यवेद का स्पष्टीकरण करता हुआ तत्समतुलित शास्त्रवेद का ही उपबृंहण करने वाला है । तात्विकवेद की कितनीं शाखा हैं ? शास्त्रवेद की नियमित शाखाएं हीं क्यों हुईं ? इत्यादि प्रश्नों का विशद समाधान करने वाला अगला प्रकरण वेदप्रेमियों के लिए एक विशेष अनुरञ्जन की सामग्री होगी । हमें यह विश्वास है कि, यदि पाठकोंने इस भूमिका-खण्डों को देखने का कष्ट उठाया, तो उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले वैज्ञानिक-इतिवृत्त के साथ साथ वेद के पौरुषेय-अपौरुषेयवाद से सम्बन्ध रखने वाले चिरकालिक विसंवाद का भलीभांति समन्वय होजायगा । इसी समन्वय भावना को आगे रखते हुए प्रस्तुत खण्ड उपसंहृत होता है ।

इति-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकायाः
प्रथमखण्डः-समाप्तः
१

——— o:ꕥ:o ———